समर्पणम्

श्रीयुत् वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

आयुर्वेद-सुधा-पयोधि मथन व्यापार मन्थाचल ।
तत्तच्छास्त्र दुरूह संशयनिशा नाशाय भासां विधे ॥
विद्वद्वृन्द मिलिन्द वन्द्यचरण ! श्री यादव त्रीकमा-
भिख्याख्यात गुरो ! तवांघ्रियुगले ऽसौ भानु मुक्तावली ॥

—रामरक्ष पाठक

॥ प्राक्कथन ॥

संसारके समस्त विज्ञान जिस तरह भाव-स्वभावोंके विशिष्ट प्रकारके वर्गीकरण पर अथवा अन्वय व्यतिरेक पर अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं, उसी तरह आयुर्वेद भी अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। दूसरी भाषामें इसे यों कह सकते हैं कि आयुर्वेद शास्त्र भी अपने विशेष प्रकारके दार्शनिक सिद्धान्त पर अवलम्बित है। किसी शास्त्रके अध्ययन करनेके पहले उस शास्त्रके आधारभूत सिद्धान्तों तथा उन सिद्धान्तोंको पृष्ठ भूमिकाका ज्ञान परमावश्यक है। अतः इस 'पदार्थ विज्ञान' नामक पुस्तकमें आयुर्वेदके उक्त मूलभूत दार्शनिक सूत्ररूपेण निर्दिष्ट सिद्धान्तोंके गूढ़ ग्रंथियोंको उद्घाटित करने तथा उन सिद्धान्तोंके पृष्ठभूमिकाको दर्शानेका प्रयत्न किया गया है।

विधाताकी सर्वोत्कृष्ट सृष्टि मानव है और मानव इहलोकमें पुरुषार्थप्राप्तिके लिये स्वभावतः ही प्रवृत्त होता है। पुरुषार्थप्राप्तिके लिये दीर्घायुकी आवश्यकता है और दीर्घायु, आरोग्य संरक्षणसे ही लाभ हो सकता है। अग्निवेशादि शिष्योंको भगवान् पुनर्वसु आत्रेय इसी लिये सर्व प्रथम 'दीर्घजीवन' जिज्ञासाका उपदेश करते हैं, और साथ ही पुरुषार्थ प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय आरोग्य संरक्षण बतलाते हैं। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका आरोग्य ही मूल कारण है ऐसा उपदेश करते हैं।* आयुर्वेद शास्त्रका उद्देश्य तथा प्रयोजन उक्त आरोग्य संरक्षणके साथ-साथ आर्त्त जनोंको अर्त्तिसे मुक्त करना भी है।† उक्त उभयकार्य्य सम्पादनार्थ विभिन्न गुण-कर्मवाले द्रव्यों की आवश्यकता होती है। इन विविध द्रव्योंके अन्दर रहने वाले गुण-कर्म एकजातीय तथा विजातीय दोनों तरहके होते हैं, और ये गुण-कर्म द्रव्य के अन्दर किसी विशेष सम्बन्धसे ही रहा करते हैं। अतः आरोग्य संरक्षण तथा अर्त्तिनाशनके लिये दीर्घायु सिद्धान्तके जिज्ञासुओंको गुण-कर्म सम्पन्न द्रव्योंके सामान्य गुण, सामान्य कर्म विशेष गुण, विशेष कर्म तथा द्रव्यगत गुण-कर्मोंके नित्य सम्बन्ध (समवाय) आदिका विशेष-ज्ञान परमाश्यक है।

मानव सृष्टिके आदिकालमें रागद्वेषादि मानसिक विषमताओंके अभावके कारण मानव अति सुखी था। परन्तु जब मानव सृष्टिके प्रसारके साथ-साथ उक्त मानसिक विषमताओंका भी प्रसार हुआ, तब देह धारियोंके अन्दर नाना प्रकारके मानसिक तथा

---

* "अथातो दीर्घ जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥"

"धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम ॥" (चरक सू० १)

† "स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षण मार्त्तस्यरोगनुत् ।" (च० चि० १)

शारीरिक आधि व्याधियोंका भी प्रादुर्भाव हुआ। इन व्याधियोंके कारण ऋषिगणोंके व्रत होम आदि आध्यात्मिक कार्यों में बाधायें होने लगीं और तब इन बाधाओंसे बाधित होकर हिमवत पर्वमें इनसे मुक्ति पानेके लिये ये विचार विनिमय प्रारम्भ हुआ।* फलस्वरुप महर्षि भरद्वाज उक्त गोष्ठी द्वारा अग्रगण्य निर्वाचित हुए और ब्रह्मा प्रजापति-अश्विनीकुमार आदि गुरु परम्परासे उपनीत भगवान् इन्द्रके यहां आयुर्वेदज्ञान लाभार्थ भेजे गये। महर्षि भरद्वाजने भगवान इन्द्रसे गृहीत आयुर्वेदको अपने सभी सहकर्मी ऋषियोंको यथावत बतलाया। वही आयुर्वेद सारे मर्त्यलोकमें प्राणधारियोंके कल्याणार्थ गुरु-परम्परासे प्रचलित हुआ।

'आयुषोवेदः आयुर्वेदः' तथा "आयुर्विन्दति अनेन इत्यायुर्वेदः" अर्थात् अयुका ज्ञान अथवा लाभ जिस शास्त्रके अध्ययनसे हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयुके ज्ञान तथा लाभके लिये सर्व प्रथम 'आयु' क्या है यह जानना आवश्यक है।

"शरीर जीवयोर्योगः जीवनं, तनावच्छिन्न कालः आयुः।"

अर्थात्—शरीर और जीवके योगको जीवन और इसके साथ जुटे हुए कालको 'आयु' कहते हैं। और भी—

"शरीरेन्द्रिय सत्वात्मा संयोगो धारि जीवनम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायैरायुरुच्यते ॥"

(च० सू० १)

अर्थात्—शरीर, इन्द्रिय, सत्व (मन) और आत्मा, इनके संयोगको धारि जीवित, नित्यग अनुबन्ध तथा आयु कहते है। ये सब आयुके पर्याय शब्द हैं। अतः आयुके ज्ञान के लिये तथा लाभके लिये सर्व प्रथम शरीर-इन्द्रिय मन तथा आत्माका ज्ञान होना आवश्यक है। शरीर पाञ्चभौतिक है। इन्द्रियाँ भी आयुर्वेद शास्त्रमें भौतिक ही मानी गई हैं†। अतः शरीररक्षाके लिये पञ्चमहाभूतका ज्ञान आवश्यक है। केवल पञ्चमहाभूतके ज्ञानमात्रसे ही आयुका ज्ञान तथा लाभ संभव नहीं; क्योंकि मानव केवल भौतिक नहीं है। शरीरके साथ-साथ शरीरि तथा शरीर और शरीरिको कार्मुक बनाने वाले 'मन' का भी ज्ञान होना परमावश्यक है। इसीसे भगवान पुनर्बसु आत्रेयने कहा है कि—

"सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वप्रतिष्ठितम॥"

(च० सू० १)

---

* "विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्। तपोपवासाध्ययन ब्रह्मचर्य व्रतायुषाम्॥ तदाभूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः। समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे-हिमवतः शुभे॥ (च० सू० १)

† "आयुर्वेदेतु भौतिकानीन्द्रियाणि इन्द्रियार्थाश्च (सु० शा० १)

अर्थात्—यह लोक (कर्मपुरुष) सत्व (मन) आत्मा (चेतनाधातु) और शरीर (पंचमहाभौतिक) इन तीनोंके त्रिदण्ड (तिपाई) के समान संयोगसे खड़ा है। सब कुछ इसीमें प्रतिष्ठित है। तात्पर्य यह है कि सत्व आत्मा और शरीर इन तीनोंके संयोगका पूर्णज्ञान ही आयुका ज्ञान है और इन तीनोंके संयोगको समभावसे सर्वदा अक्षुण्ण बनाये रखना ही आयुका लाभ है। इस प्रकार आयु-ज्ञान तथा आयु-लाभके लिये शरीर, इन्द्रिय, मन तथा आत्माका ज्ञान एवं उनके संयोगको अक्षुण्ण रखनेका उपाय ही आयुर्वेद है।

आयुर्वेद शास्त्रका सम्यक्ज्ञान तभी संभव है, जब आयुर्वेदके छात्रोंको उनके आधारभूत सिद्धान्तों तथा उन सिद्धान्तोंकी पृष्ठभूमिका (भारतीय दर्शनों) का ज्ञान हो। यद्यपि आयुर्वेदके संहिता-ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र प्रसंगवश आयुर्वेदके मूलभूत सिद्धान्तों तथा उनकी पृष्ठभूमिकाका भी विभिन्न परिषदोंमें उद्धरण प्राप्त होता है तथापि ये सूत्र रूपमें निर्दिष्ट होनेके कारण तथा विकीर्ण होनेके कारण आयुर्वेदके छात्रोंको उनके ज्ञानमें बड़ी कठिनाई होती है। प्राचीन कालमें अध्ययनाध्यापनका ढंग आजके ढंगसे बिलकुल भिन्न था। आजकलके ग्रन्थप्रणयनका भी ढंग पहलेकी तरह नहीं। प्राचीन कालमें सब प्रकारके ज्ञानोंका मूल स्रोत एक ही ज्ञान अर्थात् परमत्वका ज्ञान माना जाता था और इसलिये विभिन्न ज्ञानोंका दिग्दर्शन करते हुए उनके समन्वयकी चेष्टा की जाती थी; यही कारण है कि आयुर्वेदके संहिताग्रन्थोंमें भी विभिन्न दर्शनों तथा सम्प्रदायोंके सिद्धान्त यथास्थल आवश्यकतानुसार उद्धृत किये हुए मिलते हैं। प्राचीन कालमें गुरु, शिष्योंको सर्वप्रथम जिज्ञासु बननेका उपदेश देता था। इस प्रकार जिज्ञासु शिष्य जिस विषयका ज्ञान करना चाहता था अपना लक्ष्य उस विषयपर केन्द्रित कर अपने मनमें उत्पन्न हुए विविध प्रश्नों तथा शंकाओंको गुरुके सामने रखता था और गुरु उसके उन प्रश्नों तथा शंकाओंका समुचित उत्तर देता एवं समाधान करता था। उक्त प्रश्नोत्तर एवं शंकासमाधानमें प्रश्नोत्तर और शंकासमाधानका क्रम प्रधान और विषयका क्रम प्रायः गौण होता था। आजकलके शिक्षणका ढंग उक्त शिक्षणशैली के बिलकुल विपरीत है। आजकल तो गुरुको ही सभी प्रश्नोत्तर तथा शंकासमाधानों को तैयारकर नियत समय पर विद्यार्थियोंके सामने स्वयमेव कहना पड़ता है। प्राचीन कालके विद्यार्थी जिज्ञासु होते थे अतः उनके मनमें सदा तरह २ के प्रश्न तथा शंकाएँ अभीष्ट ज्ञानके लिये उठती रहती थी, पर आजके विद्यार्थी तो सदा यही चाहते हैं कि उन्हें सब कुछ उनके गुरु ही बता दें। वे स्वयं इसके ऊहापोहमें पड़ना नहीं चाहते। ऐसी परिस्थितिमें संहिता ग्रन्थोंके अध्ययनाध्यापनमें स्वभावतः ही जो अड़चनें उपस्थित होती हैं वे सर्वविदित हैं। आजकलके उपाध्याय तथा विद्यार्थी दोनोंके सामने यह समस्या बहुत दिनोंसे बनी हुई है। इसी समस्याको हल करनेका प्रयत्न इस पुस्तकमें किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तकके प्रणायनका सारा श्रेय परम पूज्य-गुरुवर श्री वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यको ही है जिनकी सतत प्रेरणासे यह पुस्तक लिखी गई है। पुस्तक प्रणयनमें इस बातका विशेष ध्यान रखा गया है कि संहिता ग्रन्थोंमें जो दार्शनिक विवेचन—सृष्टि विज्ञान तथा अध्यात्मसंबन्धी-यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं उनका क्रम-पूर्वक समुचित संकलन हो और उनके रहस्योंका उद्घाटन किया जाय। साथ ही यह भी दर्शानेका प्रयत्न किया गया है कि आयुर्वेद शास्त्रके अध्ययन तथा व्यवहारमें उसकी क्या उपयोगिता है। आयुर्वेदका क्षेत्र सृष्टि विज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान तक ही सीमित नहीं, वरन जगत्के सृष्ट पदार्थोंके वर्गीकरण तथा उनके गुणधर्मका विवेचन भी आयुर्वेदका प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। अतः पदार्थ-विज्ञान जो आयुर्वेद-शास्त्रकी पृष्ठभूमिका है उसका ज्ञान आयुर्वेद जिज्ञासुओंको सर्वप्रथम होना परामवश्यक है। इसी दृष्टिकोणसे इस पुस्तकका नाम भी 'पदार्थ-विज्ञान' रखा गया है।

सम्प्रति आयुर्वेदका अध्ययन प्रधानतः चिकित्सा व्यवसायके लिये किया जाता है। चिकित्सा व्यवसायके ज्ञानके लिये चिकित्साका साधनभूत द्रव्य (जिनके द्वारा चिकित्सा करनी है) का ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। अस्तु—

यथार्थ ज्ञान तथा अनुभवके लिये उसके साधन (प्रमाण) का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तकमें सर्वप्रथम प्रमाणका वर्णन इसीसे अभीष्ट हुआ है। प्रमाणोंके द्वारा ही प्रमाका ज्ञान होता है। पदार्थज्ञान (पुस्तकका प्रतिपाद्य विषय) प्रमा है जो प्रमाणोंके द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। अतः आयुर्वेदके संहिता ग्रन्थोंमें जिस प्रकार प्रमाणोंका वर्णन उपलब्ध होता है उनका संकलन कर प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमाण मीमांसाके साथ समन्वय किया गया है। और उनके व्यवहारिकता (शास्त्रके अध्ययन तथा चिकित्सा व्यवसायमें) का प्रतिपादन किया गया है। पुस्तकका प्रथम अध्याय इसी विषयका प्रतिपादन करता है। द्वितीय अध्याय में पदार्थ विवेचन तथा पदार्थ वर्णन है। इस अध्यायमें आयुर्वेद शास्त्र द्वारा गृहीत वैशेषिक षट्पदार्थोंका निरूपण तथा उनके लक्षण आदिका आलोचनात्मक विवेचन किया गया है और उनकी व्यवहारिकताको दर्शाया गया है। इस अध्यायके चार पाद हैं, जो निम्न प्रकार विभक्त किये गये हैं:—

प्रथमपाद्—इसमें पदार्थ क्या है, उसके ज्ञानकी क्या आवश्यकता है, उनका वर्गीकरण अर्वाचीन तथा प्राचीन दार्शनिकोंने किस दृष्टिसे किया है इत्यादिका वर्णन है। पुनः द्रव्यनिरूपण तथा द्रव्यके सम्बन्धमें पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विचारोंका दिग्दर्शन कराया गया है। पश्चात् द्रव्यके भेद तथा उनका पृथक २ निरूपण और व्यवहारमें उनकी उपयोगिता सिद्ध की गई है। साथ ही परमाणुवाद तथा प्रकृति-वादका सामञ्जस्य दिखाते हुए आधुनिक परमाणुवाद और प्राचीन परमाणुवादका भेद

स्पष्ट किया गया है। अन्तमें जड़ तथा चेतन भेदसे द्रव्योंका वर्गीकरण किया गया है और कारण तथा कार्यद्रव्यका भेद बतलाया गया है।

द्वितीयपाद—इसपादमें गुणकर्म निरूपण तथा विवेचन किया गया है। गुणकर्मके सम्बन्धमें आधुनिक विचारोंका दिग्दर्शन कराते हुए उनके ज्ञानकी उपादेयताका प्रतिपादन किया गया है।

तृतीयपाद—सामान्य तथा विशेषका निरूपण तथा विवेचन इसपादमें किया गया है। द्रव्य ज्ञानके लिये उनके जाति (सामान्य) तथा व्यक्ति (विशेष) का ज्ञान परमावश्यक है। आयुर्वेद शास्त्रका प्रधान प्रयोजन स्वास्थ्यरक्षण और आर्तिनाशन है। यह कार्य द्रव्योंके सामान्य गुण कर्म तथा विशेष गुण कर्मके ज्ञानके बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। स्वास्थ्य रक्षण तथा रोगनाशन दोनों कार्योंमें देह-धातुओंको साम्यावस्थामें रखना पड़ता है। स्वास्थ्य रक्षणमें साम्यावस्थाको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये, प्राणधारियोंके शरीरमें सदा सृजन तथा विनाशका चक्र चलते रहनेके कारण, आवश्यकतानुसार सामान्य तथा विशेष गुण कर्मवाले द्रव्यों द्वारा पूर्ति करना पड़ता है। स्वास्थ्यकी परिभाषा पर, पाठक यदि एक बार दृष्टिपात करें तो उन्हें इस तथ्यका सहजमें ही पता लग जायगा—

"समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥"

अर्थात्—शरीरके मूलभूत उपादान दोष (वात, पित्त, कफ) जब सम-सम्यावस्था में हों, अग्नि (कायाग्नि) सम हो, धातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि) सम अवस्थामें हों, मलक्रिय—अर्थात् शरीरसे अनिष्ट पदार्थोंका (जो आहार-पाक तथा धातुपाककी अवस्थामें उत्सर्जित होते रहते हैं) निष्कासन, समुचित-रूपसे होता हो और उक्त सभी क्रियाओंके समुचित होते रहने (समभावसे होते रहने) के साथ २ आत्मा, इन्द्रियां और मन प्रसन्न हों तो उसे स्वस्थ कहते हैं, ऐसी परिस्थितिमें सतत विनाशका चक्र चलते रहनेवाले शरीरकी पूर्तिके लिये आहार-द्रव्योंके गुणकर्मोंका ज्ञान और उन गुणकर्मोंके सामान्य और विशेषका ज्ञान हुए बिना स्वास्थ्य रक्षणमें कथमपि कोई कृतकार्य नहीं हो सकता। इसीप्रकार रोग-नाशनमें भी उक्त सामान्य तथा विशेषका ज्ञान परमावश्यक है क्योंकि "सर्वथा सर्व-भावानां सामान्यं वृद्धिकारणं। ह्रासहेतुर्विशेषश्च" यह अकाट्य नियम है और रोग इसके अतिरिक्त कि शरीरके अन्दर किसी धातुकी वृद्धि ह्रास तथा विकृति हो और क्या है? और चिकित्सा भी तो शरीरके बढ़े हुए दोषोंको घटाना और घटे हुएको बढ़ाना तथा समकी रक्षा करना ही है—

"चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातु साम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥"

इस प्रकार किसी शरीर धातुको बढ़ाने तथा घटानेके लिये द्रव्योंके सामान्य तथा विशेष गुणकर्मोंका ज्ञान आवश्यक होता है। द्रव्यगत सामान्य गुण कर्म तथा विशेष गुण कर्मका ज्ञान सामान्य तथा विशेष ज्ञानके बिना कभी भी संभव नहीं। अतः सर्वप्रथम आयुर्वेद शास्त्रमें सामान्य तथा विशेषका वर्णन किया गया है। भगवान इन्द्र से आयुर्वेदकी शिक्षा ग्रहण कर महर्षि भरद्वाज अपने सहकर्मी ऋषियोंके साथ जब मानवके कल्याण-कामनासे हिमवत् पार्श्वमें समवेत होकर ध्यानस्थित हुए तो—

"महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनश्वरम्॥"
(च० सू० १)

ज्ञानचक्षुओंके सामने सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म तथा समवाय इन छः पदार्थोंको देखा और उनके ज्ञानसे तन्त्रोक्त विधि (शास्त्रोपदिष्ट विधि हितका ग्रहण और अहितका त्याग) को अपनाया जिससे उन्हें परम शान्ति प्राप्त हुई और अनश्वर जीवन प्राप्त हुआ।

चतुर्थपाद—इसपादमें समवायका निरूपण तथा वर्णन किया गया है। द्रव्यके अन्दर उक्त गुणकर्म किसी संबन्धसे ही रहते हैं। यह संबन्ध नित्य होता है अर्थात् आप किसी प्रकार पृथिव्यादि द्रव्योंके गुरुत्वादि गुण तथा पतनादि कर्मको पृथक नहीं कर सकते। पृथक पदार्थ होने पर भी ये गुण कर्म, द्रव्यसे पृथक नहीं पाये जाते हैं। इस प्रकार गुणकर्मोंका द्रव्योंके साथ यह अपृथग्भावरूप जो संबन्ध है वही समवाय है। समवाय ज्ञानके बिना द्रव्यके विवेचनमें कोई भी सफल नहीं हो सकता।

तृतीयाध्याय—इस अध्यायमें तत्वमीमांसाकी गई है। आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें सृष्टिवर्णनमें चतुर्विंशति तत्वोंका वर्णन मिलता है अतः उन तत्वोंका विशदीकरण उनके मूलस्रोतों (सांख्य) को उद्धृत करते हुये किया गया है।

चतुर्थाध्याय—इस अध्यायमें आत्ममीमांसा है। आत्मा और परमात्माका भेद, लिङ्गशरीरका वर्णन तथा लिङ्गशरीरके साथ पूर्वजन्म कृतकर्म किस प्रकार आमुक्ति पर्यन्त चिपटे रहते हैं, जिनकी वजह से आत्माको बार २ विविध योनियोंमें संचरण करना पड़ता है आदि विषयोंका वर्णन किया गया है। आयुर्वेद-शास्त्र कर्मविपाकको भी मानता है। आयुर्वेदके संहिता ग्रन्थोंमें अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन पाया जाता है कि देहधारियोंके पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप उन्हें आरोग्य तथा रोग प्राप्त होते हैं। अनेक ऐसे भी रोग होते हैं जो औषधों द्वारा साध्य नहीं होते। जो कर्मज होते हैं और भोगके पश्चात स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।

इस पुस्तकके प्रणयनमें जिन २ मित्रों ने सहायता दी है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना मेरा कर्तव्य है। गुरुकुल विश्वविद्यालयके दर्शनके प्रौढ़ पंडित पं० सुखदेव जी विद्यावाचस्पति तथा प्रो० नन्दलाल जी खन्ना पाश्चात्य दर्शनके उपाध्याय अपने अमूल्य सम्मति तथा परामर्श देनेके कारण हमारे विशेष धन्यवादके पात्र हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालयके प्रस्तोता पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार भी मेरे उसी प्रकार धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने पुस्तककी भाषा सुधारनेमें मेरी सहायताकी है। अन्तमें अपने परमप्रिय शिष्य सत्यपाल जी आयुर्वेदालंकार (गृह चिकित्सक श्रद्धानन्द सेवाश्रम) गुरुकुल विश्वविद्यालयको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने इस पुस्तक के पाण्डुलिपिको स्पष्ट तथा प्रेस योग्य बनानेमें पर्याप्त परिश्रम किया है।

निवेदक—

रामरक्ष पाठक

प्रकाशकका वक्तव्य

आयुर्वेदके अच्छे ग्रन्थोंका अभाव सर्वसाधारणके साथ ही विशेष ज्ञानके जिज्ञासुको भी खटक रहा था। इस अभावको दूर करनेकी इच्छासे श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन ने पुस्तकप्रकाशन कार्य प्रारम्भ किया था। उसी पुस्तकमालाका यह सातवां पुष्प आपके सामने रखते हुए हमें प्रसन्नता होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थके विद्वान् लेखक गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) आयुर्वेदिक कालेजके सफल प्रिंसिपल रह चुके हैं और इस समय अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, वेगूसरायमें प्रिंसिपल हैं।

आयुर्वेद-मार्त्तण्ड श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई की प्रेरणा से आपने यह ग्रन्थ लिखा है। इसीसे इसकी उपयोगिता समझी जा सकती है।

अन्य वैद्यनाथ-प्रकाशनोंकी तरह यह ग्रन्थ भी यदि आयुर्वेद-जगत् के लिए हितकर हो सका तो हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी। इति शम्।

पटना

ता० १०-६-४८

विनम्र

रामनारायण शर्मा, वैद्य

अध्यक्ष

श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन

(कलकत्ता, पटना, झाँसी, नागपुर)

सहायक पुस्तकोंकी सूची

आयुर्वेद—

१—चरक संहिता

चक्रपाणि टीका (चक्रपाणिदत्त)

जल्प कल्पतरु टीका (गंगाधर सेन)

उपस्कार टीका (योगेन्द्रनाथ सेन)

जेजट टीका (हरिदत्त शास्त्री द्वारा सम्पादित)

प्रदीपिका टीका (ज्योतिषचन्द्र सरस्वती कृत)

२—सुश्रुत संहिता

डल्हण टीका

चक्रपाणि टीका,

हराणचन्द्र चक्रवर्त्ती

गो० भा० घाणेकर टीका

३—अष्टांग-संग्रह (इन्दु कृत टीका)

४—अष्टाङ्गहृदय (अरुणदत्त और हेमाद्रि टीका)

५—काश्यप संहिता

६—भेल संहिता

७—आयुर्वेद दर्शन—पं० नारायणदत्त कृत

८— ,, पं० महादेव चन्द्रशेखर पाठक

९—पञ्चमहाभूत-त्रिदोष परिषद् को रिपोर्ट

१०—त्रिदोष विमर्श—पं० धर्मदत्त सिद्धान्तालकार

११—पञ्चमहाभूत—श्रीउपेन्द्रनाथदास कृत

१२—त्रिदोष सिद्धान्त—श्रीवामन शास्त्री दातार

१३—हारीत संहिता

१४—द्रव्यगुण विज्ञान—श्रीयुत् यादवजी कृत

१५—पदार्थ विनिश्चय

आयुर्वेदेतर—

१६—न्याय दर्शन—वात्स्यायन भाष्य

१७—न्याय वार्त्तिक

१८—न्याय बिन्दु

१९—न्याय कन्दली (श्रीधराचार्य)

२०—न्याय वैशेषिक—प्रशस्तपाद-भाष्य

२१—तर्कसंग्रह

२२—तर्कभाषा

२३—सिद्धान्त मुक्तावली—श्रीविश्वनाथ कृत

,, रामरुद्री दिनकर टीका

२४—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली—श्रीनृसिंहदेव कृत

२५—सांख्य दर्शन

२६—सांख्यतत्त्व कौमुदी—ईश्वरकृष्ण

,, ,, (गौड़पाद वाचस्पति मिश्र, बालराम उदासी)

२७—सर्वदर्शन संग्रह—अभयंकर

२८—प्रमाणसमुच्चय वृत्ति—दिङ्नाग

२९—वेदान्त परिभाषा

३०—तत्त्वचिन्तामणि

३१—श्लोकवार्त्तिक

३२—योगदर्शन—पतञ्जलि

३३—योग-वाशिष्ठ

३४—ब्रह्मसूत्र (शंकरभाष्य)

३५—गीता-रहस्य (तिलक)

३६—अद्वैतसिद्धि

३७—पदार्थखण्डन—रघुनाथ

३८—पदार्थ तत्त्वनिर्माण

३९—उपनिषद् १०

४०—प्रमाणवार्त्तिक

४१—सांख्यार्थभाष्य—आर्यमुनि

४२—वैशेषिक दर्शन ,,

४३—सांख्यसंग्रह—क्षेमेन्द्र

४४—मनुस्मृति

४५—याज्ञवल्क्यस्मृति

४६—पराशरस्मृति

४७—भारतीय दर्शनका इतिहास (बलदेव उपाध्याय)

" देवराज शर्म्मा

४८—महाभाष्य

४९—दर्शन-दिग्दर्शन—राहुलसांकृत्यायन

५०—पाश्चात्य दर्शनका इतिहास—पं० रामावतार और गुलाबराय कृत

५१—विष्णुपुराण

५२—मनोविज्ञान—चन्द्रमौलि शुक्ल कृत

" लालजी शर्मा

५३—History of Indian Philosophy by Das-Gupta.

५४—System of Logic.

५५—The Theory of Knowledge.

५६—Analysis of Mind by Burnet Rousel.

५७—Space, Time, Deity by Alexander.

५८—Six ways of Knowledge by D. M. Dutta.

५९—Indian Logic by B. L. Atreya.

६०—Principles of Philosophy by H. M. Bhattacharya.

६१—Guide of Philosophy by C. E. M. Joad.

६२—Mysterious Universe by Sir James Jeans.

६३—Mind and Its Working by C. E. M. Joad.

६४—History of Indian Logic by S. C. Vidyabhushan.

६५—Thinking by H. Levy.

६६—Indian Philosophy by S. Radhakrishnan.

६७—Positive Background of Hindu Sociology by B.K. Sarkar.

६८—Principles of Philosophy by W. James.

६९—Psycho-Analysis Education by Anne Fried.

७०—Intellectual Power by Read.

७१—Appearance and Reality by T. H. Bradley.

७२—The Philosophy of Yogabashishtha by B. L. Atreya.

७३—Rational Mysticism by Kingslad.

७४—The Ether and Space by Sir John Lodge.

७५—Awaking of Faith by Suzzuke.

७६—Mahayan Buddhish by ,,

७७—Divine Imagining by Fanscet.

कोष-ग्रन्थ

७८—अमरकोष

७९—शब्दस्तोम महानिधि

८०—ब्रहत् बाचस्पत्यभिधान

८१—Encyclopœdia Britanica

विषयानुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
३	१५	कारण	करण
४	५	सूक्ष्य	सूक्ष्म
९	७	वक्ता	व्यक्ता
१७	१५	लिङ्गलिङ्गनो	लिङ्गलिङ्गिनो
१८	१८	युक्तपेक्षस्तर्कः	युक्तापेक्षस्तर्कः
२०	२५	अनुमोति	अनुमिति
२१	१४	साधवत्ता	साध्यवत्ता
२६	५	Judgement	judgment.
,,	३१	Aris to te tion	Aristotalion
२८	१७	Categorisal	Categorical
,,	फुटनोट	व्यापकारस्तर्कः	व्यापकारोपस्तर्कः
२९	६	गुणयोगद्वचनं	गुणयोगाद्यद्वचनम्
३०	४	सकलत्वे	सकलतत्त्वे
३६	१५	वैद्य को	वेध्र को
,,	२१	करने	कराने
४१	फुटनोट	तत्समवेतं	यत्समवेतं
४४	६	गौको लाओ	गौ—को—लाओ
४९	फुटनोट	accured	occured
५३	१	आयुर्वेदाध्यापन	आयुर्वेदाध्ययन
,,	१८	प्रचा	प्रजा
५४	११	भाग	भग्न
६१	८	उपेक्षित	अपेक्षित
७१	१८	पावने	पवने मतः ।

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
७५	२२	नारदीयसूत्र	नासदीयसूक्त
९१	१७	न्अयत्र	अन्यत्र
,,	२०	प्रतीत	प्रतीति
९३	६	नित्या	नित्यौ
९६	२५	परात्मा	परमात्मा
२४	फुटनोट	Priary	Priori
,,	,,	Commanly	Commonly.
२८	अन्तिम	Elicit	Illicit
२९	प्रथम	,,	,,
२७	९	उपयुक्त	उपर्युक्त
,,	,,	तथा	अर्थात्
९९	१	तस्य	तच्च
,,	३	खाद्यश्	खादयश्
,,	७	राशि-पुरुष	राशिःपुरुषः
१०१	४	कारणानामवैमलाद	करणनाम वैमल्याद
,,	५	सर्वाश्रयस्या	सर्वाश्रयस्था
१०२	४	तैर्गयोनश्च	तैर्यग्योन्यश्च
१०४	४	त्रिगुणत्वादि	त्रिगुणातीतत्वादि
१०९	२२	शुके	शुभे
११०	८	देशान्तरगतिस्वप्न	देशान्तरगतिः स्वप्ने ।
१११	२४	सम्प्रदोषः	सम्प्रमोषः
११४	१९	ज्ञानस्यभावो	ज्ञानस्याभावो
११७	२	ज्ञान से	ज्ञान के
१२०	२०	अन्तरभ्यन्तर	अन्तरनभ्यन्तरं
१२३	१०	गभस्तपः	गभस्तयः
,,	१२	आह तो	आहतो
,,	अन्तिम	मूर्द्धन्यायात्मनः	मूर्द्धन्याद्यायात्मनः

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१२५	१५	चिन्तिःस्वन्दो	चिन्निःस्प·दो
१२६	१५	रहित	सहित
,,	१९	स्वत्व	सत्व
,,	२३	Portionalisatins	Particularisation
१२७	१६	Facalties	Faculties.
,,	२८	कम्पनात्मकम्	कम्पनात्मकम्
१२८	१२	विद्यन्ते	विधत्ते
,,	,,	स्मृतिसदाहृता	स्मृतिरुदाहृताः ।
१२८	१८	सत्वम ज्जसा	सत्वमञ्जसा
१३०	२५	Chilta	Chitta
१३१	२५	सोऽमिति	सोऽहमिति
१३२	अन्तिम	निशामें	दिशामें
१३३	१७	Impreptble	Imper ceptible.
१३५	१८	Subb	Subtle
१३६	६	will	with
,,	७	,,	,,
१३६	७	Courselvies	Ourselves
१३९	१३	Innectine	Inventive
,,	१४	Psrgmeti	Pragmetic
१४५	१३	Vocubulary	Vocabulary
१४४	४	Idias	Ideas
१५५	१०	साक्षादवचं	साक्षादवचनं
१५६	५	(कर्म)	(कार्य)
१६०	६	द्विन्द्रिय	द्वीन्द्रिय
१६१	९	Astraction	Abstraction
१६२	४	व्याधान	व्यवधान
,,	१४	Intellectnuals	Intellectual
१६४	२०	इस	रस
१६५	११	द्रव्यश्रितत्वं	द्रव्याश्रितत्त्वं

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१७६	१७	स्पन्दन	स्यन्दन
,,	३०	,,	,,
१७८	१४	नागाजन	नागार्जुन
१८०	२७	द्वेष है	भेद है
१८४	१२	व्यवहार साधारण	व्यवहारासाधारण
२०३	१७	१५	२५
२११	४	तथाबह	तथा वः
,,	५	विमाकात्	विपाकात्
२१६	१९	दशयति	दर्शयति
२२१	९	अपरो	परो
२२५	५	तन्मात्राप्य	तनमात्राण्य
२२९	१२	इदमय	इदमग्र
२३४	१९	महसे	महत्से
२३६	६	संहत	सङ्घात
२३७	१२	कारणानां	करणानां
,,	,,	प्रतिनियमाद्	प्रतिनियमाद
,,	,,	कारणों	करणे
,,	२८	द्रष्टात्व	द्रष्टुत्व
,,	,,	भावाच्च	भावाश्च
२४१	१७	अनिवार्य	अणिमादि
२४३	१८	रूपादियु	रूपादिषु
२४४	१६	दृष्टि	दृष्ट
२४५	३	कारणों	करणों
,,	८	स्वान् स्वान्	स्वां स्वां
,,	,,	परस्पराकृत	परस्पराकूतः
,,	९	केचित्	केनचित्
२४७	५	प्रकाश	प्रकाश्य
२५०	७	अवस्थामें	अवस्था
२५१	७	वाक्यादि	वाक्यादि-

* श्रीधन्वन्तरये नमः *

पदार्थ-विज्ञान

—※—

प्रमाण-विज्ञान

प्रथम-अध्याय

अथातः पदार्थविज्ञाने प्रमाणविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

प्रमाणम्—"यथार्थानुभवः प्रमा, तत्साधनं च प्रमाणम्" (उदयनाचार्यः)

"प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। उपलब्धिः, साधनं, ज्ञानं, परीक्षा प्रमाणमित्यनर्थान्तरं समाख्यानि वचनसामर्थ्यात्। परीक्ष्यते यया—बुद्ध्या सा परीक्षा। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाण शब्दः"।

(गंगाधरः)

"परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा।" (चक्रपाणिः)

भावार्थ—यथार्थ अनुभवके साधनको प्रमाण कहते हैं। यथार्थ अनुभवका नाम 'प्रमा' है। जिसके द्वारा 'प्रमा' या यथार्थ अनुभवकी उत्पत्ति हो उसे प्रमाण कहते हैं। 'प्रमाण' साधन है और 'प्रमा' उसका साध्य या फल है।

वक्तव्य—जगत भौतिक है। जगतका अर्थ गतिमान्—चलते-चलते नाशको प्राप्त होनेवाला अर्थात कारणोंमें लीन होनेवाला है। जगतकी सृष्टिका कारण पञ्चमहाभूत हैं और पञ्चमहाभूतका आदि कारण 'ब्रह्म' या 'परमात्मा' है, जो सत्य, विज्ञानमय और आनन्दमय है। सत्य सदा विज्ञानात्मक होता है अर्थात विज्ञान सत्यका स्वरूप है। जो सत्य और विज्ञानात्मक होगा वह आनन्दमय होगा ही, अतः तैत्तिरीयोपनिषद्‌में विज्ञानको भी 'ब्रह्म'* का स्वरूप कहा है। जब अनेक बार हेतु-हेतुमद्‌भाव, प्रयोज्य-प्रयोजक भाव और

---

* "विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद" (तैत्तिरीय १-५)

कार्य-कारणभावके रूपमें किसी ज्ञानकी सत्यता सिद्ध हो जाती है तब उसे विज्ञानका नाम मिलता है। इस सिद्धिसे आनन्दकी प्राप्ति होती है। यह आनन्दमय-सत्य-विज्ञान, ब्रह्मस्वरूप अनादि, अनन्त और असीम है। विज्ञान अपनी अनन्त शाखाओंसे अपनी सत्यता द्वारा जगतका कल्याण किया करता है, किन्तु उसके ज्ञानके उपाय सीमाबद्ध है। (ऐहिक तथा परलौकिक वस्तुओंके यथार्थ ज्ञानके लिए 'प्रमाण' की आवश्यकता होती है, अतः इस "पदार्थ-विज्ञान" नामक पुस्तकमें सर्वप्रथम पदार्थके यथार्थ ज्ञानके साधन 'प्रमाण' का वर्णन किया गया है।

प्रमा और प्रमाण—संस्कृत साहित्यमें 'ज्ञान' * शब्द सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकारके जानकारीके लिए व्यवहृत होता है। यह ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ दोनों प्रकारका हो सकता है। परन्तु 'प्रमा' केवल यथार्थज्ञान (सत्य ज्ञान) को ही कहते हैं, यह अयथार्थज्ञान (मिथ्याज्ञान) के बिल्कुल विपरीत है। अतः 'प्रमा' उस ज्ञानका नाम है जिसमें सत्य या यथार्थत्व तथा अनधिगतत्व (Truth & Novelty) ये दो गुण अवश्य हों † । जहांतक प्रमाके प्रथम गुण 'सत्य' का सम्बन्ध है, इसमें सभी विचारोंका मत एक समान है। परन्तु सत्यके अर्थ विवेचनमें मतभेद दिखाई पड़ता है। प्रधानतः सत्यकी चार व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं। पहला विचारक 'सत्य' के व्यावहारिक अर्थकी प्रधानता देता है। वह सत्य उसी ज्ञानको मानता है जो कि अर्थ या प्रयोजनका साधक हो ‡ । पाश्चात्य विचारकों यह प्रारमेटिक-थ्यूरी (Pragmetic theory) के समान है। दूसरा विचारक प्रधानतः नैयायिकका विचार इस प्रकार है—"जो (धर्म) जहां है वहां उस (धर्म) का ज्ञान होना 'प्रमा' कहलाता है। जैसे घटमें घटत्व और पटमें पटत्वका। पाश्चात्य विचारकोंका यह कोरस्पोन्डेन्स थ्यूरी (Correspondence theory) है ×। तीसरा विचारक अनुभवके आधारपर उत्पन्न ज्ञानको 'सत्य' या 'प्रमा' कहता है। यह पाश्चात्य विचारकोंका 'थ्यूरी ऑफ कोहियरेन्स' (Theory

* ज्ञान-नं. ज्ञा+भावेल्युट्। सामान्य विशेषरूपे बुद्धिमात्रे, ज्ञानं द्विधावस्तु-मात्रद्योतकं निर्विकल्पकम्। सविकल्पन्तु संज्ञादिद्योतकत्वादनेकधा। (शब्दस्तोम)

† वेदान्त परिभाषा—अ०—१

‡ "यतः अर्थक्रिया समर्थ वस्तुप्रदर्शकं सम्यक् ज्ञानम्" और यतश्चार्थसिद्धिस्तत् सम्यग्ज्ञानम्" (न्यायबिन्दु अ. १)

× "यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा तद्वत् तत्प्रकारकानुभवो वा"। (तत्वचिन्तामणिः)

of coherence) के समान है जो (Harmony of experience) सम्वाद या सम्वादित्वको इस ज्ञानके प्रति कारण मानता है। अद्वैतवादी वेदान्ती अबाधित्व (Non-contradiction) को 'सत्य' तथा 'प्रमा' का प्रधान लक्षण मानते हैं। ※

उपरोक्त सूत्रमें यह बताया जा चुका है कि यथार्थ अनुभव या ज्ञान (Valid Experience) को प्रमा कहते हैं। अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि यथार्थ अनुभवके विषय (Object of valid experience) की संज्ञा 'प्रमेय'† होगी। वह साधन जिसके द्वारा 'प्रमाता'‡ विषय (प्रमेय) का यथार्थ ज्ञान (प्रमा) लाभ करता है उसे 'प्रमाण'+ कहते हैं। प्रमाता तथा प्रमेयकी उपस्थितिमात्रसे प्रमाका लाभ नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाताके अन्दर प्रमा लाभके लिए किसी साधकका होना आवश्यक है। अतः वह साधक जिसके अभावमें प्रमाता तथा प्रमेयके विद्यमान रहनेपर भी प्रमाका लाभ न हो उसे 'प्रमाण' कहते हैं। इसीलिए प्रमाणको प्रमाका साधकतम कारण कहा गया है। ऐसा कारण जो साधकतम (Most essential) हो उसे दार्शनिक वाङ्मयमें करण कहते हैं। अतः प्रमाणको तर्कसंग्रहमें प्रमाका कारण कहा गया है।

सुश्रुतानुमत चतुर्विध प्रमाण—

'तस्याङ्गवरमाद्यमागमप्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय।'
(सु० सू० १।१३)

डल्हण—"×××× प्रत्यक्षमिति यत्किञ्चिदेवार्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तदेव प्रत्यक्षम्। तथाहि—"मनोऽक्षगतमभ्रान्तं वस्तु प्रत्यक्षमुच्यते। इन्द्रियाणामसं ज्ञानं वस्तुतत्त्वे भ्रमः स्मृतः"॥ प्रत्यक्षाविरुद्धं यथा—सूर्यावलोकनात्, नासान्तः सूत्रवर्तिप्रवेशनाच्च क्षुतः प्रादुर्भावः। आगमो वेदः आप्तानां शास्त्रं वा, तथाहि—"सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं-चात्र परत्र च। आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः॥" आगमाविरुद्धं यथा—पुराणादिष्वपिश्रूयते, रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमश्विभ्यां

※ वेदान्त परिभाषा—अ०—१।

† "योऽर्थःप्रमीयते तत्प्रमेयम्" (वात्स्यायनः)

‡ "तत्र यस्येप्सा जिज्ञासा प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता" (वात्स्यायनः)

\+ येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्" (वात्स्यायनः)

सहितमिति। आगमस्य प्रत्यक्षफलत्वात् वरीयस्त्वम्; तेन अनुमानात् पूर्वं निर्दिष्टत्वात्। अनु-पश्चादव्यभिचारि लिङ्गलिङ्गी मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्, तेनानुमानेनाविरुद्धं यथा—प्रनष्टे शल्ये चन्दन घृतोपदिग्धाभ्यां त्वचि विशोषणाज्य विलेयनाभ्यामनुमीयतेऽत्र शल्यमिति, प्रसिद्धसाधर्म्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थस्यसाधनमुपमानम्। तेनाविरुद्धं यथा—माषवन्माषः, तिलमात्रस्तिलकालकः, विदारीकन्दवत् विदारीरोगः, शालूकवत् पनसिकेत्यादिकम्।"

चरकानुमत चतुर्विध प्रमाण—

"द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा। आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिश्चेति" ॥ (च० सू० ११)

उपस्कार टीका—"परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षं साधयितुं प्रमाणानि अवतारयति। द्विविधमिति—सर्वं यत्किञ्चित् प्रमाणगम्यम्। सत्-भावरूपं, असत्-अभावरूपम् इति द्विविधं। तस्य चतुर्विधा, परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तु स्वरूपमनया इति परीक्षा प्रमाणं। आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिश्चेति ॥

गंगाधरः—"×××× तस्य भावाभावरूपेण सिद्धस्य सर्वस्य द्रव्य-गुणकर्म समवायाख्यस्य सामान्यविशेषभूतस्य परीक्षा परीक्षणहेतुश्चतुर्धा भवति। का केति, तां विवृणोति आप्तोपदेश इत्यादि, आप्तैरुपदिश्यते यदिदमेवमिदं नैवमित्युपदेश आप्तोपदेशः। शब्दः परीक्षा प्रमाण-शब्द्यतेऽनेनेति शब्दः। प्रत्यक्षमिति—अक्षस्येन्द्रियस्य प्रति विषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा, यदा हि सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः। यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षा बुद्धयः फलमिति। अनु-मानमिति–मितेन लिंगेनानु पश्चादर्थस्यमान मनुमानमिति। युक्तिश्चेति—युज्यते यया बुद्ध्या तर्क्यते सा तर्कात्मिका बुद्धिर्युक्तिरिति। उपलब्धिः साधनं ज्ञानं परीक्षा प्रमाणमित्यनर्थान्तरं समाख्यानि बचनसामर्थ्यात्। परीक्ष्यते यया बुद्ध्या सा परीक्षा। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाण शब्दः। एषां चतुर्णां परीक्षात्वं प्रमाणत्वमेभिर्यदुपलभ्यते तदु-पलब्धिर्व्यापारः। स चाप्तोपदेशोक्तिराप्तोपदेशत्वम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

जन्यत्वं प्रत्यक्षत्वम्। लिङ्गलिङ्गी सम्बन्धजन्यत्वमनुमानम्। बहुकारणोपपत्तिकरणं युक्तित्वमिति।

चक्रपाणिः—"सम्प्रति परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्ष परलोकसाधनानि प्रमाणानि अवतारयति-द्विविधमित्यादि। सर्वमिति यत्किञ्चित्प्रमाणप्रतीयमानं तद् द्विविधम्। तद् द्वैविध्यमाह सच्चासच्च। सदिति—विधिविषयप्रमाणगम्यं भावरूपम्। असदिति—निषेधविषयप्रमाणगम्यमभावरूपम्। परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा; प्रमाणान्याप्तोपदेशादय उत्तरग्रन्थे स्फुटा भवन्ति।"

चरकानुमत त्रिविधप्रमाण—

"त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानंभवति, तद्यथा-उपदेशः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति॥" (च० वि० ४)

उपस्कार टीका—"त्रिविधमिति-उपदेशस्य प्रागभिधानं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रवृत्तिनिमित्ततया ज्यायस्त्वात्। न ह्यनुपदिष्टं किञ्चित् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां अवबुध्यते। अनुमानात् प्राक् प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्षपूर्वत्वादनुमानस्य॥"

गंगाधरः—त्रिविधमिति। रोगेति विषमधातवो रोगास्तज्जाश्चज्वरादयो देहादिकार्यद्रव्यवत्। रोगाणां ज्वरादीनां विशेषवातादिजत्वादीनां जातानां रूपाणि, तेषां विज्ञानं विशेषेण ज्ञायन्ते प्रतीयन्तेऽनेनतद्विज्ञानं प्रमाणम्। तद् द्विविधमप्राप्यार्थग्रहणलक्षणं, प्राप्यग्रहणलक्षणञ्चेति। तत्पुनस्त्रिविधं तदाह-तद्-यथेति।

चक्रपाणिः—"रोगाणां विशेषो यथा वक्ष्यमाणो ज्ञायते येन तद् रोगविशेषविज्ञानमुपदेश प्रत्यक्षानुमानरूपं प्रमाणत्रयम्। अत्र युक्तेरनुमानान्तर्गत्वादेव न पृथक्करणम्। एतच्च प्रमाणत्रयं क्वचित् रोगे मिलितं क्वचिद् द्वयम् क्वचिदेकम् परीक्षाभ्यां वर्तते। येन नान्तरे वह्निमान्द्यादौ प्रत्यक्षमवश्यं व्याप्रियते।"

मूलसूत्रके भावार्थ—शल्यशास्त्रका आद्यत्व और श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करते हुए भगवान धन्वन्तरिने सुश्रुत प्रभृति शिष्योंसे कहा—"उस आयुर्वेदके सर्वश्रेष्ठ और आद्य अंगका मैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार

प्रमाणोंसे विरोध न करते हुए (या दिखाते हुए) जो उपदेश कर रहा हूँ उसको तुम लोग धारण करो।" (सु० सू० १)

भगवान पुनर्वसु आत्रेय (चरक संहिता ११ अध्यायमें) प्रत्यक्षवादी नास्तिकोंका खण्डन करते हुए और अपने पक्षका मण्डन करते हुए उपदेश करते हैं कि—"इस जगतमें जो कुछ भी सत् या असत् रूपमें विद्यमान है, उसके वस्तु स्वरूपका निर्णय चार परीक्षाओं (प्रमाणों) द्वारा होता है, वे चार परीक्षाएँ आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति हैं।" पुनः रोगोंके विशेष ज्ञानके उपायोंका उपदेश करते हुए (विमानस्थान ४ र्थ अध्यायमें) आत्रेय भगवानने उपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीन प्रमाणों द्वारा रोगनिर्णयके लिए उपदेश किया है।

वक्तव्य—आयुर्वेद शास्त्रमें प्रधानतः तीन प्रमाणोंको ही ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। यद्यपि सुश्रुत तथा चरकसंहितामें चार प्रमाणोंका यत्र-तत्र वर्णन उपलब्ध होता है तथापि उनका वर्णन प्रसङ्गवश आया हुआ प्रतीत होता है। सुश्रुतका प्रमाण चतुष्टय महर्षि गौतमके * अनुसार है। चरकमें सांख्य, योग और रामानुजके समान तीन प्रमाणोंको ही प्रधानतः अपनाया गया प्रतीत होता है। उपमानका समावेश अनुमानमें ही किया गया है। यह उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। चरक सूत्रस्थानमें आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमानके साथ युक्ति नामक चौथे प्रमाणका वर्णन मिलता है, परन्तु आगे चलकर अनुमानकी व्याख्या करते समय युक्तिको अनुमान प्रमाणकी अनुग्राहिकामात्र † मान लिया है। अतः चरकमें तीन प्रमाणोंको ही मुख्य माना गया है। चरकसंहिता विमान स्थान (८ म अध्याय) में उपमानका स्वतन्त्र वर्णन मिलता है। परन्तु यह वर्णन प्रमाण वर्णनान्तर्गत न आकर वाद-विवादके मार्गज्ञान वर्णनके अन्तर्गत आया हुआ है। ‡

प्रमाणके सम्बन्धमें भारतीय दार्शनिकोंने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं। जैसे—चारवाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाणको ही यथार्थ ज्ञानका साधन मानता है। बौद्ध, आर्हत (जैन) और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य, योग और रामानुज उक्त दो प्रमाणोंके अतिरिक्त तीसरा शब्द

---

* "प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि।" (न्याय सूत्र)

† "अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः।" (च० वि० ८)

‡ "इमानि खलु पदानि वादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति, तद्यथा—वादो द्रव्यंगुणाः XXXXX प्रत्यक्षानुमानोपमानमैतिह्यम्।" XXX (च० वि० ८)

प्रमाण भी मानते हैं। एक नैयायिक (जरन्नैयायिक) भी इन तीन प्रमाणोंका ही समर्थन करते हैं।

अर्वाचीन तथा प्राचीन नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणोंको प्रमाका साधन मानते हैं। माहेश्वर सम्प्रदाय वाले इनका समर्थन करते हैं। मीमांसकोंका एक समुदाय प्रभाकर मतानुयायी उक्त चार प्रमाणोंके अतिरिक्त पांचवां प्रमाण 'अर्थापत्ति' या 'अर्थप्राप्ति' नामक स्वीकार करते हैं। मीमांसकोंका दूसरा सम्प्रदाय कुमारिलभट्टका अनुयायी तथा वेदान्ती उपरोक्त पांच प्रमाणोंके साथ २ छठा प्रमाण 'अनुपलब्धि' या 'अभाव' नामक मानते हैं। पौराणिक 'संभव' तथा 'ऐतिह्य' नामक दो और प्रमाण अर्थात् आठ प्रमाणों द्वारा वस्तुस्थितिका निर्णय करते हैं। तान्त्रिक लोग नवां प्रमाण 'चेष्टा' नामक मानते हैं। इसमें कुछ ऐसे भी हैं जो 'परिशेष' नामक दसवां प्रमाण भी मानते हैं*। जो दार्शनिक कमसे कम प्रमाणों द्वारा यथार्थज्ञानकी उपलब्धि करते हैं वे अन्य प्रमाणोंको अपने कहे हुए प्रमाणोंमें ही अन्तर्भाव करते हैं। जैसे—सांख्य, योग तथा आयुर्वेद वाले अर्थापत्ति तथा संभवका अनुमान के अन्दर तथा अभावका प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंके अन्दर एवं ऐतिह्यका शब्द प्रमाण या आप्तोपदेशके अन्तर्गत बताते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिकोंमें भी इसी प्रकार प्रमाण सम्बन्धी मतभेद दृष्टिगोचर होता है। पाश्चात्य दर्शनमें इस सम्बन्धमें विचार करने वाले शास्त्रको 'एपीस्टेमोलौजी' (Epestemology) कहते हैं। यह अंग पाश्चात्य दार्शनिकोंके यहां भी आवश्यक अंग माना गया है†। पाश्चात्य दर्शन जब विश्वके उभय पक्ष (स्वरूप तथा वस्तुस्थिति) का अध्ययन करता है तो उसे उसके निर्णयके औचित्यका

* "प्रत्यक्षमेकं चारवकाः कणाद सुगतौ पुनः।
अनुमानञ्च तच्चापि सांख्याः शब्दं च तेऽपि च॥
न्यैयायैकिदेशिनोप्येव मुपमानञ्च केचन।
अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्य युक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥" (सर्वदर्शनसंग्रहः)

"माध्वास्तु प्रत्यक्षं शब्दञ्चेति प्रमाणद्वयम्। रामानुजीयास्तु प्रत्यक्षानुमानं शब्दञ्चेति प्रमाणत्रयमिच्छन्ति। चेष्टाऽपि प्रमाणान्तरमिति तांत्रिकाः।" (सर्वदर्शनसंग्रहः)

† "Philosophy and Epestemology, as we understand them now, may be said to be interwoven with one another, so that one can not go without the other."

(Principles of Philosophy by H. M. Bhattacharya)

प्रतिपादन करना आवश्यक हो जाता है। वह विश्वके ज्ञानमात्रसे ही सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु उसे यह भी प्रमाणित करना पड़ता है कि उसका ज्ञान सत्य एवं यथार्थ है। वह शास्त्र जो यथार्थज्ञानके प्रकृति एवं दशाका विवेचन करता है उसे 'एपीस्टेमोलौजी' या 'प्रमाणमीमांसाशास्त्र' कहते हैं। 'एपीस्टेमोलौजी' वह शास्त्र है जिसके द्वारा यथार्थज्ञानकी उपलब्धि होती है। इसे संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि 'एपीस्टेमोलौजी' ज्ञानको समालोचना करने वाला शास्त्र है*।

इस प्रमाणमीमांसाशास्त्र (Epestemology) के अध्ययनसे पता चलता है कि पाश्चात्य दार्शनिक प्रधानतः प्रत्यक्ष (Perception) तथा अनुमान (Inference) इन दो प्रमाणोंको ही यथार्थज्ञानका साधक मानते हैं† । अन्य प्रमाणोंमें शब्दप्रमाण (Authority तथा Verbal testimony) और उपमानका प्रयोग यत्र तत्र प्रयुक्त हुआ मिलता है परन्तु इनका वह स्थान नहीं है जो भारतीय दर्शनोंमें है। मेरे विचारसे उपमान प्रमाणका कोई सामाञ्जस्य पाश्चात्य दर्शनों में नहीं मिलता। यद्यपि कुछ लोग "एनालौजी" (Analogy) को उपमान से मिलाते हैं, किन्तु उपमानको व्याख्या करते समय यह स्पष्ट हो जायगा कि उपमान एनालौजी क्यों नहीं है।

प्रत्यक्ष प्रमाणके लक्षण—

"आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥

(च० सू० ११)

"प्रत्यक्षं तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्समानः सर्वैरिन्द्रियैःसर्वानिन्द्रियार्थान् आतुरशरीरगतान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात्"। (च० वि० ४)

"अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः" ॥

(च० वि० ८)

---

* "In one word Epestemology is criticism of knowledge" or "Epestemology is the science of correct knowledge."

(H M. Bhattacharya)

† "Western Philosophy has generally recognised two ultimate sources of knowledge, immediate knowledge or percepti n, and mediate knowledge or inference."

(Six ways of knowings by D. M. Dutta)

उपस्कार टीका—प्रत्यक्षलक्षणमाह—आत्मेन्द्रियेति। आत्माचेतनाधातुः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि। मनः सत्वसंज्ञकम्। अर्थाः विषयाः शब्दादयः, तेषां सन्निकर्षात् संबन्धात्। तत्र क्रमः आत्मा मनसा संबध्यते। मनः इन्द्रियैः—इन्द्रियाणि-अर्थैः। तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्ष एव प्रत्यक्षे विशिष्टं कारणम्, (गौतम सू० १।१।४)। आत्म मनः सन्निकर्षस्तु अनुमानादिसाधारणं कारणम्। तदात्वे तत्काले। आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षलक्षणेत्यर्थः। या वक्ता निश्चयात्मिका बुद्धिः। बुद्धिरिह इन्द्रियबुद्धिः, प्रवर्तते सा प्रत्यक्षं प्रमाणं निरुच्यते—उच्यते, आत्मादिचतुष्टय सन्निकर्षात् तत्कालं यत् अवितथं ज्ञानं उत्पद्यते तत् प्रत्यक्षंप्रमाणं। प्रत्यक्षपूर्वत्वात् अनुमाने स्मृतौ च परम्परया आत्मादिसन्निकर्षजत्वं अस्ति, अतस्तद्व्युदासायतदात्व इति। ग्रीष्मे सूर्यमरीचयः भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमानाः लक्ष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् तत्कालं उदकं-इति ज्ञानमुत्पद्यते। तच्च तस्मिन् तत् इति ज्ञानं भ्रमः। दूरात् चक्षुषा अर्थंपश्यन् कश्चित् तत्कालं नावधारयति स्थाणुरिति वा पुरुष इति वा। तच्च अनवधारणज्ञानं संशयः। एवं भ्रमे संशये चापि आत्मेन्द्रियादिसन्निकर्षजत्वं तात्कालिकत्वं चास्ति, अतस्तद्वारणाय पुनराह-व्यक्तेति। इन्द्रियोपक्रमणीये चोक्तं—तौ पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थ सत्वात्मसन्निकर्षजाः क्षणिका निश्चयात्मिकाश्च इति। यत् आत्मना मनसायुक्तेन। आत्मा मनः संयोगस्य ज्ञानसामान्ये कारणत्वात्। तथा च—"आत्मा ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानंतस्य प्रवर्तते।" (च० शा० १), स्वयं न तु इन्द्रियद्वारेण उपलभ्यते तत्प्रत्यक्षं। यच्च इन्द्रियैः स्वयमुपलभ्यते यच्च ज्ञानं इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् जायते। इह आत्मा मनः संयोगस्य उपेक्षितत्वेऽपि इन्द्रियमात्रग्रहणं विशिष्टकारणत्वात्। शब्दादीनां प्रत्यक्षे यत् विशिष्टं कारणं तदुच्यते। यत्तु समानमनुमानादि ज्ञानस्य न तत् निवर्तते। अक्षपादोऽप्येवमाह-तथाच—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" (गौ० सू० १।१।४) तत्प्रत्यक्षम्। आत्मप्रत्यक्षस्योदाहरणं—तत्रेति। इन्द्रियप्रत्यक्षस्योदाहरणं शब्दादय इति।

गंगाधरः—प्रत्यक्षं लक्ष्यते-आत्मेत्यादि। आत्मा चेतना धातुर्व्यक्तं नाम क्षेत्राधिष्ठितं कालानुप्रविष्टं प्रधानं सत्वरजस्तमो लक्षणं मनसा नित्यानुबन्धं सत्वभूतगुणेन्द्रिय योगाच्चैतन्ये कारणमिति। इन्द्रियाणि पञ्च चक्षुरादीनि ××× बुद्धिहेतुत्वात्। न तु कर्मेन्द्रियाणि पञ्च पाय्वादीनि, पाय्वादिसन्निकर्षे ज्ञानानुपपत्तेश्च। तेषां स्वस्वार्थग्राहित्वं मनः पुरः सरत्वेन ×××। मन इति सत्वसंज्ञकं ××× अर्थाश्च पञ्च शब्दा दयः, न तु मनोर्थाश्चिन्त्यादिः प्रमाणाधिकारान्मानस प्रत्यक्षस्याप्रामाण्यात्। मानसाः प्रत्यक्षा हि वक्ष्यन्ते—चिन्त्य विचार्यादयो मनोऽर्था इति। आत्मप्रत्यक्षास्तु ज्ञानेच्छाद्वेष सुख दुःख प्रयत्ना इति। तेषां येन कश्चित् किमपि यादृशं चिन्तयति विचारयति अपरोऽन्यथा चिन्तयति विचारयति तथा येन कश्चित सुखमनुभवति शत्रुमरणेन तेन शत्रुबान्धवा दुःखमनुभवन्ति इति साधारण विषयत्वाभावात् न तन्मानसप्रत्यक्षमात्मप्रत्यक्षञ्च प्रमाणम्। योगिनां योगसमाधौ यत् प्रत्यक्षं तदपि तेषामेव, न सर्वेषां जनानां प्रत्यक्षं सम्भवति। तेऽपदेशश्चाप्तोपदेश इति। तस्मान्मानस प्रत्यक्षमात्मप्रत्यक्षं प्रत्यक्षज्ञानमेव न प्रमाणम्। अतोऽर्थाः पञ्च शब्दादयः। तेषां ग्रहणार्थमिन्द्रियाणि मनः पुरः सरति संयोगाय यदा तदा तैर्मनः संयुक्तरात्मनाभीप्सितः शब्दादिरर्थः सन्निकृष्यते, तदा खल्वात्मना स्वाभीष्टार्थमभीप्सितो मनो नियुज्यते। तेन नियुक्तश्च मनस्तदर्थग्राहकमिन्द्रियं स्पर्शेन्द्रियवर्त्मना गच्छति। मनो युक्तश्च तदिन्द्रियं स्वार्थसंनिकृष्टमेव गृह्णाति। सन्निकर्षश्चावरणाद्यभावे सान्निध्यं यावन्मात्रं-व्यवधानेनार्थो ग्रहणमर्हति तावन्मात्रं पूर्वमुक्तमिन्द्रियार्थ सत्वात्मसन्निकर्षजाश्चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः क्षणिका निश्चयात्मिकाश्चेति। तेन कतिधा पुरुषीये वक्ष्यते—"या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते। याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा।" इति षड्विधा बुद्धयस्तासु मध्ये या बुद्धिरात्मना नियुज्यमानं मनः संयुक्तश्रोत्राद्यन्यतमेन्द्रियाणां स्वार्थेन सह सन्निकर्षात् तदात्वे तत्कालिकी व्यक्ता खल्वव्यभिचारिणी अव्यपदेश्या व्यवसायात्मिका प्रवर्तते सा प्रत्यक्षं नाम परीक्षा प्रमाणं निरुच्यते। स्मृत्यनुमानादीनां तदात्वाभावान्न प्रत्यक्षत्वम्। पूर्वानुभूतार्थस्य हि

स्मरणं स्मृतिः। प्रत्यक्षपूर्वं हि ज्ञानमनुमानमिति। अनेन प्रत्यक्षज्ञानेन जन्यते या ज्ञानोपादानोपेक्षान्यतमा बुद्धिः सा प्रमा। वक्ष्यते च कतिधा पुरुषीये—"इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः। इहो विचारश्च ततःपरं बुद्धिः प्रवर्तते॥ इन्द्रियेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतो यथा॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका। व्यवस्यते तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्।" इति। इन्द्रियेणाभिप्सितमर्थं जिघृक्षुर्मनस्तदिन्द्रियमभिमुखीभूय गृह्णाति—इतीन्द्रियाभिग्रहो मनसः कर्म। तदर्थस्य तदिन्द्रियेण ग्रहणान्तरमस्य तदिन्द्रियस्य तदर्थानिग्रहो निवृत्तिस्तु मनसः कर्म। तत परं बुद्धि प्रवर्तते। ××××।

चक्रपाणिः—प्रत्यक्षलक्षणमाह—आत्मेन्द्रियेत्यादि। सन्निकर्षमिति संबन्धात्, स च संबन्धः-संयोगः, संयुक्तसमवायः, समवेत समवायः, तदविशेषणविशेष्यभावलक्षणो बोद्धव्यः। व्यक्ता इत्यनेन व्यभिचारिणीमयथार्थबुद्धिं संशयञ्च निराकरोति, तदात्वे तत्क्षणम्, अनेन प्रत्यक्षज्ञानान्तरोत्तरन्तमनुमानज्ञानं स्मरणं च परम्परया आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षजं व्यवच्छिनत्ति, आत्मादिचतुष्टय सन्निकर्षाभिधानं च प्रत्यक्षकारणाभिधानपरं, तेन इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रवर्तते या इत्येतावदेव लक्षणं बोद्धव्यम्, एतेन सुखादिविषयमपि प्रत्यक्षं गृहीतं भवति, तत्र हि हेतुचतुष्टयसन्निकर्षोनास्ति, आत्मसन्निकर्षस्तु प्रमाणज्ञान साधारणत्वेनैव लक्षणार्थमुपयुक्तः, इह च प्रत्यक्षफलस्वरूपापि बुद्धिः प्रत्यक्षशब्देनाभिधीयते तथैव लोकव्यवहारात्। परमार्थतस्तु यतो भवति इन्द्रियादेरीदृशी बुद्धिस्तत्प्रत्यक्षम्।++++—अत्मनेति मनसा, तेन अनेन मानसप्रत्यक्षसुखाद्यमवरुध्यते, इन्द्रियैश्चेत्यनेन बाह्यं प्रत्यक्षं गृह्यते। स्वयमुपलभ्यते इति साक्षादुपलभ्यते इति चेन्द्रियव्यापारं सत्यपि यदनुमानविज्ञानं तदसाक्षात्कारित्वान्न प्रत्यक्षम्॥"

प्रत्यक्ष प्रमाणके लक्षण—

भावार्थ—इन्द्रिय और विषयके सन्निकर्षसे हुवा ज्ञान प्रत्यक्ष है। मनः पुरःसर इन्द्रियों द्वारा गृहीत भ्रमरहित वस्तु प्रत्यक्ष कहलाता है (डल्हण)। आत्मा, (चेतनाधातु) इन्द्रियाँ (चक्षु आदि) सत्वसंज्ञक मन और अर्थ-विषय

(शब्दादि) इनके सन्निकर्ष (संयोग) से अर्थात् आत्माका जब मनके साथ संयोग होता है और मन इन्द्रियोंके साथ तथा इन्द्रियां शब्दादि विषयोंके साथ, तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस सम्बन्धमें गौतम सूत्र १ । १ । ४ में भी "प्रत्यक्ष ज्ञानका विशिष्ट कारण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष" माना है। आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय विषय इनका सम्बन्ध जब उक्त क्रमसे होता है और उस कालमें (तदात्वे) जो निश्चयात्मिका (व्यक्ता) इन्द्रियबुद्धि उत्पन्न होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है अर्थात् आत्मादि चतुष्टयके सन्निकर्षसे तत्काल जो अवितथ (सत्य) ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। ग्रीष्म ऋतुमें भयङ्कर उष्मावाली सूर्यमरीचियोंके स्पन्दनको देखकर जलका भ्रम हो जाता है, पर वह जल नहीं होता। अतः आत्रेयने "तदात्वे या व्यक्ता बुद्धिः" यह वाक्य उक्त भ्रमका निराकरण करनेके लिये कहा है। (चरक)

वक्तव्य—'प्रत्यक्ष' पद 'प्रति' और 'अक्ष' इन दो शब्दोंका यौगिक है। प्रतिका अर्थ पहले (Before) और निकट (Near) होता है। 'अक्ष'का अर्थ इन्द्रियां (Sense organs) तथा नेत्र (Eyes) होता है, इस प्रकार प्रत्यक्ष पदका अर्थ नेत्र तथा ज्ञानेन्द्रियोंके पहले या सन्निकट हुआ। सन्निहित (Immediate) तथा साक्षात् (Direct) भी प्रत्यक्ष पदका भावार्थ है। यह परोक्ष (Mediate and indirect) के विपरीत अर्थमें व्यवहृत होता है। दार्शनिक भाषामें यह (प्रत्यक्ष) शब्द इसी अर्थमें व्यवहृत होता है। इसका प्रयोग संज्ञा तथा विशेषण दोनों रूपमें पाया जाता है, जैसे—(१) 'प्रत्यक्ष प्रमाण' यहाँ प्रत्यक्ष शब्द प्रमाणका विशेषण है। (२) यह 'घट प्रत्यक्ष' है, यहां प्रत्यक्ष संज्ञा रूपसे व्यवहृत हुआ है।

"इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥" (न्या० द० १।१।४)

प्रत्यक्ष प्रमाणके कारण अर्थात् साधकतम कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकारका होता है (१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक।

निर्विकल्पक—वह ज्ञान जिसमें यह न मालूम पड़े कि वस्तु क्या है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है जैसे यह कुछ है (Indeterminate)।

सविकल्पक—वह ज्ञान जिसमें यह मालूम रहे कि वस्तु क्या है सविकल्पक (Determinate) प्रत्यक्ष है।

वाचस्पति मिश्रने अपनी तात्पर्य टीकामें प्रत्यक्ष लक्षणमें आने वाले 'अव्यपदेश्य' तथा 'व्यवसायात्मक' पदोंको क्रमशः इस द्विविध कल्पनाका मूल बतलाया है। पर इस विषयमें भाष्य या वार्तिकमें कोई विवरण नहीं मिलता।

कुमारिलभट्टके श्लोक वार्तिकमें प्रत्यक्षके ये दोनों भेद बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष खंडनके अवसर पर स्वीकृत किये गये हैं। पाश्चात्य दर्शनमें वस्तु ग्रहणके अवसर पर जो 'सेन्सेसन' (Sensation) और 'परसेप्सन' (Perception) में अन्तर बताया है, वही अन्तर निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्षमें भी जान पड़ता है।*

सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाणके भी दो भेद होते हैं। (१) लौकिक और (२) अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष (Normal or usual) भी दो प्रकार से उपलब्ध होता है। (१) बाह्येन्द्रिय द्वारा और (२) अन्तरिन्द्रिय द्वारा। इन्हें बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। बाह्यके पुनः पांच भेद होते हैं जो पञ्चेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होनेसे हुआ है। आभ्यन्तर (मानस) प्रत्यक्ष केवल एक प्रकारका होता है। इस प्रकार सब मिलकर लौकिक प्रत्यक्ष ६ प्रकारके होते हैं। लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञानका हेतु, इन्द्रिय और विषयका सन्निकर्ष ६ प्रकारका है, यथा-संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण विशेष्य भाव।

(१) संयोग (Conjuction)—आंखसे घड़ेके प्रत्यक्ष होनेमें संयोग सन्निकर्ष है।

(२) संयुक्त समवाय (Inherence in that which is conjoined)—घड़ेके रंगके प्रत्यक्ष होनेमें संयुक्त समवाय सन्निकर्ष है; क्योंकि आंखसे संयुक्त घड़ेके साथ रंगका समवाय† सम्बन्ध है।

(३) संयुक्त समवेत समवाय (Inherenee in the inherent in that which is conjoined)—रंगका सामान्यरूप जाननेवाले प्रत्यक्षमें 'संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष' है; क्योंकि आंखसे संयुक्त घड़ेमें उसका रंग समवेत है, उस रंगके साथ सामान्य रंगका समवाय सम्बन्ध है।

(४) समवाय (Inherence)—कान द्वारा शब्द (आवाज़) का प्रत्यक्ष होनेमें समवाय सन्निकर्ष है; क्योंकि कानके भीतर जो आकाश (खोखली जगह) है वही कर्णेन्द्रिय है और शब्द आकाशका गुण होनेके कारण शब्द और आकाशमें समवाय सम्बन्ध है। गुण गुणीका समवाय सम्बन्ध होता है।

---

* Sensation से गुणमात्रका ज्ञान होता है। इसके आधार पर जो वस्तु का ज्ञान होता है वह Perception है।

† इस शब्दकी संक्षिप्त व्याख्या इस अध्यायके अन्तमें तथा पदार्थ विवेचनमें विस्तृत रूपसे की गयी है।

(५) समवेत समवाय (Inherence in inherent)—शब्दत्व (शब्दका गुण) के साक्षात्कार करनेमें 'समवेत समवाय सन्निकर्ष' है, क्योंकि शब्दत्वका शब्दके साथ समवाय सम्बन्ध है और शब्दका कानके साथ।

(६) विशेषण विशेष्यभाव (The relalion of qualification and qualified)—अभावका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेमें विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष है। पृथ्वीतल पर घड़ेका अभाव है, ऐसा ज्ञान तब होता है जब कि घड़ेका अभाव उस पृथ्वीतलका विशेषण हो जो कि आँखसे संयुक्त है। जैसे घट रहित पृथ्वी, इस वाक्यमें घट रहित या घटाभाव पृथ्वीका विशेषण है।

उपरोक्त लौकिक प्रत्यक्षोंमें (१) घ्राणज प्रत्यक्ष (Olfactory perception) वह है जो विविध प्रकारके गन्धोंका उद्घाटन करता है। यह प्रत्यक्ष घ्राणेंद्रिय (नासा) द्वारा होता है। (२) रासन प्रत्यक्ष (Gustatory perception) वह है जिसके द्वारा विविध प्रकारके स्वादों या रसोंका उद्घाटन होता है। यह रसनेंद्रिय (जिह्वा) द्वारा होता है। (३) चाक्षुष प्रत्यक्ष (Visual perception) वह है जिसके द्वारा नाना प्रकारके रूपों-का उद्घाटन होता है। यह चक्षु (नेत्र) द्वारा होता है। (४) श्रौत्रिय प्रत्यक्ष (Auditory perception) वह है जिसके द्वारा नाना प्रकारके शब्दोंका उद्घाटन होता है। यह श्रोत्रेंद्रिय (कान) द्वारा होता है। (५) त्वाची प्रत्यक्ष (Tactile) वह है जिसके द्वारा नाना प्रकारके शीतोष्ण, मृदु रूक्ष गुणों-का भान होता है। यह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा अर्थात् त्वचा द्वारा होता है। (६) मानस प्रत्यक्ष (Mental perception) वह है जो मनके द्वारा सुख-दुःख, इच्छा, द्वेषका ज्ञान कराता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष (Abnormal or unusual)—तीन प्रकार-का होता है। (१) सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति (२) ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति और (३) योगज।

१-सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति—वह अलौकिक प्रत्यक्ष जिससे जाति या विषयके सम्पूर्ण वर्गका ग्रहण हो। जैसे किसी एक गौको देखकर उसके सम्पूर्ण वर्ग या जातिका ज्ञान होजाता है। तथा दृश्यमान धूमके चाक्षुष ज्ञानसे सकल धूमका, धूममें विद्यमान धूमत्व सामान्यसे, भान होजाता है।

२-ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति—वह अलौकिक प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा हमें विषय (Object) के गुणका साक्षात् ज्ञान होता है, पर उस विषयके गुणसे उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियका सन्निकर्ष नहीं होता। तथा एक ही समय एक प्रत्यक्षके साथ-साथ दूसरा भी प्रत्यक्ष, उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियसे

सन्निकर्ष न होने पर भी होता है। जैसे एक बरफके टुकड़ेका चाक्षुष ज्ञानके साथ-साथ उसकी शीतलताका ज्ञान होना, तथा सामने रखे हुए दूरस्थ पुष्पके रमणीय रूपके साथ-साथ उसके सुगन्धका भी ज्ञान होता है। दूरस्थ पुष्पके साथ घ्राणेन्द्रियका सन्निकर्ष न होने पर भी उसकी भीनी-भीनी गन्धका अनुभव होना अलौकिक सन्निकर्ष होता है। अतः इसे 'ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति' कहते हैं।

३-योगज प्रत्यक्ष—असाधारण प्रत्यक्ष वह है जो योगियोंको ही साक्षात् रूपसे हुआ करता है। सूक्ष्म (परमाणु आदि) व्यवहृत दिवाल आदिसे तथा विप्रकृष्ट (काल और देश, उभय रूपसे दूरस्थ) वस्तुओंका ग्रहण लोकप्रत्यक्ष द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं होता *। परन्तु ऐसी वस्तुओंका अनुभव योगी लोग करते हैं। इनके ज्ञानके लिए प्रणिधानकी सहायता अपेक्षित है। यह युक्त और युञ्जानके भेदसे दो प्रकारका होता है। युक्तका सर्वदा भान होता रहता है, दूसरा चिन्ता परक है †। इस प्रकार जो भी असाधारण प्रत्यक्ष होता है, उन्हें प्रत्यासत्ति कहते हैं।

अनुमानके लक्षण—

प्रत्यक्ष पूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ॥

(च० सू० ११)

"अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः ॥" (च० वि० ४)

उपस्कार टीका—अनुमानमाह—प्रत्यक्षपूर्वमिति। प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं च अनुमानमिति शेषः। प्रत्यक्षं पूर्वं यस्य तत्प्रत्यक्षपूर्वम्। लिङ्गलिङ्गिनो सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं इत्यनुमानस्य प्रत्यक्ष पूर्वत्वम् तथा च केनचित् क्वचित् सम्बद्धौ वह्निधूमौ दृष्टौ। ततः स पर्वते धूमं दृष्ट्वा वह्निमनुमिनोति। त्रिविधमिति—पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेति

---

* "न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोक प्रत्यक्षेण ग्रहणम्।" (व्यासभाष्य)

† योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्त युञ्जान भेदतः।
युक्तस्य सर्वथा भानं चिन्तासह कृतोऽपरः ॥

त्रिविधम्। तदुक्तमक्षपादेन—"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च।" (न्या० द० १।१।५)। तत्पूर्वकं प्रत्यक्षपूर्वकम्। यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते तत्पूर्ववत्। यथा मेघोन्नत्या वृष्टिरनुमीयते बीजाच्च फलम्। यत्र कार्येणकारणमनुमीयते तत्शेषवत्। यथा गर्भदर्शनात् मैथुनस्यानुमानम्। फलाद्वा बीजस्य। सामान्यतो दृष्टं कार्यकारणभिन्नलिङ्गकम्। यथा—धूमात् वह्नेरनुमानम्। त्रिकालमिति-अतीतानागतवर्तमानविषयं। अनुमानेन त्रिकालयुक्ता अर्थाः गृह्यन्ते। प्रत्यक्षं तु वर्तमानविषयं। उदाहरणान्याह—निगूढः—अदृश्यमानः-वह्निः वर्तमान धूमेन धूमदर्शनात् अनुमीयते। निगूढं मैथुनं अतीतं गर्भदर्शनात् अनुमीयते। बुधः बुद्धिमन्तः इहैव बीजात् सदृशं कारणानुरूपं फलं जातं दृष्ट्वा इह बीजफलयोः कार्यकारणलक्षणां व्याप्तिं गृहीत्वा बीजात्-अनागतं भविष्यत् सदृशं फलं-एव अनुमानेन व्यवस्यन्ति-अवधारयन्ति। अनेन-अनुमानस्य प्रत्यक्षपूर्वत्वं त्रैविध्यं त्रैकाल्यं च दर्शितम्। ×××× विज्ञाते—अर्थे कारणोपपत्तिदर्शनात् अविज्ञातेऽपि तदवधारणं युक्तिः। उक्तं च—"बुद्धिः पश्यतिया: भावान् बहुकारण योगजान्। युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया॥ इति। (च० सू० ११) सा च व्याप्तिरूपा। तदुक्तमक्षपादेन—"अविज्ञात तत्वेऽर्थे कारणोपपत्तिनस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।" (न्या० द० १।१।४०) युक्त्यपेक्षस्तर्कः, युक्त्या कार्यकारणभावोपपत्या अविज्ञातस्याप्यर्थस्य विज्ञानं। यथा-महानसादौ वह्निधूमौ एकत्र दृष्ट्वा केनचित् तयोः कार्यकारण-भावः गृहीतः, पश्चात् सः पर्वते धूमं दृष्ट्वा बह्निधूमयोः कार्यकारण-भावोपपत्या अदृष्टमपि वह्निं अवबुध्यते। तत्ज्ञानं-अनुमानम्। ××××

गंगाधरः—अथ प्रत्यक्षानन्तयदुद्दिष्टं अनुमानं लक्ष्यते—प्रत्यक्ष पूर्वमित्यादि। मानसे प्रत्यक्षे ज्ञाने यत् तु मानसं ज्ञानं प्रमाणं तदुपदेष्टमनुमानमाह—प्रत्यक्षपूर्वमिति - प्रत्यक्षं पूर्वं यस्य तत्प्रत्यक्षपूर्वम्। त्रिविधं कारणं कार्यं सामान्यतोदृष्टम्। त्रिकालं भूतं भवद्भविष्यच्च। वस्तु यत् परोक्षं तदनुप्रत्यक्षात् यन्मीयते ज्ञायते तदनुमानम्। प्रत्यक्षपूर्वमित्यनेन ख्यापितं यत् यस्य कारणं यस्य च कार्यस्य यत् कारणं यस्य च

सामान्यं यत्र तयोस्तयोः सम्बन्धयोर्नियतसम्बन्धस्य प्रत्यक्षेण ज्ञानं लिङ्गज्ञानं तयोः, परोक्षस्य लिङ्गस्मृतिश्च परोक्षस्य ज्ञाने हेतुरिति ज्ञापयिष्यते, त्रिविधं रोगविशेष विज्ञानीये रोगभिषग्जितीये च विमाने। अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षइति। युक्तिश्च अत्रातः परं वक्ष्यते—"बुद्धिः पश्यति याः भावान् बहुकारणयोगजान्। युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया।" इति। तेनात्र प्रत्यक्ष पदं प्रत्यक्षादिव्यवसायात्मक ज्ञानरूप प्रमाणोपलक्षितम्। अप्रत्याक्षाणां उपलब्धिकारणं लिङ्गं पञ्चविध हेतुपूर्वरूप रूपोपशयसम्प्राप्तिभेदेन भवति। तत् पंचविधं लिङ्गलिङ्गिनो सम्बन्धज्ञानं प्रत्यक्षादिप्रमाणं पूर्वं यस्य तस्य तत् पंचविधलिङ्गदर्शनादिना तल्लिङ्गकत्वे न तस्य च स्मृतितोऽप्रत्यक्षस्य मनसा यज्ज्ञानमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं तदनुमानम्। तत् खलु बहुकारणयोगेनोपपत्तितो यत् यथा तत् तथा प्रकाशनान्तरनिश्चयरूपम्। तेन हि गुणतो दोषतो वा निश्चित्य हातुमुपादातुमुपेक्षितुं वा वाङ्मनः शरीरकर्मभिर्व्यवस्यति। सम्बन्धश्च लिङ्गलिङ्गिनोः कार्यकारणभावः संयोगः समवायश्च। तत् सम्बन्धज्ञानं च प्रमाणावयवैः प्रत्यक्षाद्यन्यतमैकानेकैर्भवति। लिङ्गलिङ्गिनोश्चैषः सम्बन्धः उभयोरेकतरस्य वा नियतधर्मसाहित्यं व्याप्तिरुच्यते। स चासकृत्प्रत्यक्षादिनानिश्चियते न सकृत्प्रत्यक्षादिना। तथा च कियदुदाहरति वह्निर्निगूढ़ो धूमेनेत्यादि। अतीतं कार्येण कारणमेव व्यवस्यन्ति यथा निगूढ़ो वह्निर्धूमेनानुमीयते कुत्रचिदग्निः संवृत्तो वर्तते इति। यस्तु खलु पूर्वं दृष्टवान् धूमो जायते आर्द्रेन्धनजवह्नि तएव नान्यस्मात्। ततो वह्निधूमयोर्नियतं धूमस्य धर्मस्य वह्नौ धर्मिणि साहित्यं ज्ञायते। जन्यजनक भावः सम्बन्धः। अत्र युक्तिः—न धूम आर्द्रेन्धनज वह्निमन्तरेण सम्भवति। यत्र कुत्रचित् धूमो यदि वर्तते तथा तेनैव धूमेन तज्जनको वह्निरनुमीयते। गृहान्तरे य आर्द्रेन्धनजो वह्निस्तस्मादुत्तिष्ठन् धूम आकाशे गृहान्तरे वा यद्वर्तते तयोर्वह्निधूमयोर्विभागवतो न संयोगः सम्बन्धः। किन्तु तेन धूमेनानुमीयते वर्तते खलु कुत्रचिदस्य धूमस्य जनको निगूढ़ो वह्निरिति, इति कार्येण कारणस्य वर्तमानस्यानुमानम्, एवमेवान्यत् सर्वंबोध्यम्। यथा देहेन्द्रियमनः सन्तापेन ज्वरो वर्तमानोऽनु-

मीयते, ज्वरस्य रूपं देहेन्द्रियमनःसंताप इत्याप्तोपदेशेन ज्वरस्य धर्मिणो धर्मस्य तत् संतापस्य नियतसाहित्यं येन ज्ञातमसकृत्, स यदा देहादि-सन्तापं स्पर्शनेन जानाति तदा ज्वरमनुमिनोति। स एव ज्वरो यदि गूढ़लिङ्गो वर्तते रोगान्तरतया वा संक्षीयते तदा ज्वरप्रशमनैरौषधान्न विहारैः प्रयुक्तैस्तस्य व्याधेरुपशयतो ह्रासेन ज्ञातेन ज्वरोऽनुमीयते। अनुपाशयतो वृद्ध्या ऽनुमीयते रोगान्तरमिति नायं ज्वर इति। ××× ×× इति कार्येण वर्तमानस्य कारणस्यानुमानमुदाहृत्यातीतस्य कारणस्य कार्येणानुमानमुदाहरति। मैथुनं गर्भदर्शनात् इत्यादि। अतीतं मैथुनं गर्भदर्शनात् अनुमीयते। एवमेतत्प्रकारेणातीतं कारणं कार्येणानुमीय बुधा व्यवस्यन्ति। अत्रेयं युक्तिरपेक्षते। यः खलु आप्तोपदेशेन ज्ञातवानेव-मदुष्टशुक्रपुरुषेणादुष्टशोणितगर्भाशयया ऋतुःस्नातया सह संवसेत्, तस्य पुत्रादिकारणदिष्टाधिष्ठित शुक्रं तस्या गर्भाशयगतादुष्टार्तवेन संसृष्टं पाञ्चभौतिकं परलोकादवक्रामति बीजधर्माजीवात्मा। तदा तत् पञ्च-महाभूतानामात्मनश्च संयोगात् गर्भसंभवःस्यादिति। स खलु नार्या गर्भदर्शनादेवमूहति पञ्चमहाभूतान्यात्मा चेति षड्धातुसंयोगात् गर्भसंभवः। षड्धातुसंयोगाश्च स्त्रिया पुंसश्चार्त्तवशुक्रसंयोगमन्तरेण न भवति। तयोः संयोगश्च नर्ते मैथुनाद् भवति इति युक्तितः पुंसाऽस्या मैथुनमनुमिनोत्य-तीतामिति युक्त्यपेक्षस्तर्कः। इहापि गर्भमैथुनयोः कार्यकारणाभावः संबन्धो नियतधर्म साहित्यमुभयोः क्वचित् एकतरस्य क्वचित्। ××××× । अथ कारणेन भविष्यतः कार्यस्यानुमानमुदाहरति—एवमित्यादि। बीजात् फलमनागतमिति। अनागतं भविष्यत् फलं बीजादनुमानाय व्यवस्यन्तीति योजना। तत्र युक्तिः—क्षेत्रकर्षणं जलमृतुवर्षादि बीजञ्चेति चतुष्क-संयोगात् फलमस्य शस्यं भविष्यति। यदिदं कृष्टायां भूमौ बीजं वपति तद्वर्षणादिजलं चेल्लभेत, तदाङ्कुरं जनयिष्यत्यथवर्द्धिष्यति, न चेज्जलं लभेत् शोषमापद्यते—इति युक्त्या तर्कयति। यदि शोषं नापत्स्यते जलं लब्ध्वा वर्धते तदा शरदादौ काले फलिष्यतिति युक्त्यपेक्षस्तर्कोऽनुमानम्। एममेव व्याधितस्य तस्य निदानदर्शनात् स स रोगो भविष्यतीति अनु-मीयते। ×××× एवं सर्वत्रकारणेन भविष्यत्कार्यस्यानुमानं स्यात्॥

तत्र सामान्यतो दृष्टं च भूतं भवद् भविष्यच्च कार्यमनुमीयते तदुदाहरति। दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधा व्यवस्यन्तीति योजना। आम्रबीजादुप्तात् यत् फलं जातं तत्तदाम्रबीजसदृशं दृष्ट्वा बुधा व्यवस्यन्ति—यादृशं बीजं तादृशं फलं भवति, भूत, भविष्यति च इत्येवमनुमाय यत् फलमिप्सति तद्बीजं वपति इत्येवं व्यवस्यन्ति। बीजसदृशं फलं नान्यस्माद्बीजादन्यफलमिति युक्तिः ॥

चक्रपाणिः—अनुमानरूपमाह—प्रत्यक्षेत्यादि। प्रत्यक्षग्रहणं व्याप्तिग्राहकप्रमाणोपलक्षणार्थं, तेन प्रत्यक्षपूर्वमिति व्याप्तिग्राहकप्रमाणपूर्वम्। त्रिविधमिति-अनुमानत्रैविध्यं दर्शयति, तेन, कार्यात् कारणानुमानं यथा-गर्भदर्शनात् मैथुनानुमानं, तथा कारणात् कार्यानुमानं, यथा—बीजात् सहकारिकारणान्तरयुक्तात् फलानुमानं, तथा अकार्यकारणभूतानाञ्च सामान्यतो दर्शनात् अनुमानं यथा—धूमाद्वर्तमानलक्षणसंबन्धादग्न्यनुमानं, एतत् त्रिविधमनुमानं गृहीतं भवति ; त्रिकालमित्यनेन त्रिकालविषयत्वमनुमानस्य दर्शयति ; 'अनुमीयते इत्यत्र येन तदनुमानम्' इति वाक्यशेषः, तेन व्याप्ति ग्रहणादनु-अनन्तरं मीयते सम्यक् निश्चीयते येन तदनुमानम्। व्याप्तिस्मरणसहायलिङ्गदर्शनमित्यर्थः। त्रिविधमिति यदुक्तं तस्योदाहरणं दर्शयति—वह्निरित्यादि। एतच्च व्याकृतमेव। निगूढो अदृश्यमानः : एवं व्यवस्यन्त्यतीतमिति व्यवच्छेदः। बीजादिति सहकारिकारणान्तर जलकर्षणादि युक्तात् इति बोधव्यम्। अनागतं फलं सदृशं व्यवस्यन्तीति संबन्धः। 'दृष्ट्वा बीजात् फलं जातं' इत्यनेन बीजफलयोः कार्यकारणलक्षणां व्याप्तिं दर्शयति। यद्यपि च कारणं कार्यं व्यभिचरति, यतः नावश्यं बीजसद्भावे फलं भवति, तथापि सहकारिकारणान्तरयुक्तं बीजं फलं न व्यभिचरति इत्यभिप्रायो बोधव्यः, कारणसामग्री च कार्यं न व्यभिचरत्येव ॥

अनुमानके लक्षण—

भावार्थ—'अनु' का अर्थ है पश्चात् और मानका अर्थ ज्ञान करना है अर्थात् लिङ्गको देखकर उसके संबन्धी लिङ्गीका दोषरहित (अव्यभिचारी) ज्ञान जिसके द्वारा किया जाय उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे—"किसी स्थानमें प्रनष्ट

शल्यका ज्ञान उसके लक्षण (लिङ्ग) पाक तथा उष्मासे, अर्थात् संदिग्ध स्थान पर चन्दन, घृत प्रलेपके क्रमशः शुष्क तथा पिघलने से करना" अनुमान ज्ञान है, (डल्हण)। "युक्ति सापेक्ष्य तर्कको अनुमान कहते हैं" (चरक)। विज्ञात अर्थमें कारण और उपपत्तिको देखकर अविज्ञात अर्थमें भी उसका अवधारण 'युक्ति' कहलाता है, (उपस्कार टीका)। अविज्ञात तत्वके अर्थमें कारण और उपपत्तिसे तत्व ज्ञानके लिये जो 'उहा' होती है, उसे 'तर्क' कहते हैं, (उपस्कार टीका)। युक्ति सापेक्ष्य तर्क अर्थात् युक्तिके द्वारा कार्यकारणभावोपपत्तिसे अविज्ञात अर्थका ज्ञान करना, जैसे चौका (भानस) घरमें वह्नि और धूमको एक साथ देखकर उनमें कार्यकारण भावका ग्रहण कर, किसी पर्वत पर धूमको देखकर वह्नि और धूमके कार्यकारणभावोपपत्तिसे अदृष्ट वह्निका ज्ञान प्राप्त करना; ऐसा ज्ञान अनुमान कहलाता है, (चरक उपस्कार टीका)। यह अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक तीन प्रकारका तीनों कालोंमें होनेवाला होता है। लिङ्गके दर्शनसे लिङ्गीका ज्ञान होना अनुमानके प्रत्यक्ष पूर्वकत्वको प्रमाणित कर देता है। अनुमान तीन प्रकारका होता है। (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् और (३) सामान्यतो दृष्ट। जहाँ कारणसे कार्यका अनुमान किया जाय वहाँ 'पूर्ववत्' अनुमान होता है। जैसे—बीजसे फलका अनुमान। जहां कार्यसे कारणका अनुमान किया जाय वहां 'शेषवत्' अनुमान होता है, जैसे गर्भको देखकर मैथुनका अनुमान तथा फलको देखकर बीजका अनुमान। कार्य और कारण दोनोंसे भिन्न अनुमानको 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं, जैसे--धूमसे वह्निका अनुमान। त्रिकालका अर्थ है तीनों-अतीत, अनागत और वर्तमान कालका अनुमान, जैसे-निगूढ़-अदृश्यमान 'वर्तमान वह्नि' का अनुमान धूमको देखकर करना, तथा निगूढ़ 'अतीत मैथुन' का अनुमान गर्भको देखकर करना। इसी प्रकार बुद्धिमान लोग बीजके सदृश ही फलको देखकर और यह समझकर कि कारण-बीजके अनुरूप ही कार्य-फल होता है; बीज और फलमें कार्य कारण लक्षण वाली व्याप्ति का ग्रहण कर बीजसे 'अनागत फल' का अनुमान कर लेते हैं। (चरक)

वक्तव्य—'अनुमीतिकरणमनुमानम्'। (तर्कसंग्रहः)। "मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्" (वात्स्यायनः)। "तल्लिङ्गिलिङ्गपूर्वकम्" (न्यायवार्तिकः)।

अनुमितिका करण (साधकतम कारण) अनुमान है। परामर्शसे उत्पन्न हुआ ज्ञान 'अनुमिति' है। व्याप्ति सहित पक्षधर्मताका ज्ञान 'परामर्श' है। जैसे—यह ज्ञान कि इस पर्वतपर इस प्रकारका धुआँ दिखाई देता है जो अग्निसे व्याप्य (साथ मौजूद रहने वाला) है। इससे उत्पन्न हुआ यह ज्ञान कि पर्वतपर आग है, अनुमिति है। किसी लिङ्गके ज्ञानसे उस लिङ्गके धारण करने

वाली वस्तु (लिङ्गी) का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है । जैसे—पर्वत-के शिखरसे निकलने वाली धूमरेखाको देखकर उस पर्वतमें अग्निकी सत्ताका ज्ञानकर यह कहना कि पर्वत वह्निमान है; अनुमान प्रमाणके द्वारा सिद्ध होता है । पर्वतोयं वह्निमान् धूमात् । व्याप्तिका स्मरण अनुमानके लिये परमावश्यक साधन है ।

व्याप्ति—जहां जहां धुआं है, वहां वहां आग है, इस प्रकारके साहचर्य (साथ साथ रहनेके) नियमका नाम 'व्याप्ति' है । रसोईघरमें धूम और अग्निके साहचर्यका अनुभव (ज्ञान) हुआ है, अतः इसके बलपर पर्वतमें धूम देखकर वह्निका अनुमान किया जाता है । "पर्वतो ऽयं वह्निमान् धूमात्" इस वाक्यके कहनेसे पर्वत-पक्ष, वह्निमान-साध्य और धूमात्-हेतुको उपलब्धि होती है । अन्नभट्टने उसे पक्ष बतलाया है, जिसमें साध्यकी स्थिति संदिग्ध है । "संदिग्ध साध्यवान् पक्षः" । यदि साध्यकी सत्ताका निश्चय हमें पूर्वमें ही प्राप्त हो तो उसके विषयमें अनुमानकी आवश्यकता ही नहीं । परन्तु नव्य नैयायिक लोग 'संदिग्ध-साधवत्ता' को पक्षताका लक्षण नहीं स्वीकार करते । उनकी रायमें वस्तुका पूर्वज्ञान अनुमानका बाधक नहीं हो सकता, यदि उस वस्तुको सिद्ध करनेकी अभिलाषा (सिसाधयिषा) अनुमन्तामें विद्यमान हो । अतः सिसाधयिषाकी सत्ता पक्षताका प्रधान लक्षण हुआ* । जिस वस्तुको सिद्ध करना हो उसे 'साध्य' और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय उसे 'हेतु' कहते हैं । साध्यका दूसरा नाम व्यापक और हेतुका व्याप्य, साधन तथा लिङ्ग है ।

पक्षधर्मता—व्याप्य (जिस वस्तुके साथ कोई दूसरी वस्तु सदा ही रहती हो) का पर्वत आदि किसी स्थानपर वर्तमान होना 'पक्षधर्मता' कहलाता है ।

अनुमानके भेद—अनुमान दो प्रकारका होता है । (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान ।

स्वार्थानुमान—अपनी अनुमिति† का हेतु स्वार्थानुमान है । जैसे—कोई मनुष्य चौके (भानस घर) आदिमें बार-बार धुएं और अग्निको साथ-साथ देखकर इस निश्चयपर पहुंचकर कि जहां-जहां धुआं है, वहां-वहां अग्नि भी है—एक पर्वतके समीप पहुंचकर वहांपर धुआं उठता देखकर उस व्याप्तिको याद करे, उस

* "सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न तिष्ठति सपक्षः" (मुक्तावली अ० ७०)

† "परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः" । व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानं परामर्शः । यथा वह्नि व्याप्य धूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं । यत्र यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्य नियमो व्याप्तिः ।" व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता ।" (तर्कसंग्रहः)

स्मरणके कारण उसे यह ज्ञान हो जाय कि वहांपर आग है, इसका नाम "लिङ्ग-परामर्श" है। इस लिङ्ग परामर्शसे ही यह ज्ञान उत्पन्न हुआ कि पर्वतपर आग है। इसका नाम 'स्वार्थानुमान' है, यह अपने समझनेके लिए होता है।

परार्थानुमान---जब कि अपने आप धुएँसे अग्निका अनुमान करके कोई आदमी दूसरेको समझानेके लिए निम्न पाँच अवयवोंका प्रयोग करता है, उसको परार्थानुमान कहते हैं। जैसे—पर्वतपर आग है, क्योंकि वहाँपर धूम है। जहां-जहां धुआँ है वहां-वहां आग है। जैसे कि चौकेमें। यहाँ पर भी ऐसा ही होना चाहिए, इसलिए यहां पर भी आग है। लिङ्गके इस प्रकारके प्रतिपादनसे दूसरा व्यक्ति भी पर्वतपर आग होनेका अनुमान करता है।

पञ्चावयव—(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय और (५) निगमन ये पाँच अवयव हैं। पर्वत पर आग है यह 'प्रतिज्ञा' है वहाँ पर धुआँ होनेकी वजहसे यह 'हेतु' है। जहाँ-जहाँ धुआँ है वहां-वहाँ आग है जैसे चौकेमें—यह 'उदाहरण' है। यहाँ भी वैसा ही हाल है—यह 'उपनय' है। इसलिये यहां पर आग है-- यह 'निगमन' है।

वात्स्यायनने निम्न पांच अवयवोंका उल्लेख किया है—(१) जिज्ञासा, (२) संशय, (३) शक्य प्राप्ति, (४) प्रयोजन और (५) संशय व्युदास। भाष्यकारके मतसे इनकी विशेष आवश्यकता नहीं होती। पूर्वोक्त पञ्चावयवों द्वारा परार्थानुमान-(Demonstrative inference or Syllogism) का पूर्णज्ञान (नैयायिकों के मतसे) हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे स्पष्टीकरण बहुत अच्छा हो जाता है और किसी प्रकार का सन्देह उस व्यक्ती के मनमें नहीं रह जाता, जिसको समझाया जाता है। परन्तु तार्किकों का विचार है की उपरोक्त अवयवों की संख्या घटाई जा सकती है। कारण - प्रतिज्ञा (Enunciation) और निगमन (Conclusion) में कोई वास्तविक भेद नहीं। यहां एकही बातको दुहराया जाता है। उपनय (application of the general rule to the particular case और हेतु (Reason) का पार्थक्य भी कोई अर्थ नहीं रखता, जबकी व्याप्ति (generalisation) का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार हमारे सामने तीन अवयव वाक्य (Parts of Syllogism) प्रतिज्ञा, हेतु और व्याप्ति वाक्य रह जाते हैं। निगमन का प्रतिज्ञा में तथा उपनय और उदाहरण का व्याप्ति में अन्तर्भाव होजाता है, अतः परवर्ती नैयायिकों के अन्दर उक्त तीन अवयवोंसे ही अनुमान की सिद्धि सिद्ध करनेकी प्रवृत्ति हो गई प्रतीत होती है। इन तीन-प्रतिज्ञा हेतु और व्याप्ति या उदाहरण को ही वे परार्थानुमान सिद्धिके लिये पर्याप्त समझते हैं। ये तीन अवयव पाश्चात्य तार्किकों के 'कन्क्लुजन'

(Conclusion) माइनर प्रेमिस (Minor Premise) और 'मेजर-प्रेमिस' (Major Premise) से मिलते हैं। इनमें केवल पंक्तीकरण में भेद प्रतीत होता है। भारतीय तर्क शास्त्र में पहले प्रतिज्ञा, बाद हेतु और उसके बाद उदाहरण ऐसा क्रम आता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्रमें पहले 'मेजर प्रेमिस' जो व्याप्तिके समान है, बाद 'माइनर प्रेमिस' जो हेतुसे साम्य रखता है और अन्तमें 'कन्क्लुजन' जो प्रतिज्ञाके समान है ऐसा क्रम होता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्रमें उक्त तीनों अवयवोंकी व्यावहारिक विचारमें आवश्यकता सर्वदा नहीं होती। साधारणतः उनमेंसे कोई एक उपेक्षित होता है। जब कभी किसी वस्तु स्थितिके निर्णयमें विशेष छानबीन करनेकी आवश्यकता होती है, तो तीनोंकी आवश्यकता पड़ती है अन्यथा नहीं। भारतीय विचारकोंमें भी वेदान्ती, मीमांसक, बौद्ध, तथा जैन विचारक व्यवहारमें दो ही अवयवोंको पर्याप्त समझते हैं। जैसे—प्रतिज्ञा और हेतु। उनका कहना है कि हेतुके अन्दर सभी अनुमानके अवयव आ जाते हैं। किसी विशेष स्पष्टीकरणके लिये वे व्याप्तिसे काम लेनेका आदेश करते हैं।

लिङ्ग परामर्श—स्वार्थ अनुमिति और परार्थ अनुमिति दोनोंका ही लिङ्ग परामर्श कारण है। इसलिये लिङ्ग परामर्शहीका नाम अनुमान है। लिङ्गके तीन प्रकार हैं—(१) अन्वय व्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी और (३) केवल व्यतिरेकी।

(१) अन्वय व्यतिरेकी*—यह लिङ्ग उसको कहते हैं जिसके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही प्रकारकी व्याप्ति हो। जैसे—जहाँ पर आगका होना साध्य हो वहां पर धुएँका मौजूद होना। जहां पर धुआँ है, वहां पर आग है। जैसे—चौका घरमें यह अन्वय व्याप्ति है। जहां पर आग नहीं है वहां पर धुआँ भी नहीं है। जैसे—जलाशय में यह व्यतिरेक व्याप्ति है।

(२) केवलान्वयी†—जिस लिङ्गके साथ केवल अन्वय व्याप्ति हो वह केवलान्वयी लिङ्ग कहलाता है। जैसे 'घट' अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है। जैसे—पट। यहांपर (केवल वह अन्वय व्याप्ति ही है कि जो जो प्रमेय है वह अभिधेय है) व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सब पदार्थ प्रमेय और अभिधेय दोनों ही हैं। कोई ऐसा उदाहरण नहीं जो प्रमेय अथवा अभिधेय न हो।

---

*—"अन्वयेन व्यतिरेकेन व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकी"। (तर्कसंग्रह)

†—"अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयी"। (तर्कसंग्रह)

(३) केवल व्यतिरेकी*—जिस लिङ्गके साथ केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही हो (अन्वय व्याप्ति न हो) उसका नाम केवल व्यतिरेकी लिङ्ग है। जैसे पृथ्वी और तत्वों (जलादि) से भिन्न है क्योंकि इसका गुण गन्ध है। जो औरोंसे भिन्न नहीं वह गन्धवाला भी नहीं, जैसे—जल। यहाँ पर इस प्रकारकी अन्वय व्याप्ति, कि जो जो गन्धवाला है वह औरोंसे भिन्न हैं, नहीं मिल सकती, क्योंकि पृथ्वीके अतिरिक्त और कोई इस व्याप्तिका उदाहरण ही नहीं है। केवल पृथ्वी तत्व ही ऐसा है जिसका गुण गन्ध है।

अनुमानके भेद†—न्याय सूत्रोंमें अनुमान तीन प्रकारका कहा गया है—(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतो दृष्ट। इनमें कारणसे कार्यका अनुमान करना पूर्ववत् और कार्यसे कारणका अनुमान करना शेषवत् कहलाता है। कार्य और कारण दोनोंसे भिन्न सामान्य दर्शनसे अनुमान करना सामान्यतो दृष्ट है। इन अनुमान प्रकारके लक्षणोंके विषयमें न्याय सूत्रके टीकाकारों में गहरा मतभेद है। 'पूर्व' तथा 'शेष' मीमांसाके पारिभाषिक शब्द हैं, अतः यह अनुमान भेद मीमांसकोंकी कल्पना प्रतीत होती है। नैयायिकोंने ग्रहण कर इनके मुख्य अर्थमें परिवर्तन किया है। मीमांसामें 'पूर्व' का प्रयोग प्रधान तथा 'शेष' का प्रयोग अंगके लिए किया जाता है। पर नैयायिकोंने प्रधान तथा अंगके सम्बन्धको कारण तथा कार्यपर अवलम्बित किया है।

दूसरी व्याख्या—अन्वय मुखसे प्रवृत्त होने वाला अनुमान 'पूर्ववत्' और व्यतिरेक मुखसे प्रवृत्त होनेवाला 'शेषवत्' कहलाता है। यथा धूमज्ञानसे अग्निका अनुमान पहलेका उदाहरण है। शेषका अर्थ होता है अवशिष्ट होनेवाला, अतः "परिशेष्यात्" अनुमान करने पर शेषवत् माना जाता है। उदाहरणार्थ—'शब्द' स्वरूपका निर्धारण करनेके अवसरपर सत् तथा अनित्य होनेके कारण यह जाना जाता है कि शब्द, सामान्य, विशेष और समवायसे पृथक् द्रव्यगुण कर्मके ही अन्तर्गत आ सकता है। इन तीनोंके अन्तर्भुक्तताके विचारपर यही ज्ञान होता है कि शब्द एक द्रव्याश्रित होनेसे द्रव्यसे पृथक तथा शब्दान्तरका हेतु होनेसे कर्मसे भी पृथक है। अतः शब्द परिशेषसे गुण रूप ही हो सकता है। सामान्यतो दृष्ट वहाँ होता है जहाँ वस्तुविशेषकी सत्ताका अनुभव न होकर उसके सामान्यरूपका ही हमें परिचय प्राप्त हो। यथा-इन्द्रियोंकी सत्ताका अनुमान। कार्यको देखकर कारणका अनुमान तर्कानुकूल है। लेखन कार्यको देखकर

*—"व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवल व्यतिरेकी"। (तर्कसंग्रह)

† A Priary (पूर्ववत्), A Posteriori (शेषवत्), Commenly seen सामान्यतो दृष्ट)

तत्साधनभूत लेखनीका अनुमान करना उचित ही है। इसी दृष्टान्तके आधार पर वस्तुग्रहण रूप फलके लिए तत्साधनभूत इन्द्रियोंकी सत्ताका अनुमान किया जाता है। चक्षुरिन्द्रियके अभावमें रूपका ग्रहण कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। यह सामान्यतो दृष्टका उदाहरण है, क्योंकि यहां इन्द्रियविशेषकी सत्ता न देखकर तत्सामान्य करणत्व मात्रका ही अवलम्ब हमारे लिये साध्य है।, (न्याय वार्तिक)

प्राच्य पाश्चात्य विचार समन्वय—

✓पाश्चात्य तर्क शास्त्रमें 'डिडक्टीव' (Deductive) अर्थात् व्यापकसे व्याप्य का तर्क और 'इन्डक्टीव' (Inductive) अर्थात् उदाहरण द्वारा तर्क, भेद करके तर्क दो प्रकारका माना गया है। भारतीय न्यायशास्त्रमें इन दोनोंका श्लाघनीय सम्मेलन मिलता है। व्याप्य और व्यापकके नियत सम्बन्धपर ही अनुमानकी पूरी इमारत खड़ी है। इसी व्याप्तिकी सूचना उदाहरण वाक्य (अवयव) की विशेषता है। चतुर्थ वाक्य (अवयव) 'उपनय' या 'परामर्श'की उपपत्ति इसकी खास विशेषता है। बिना परामर्शके अनुमान नहीं हो सकता। अनुमानके लिये 'व्याप्ति ज्ञान'की ही आवश्यकता नहीं, प्रत्युत उस व्याप्ति विशिष्ट हेतुका पक्षमें रहना भी उतना ही आवश्यक है। अतः व्याप्य हेतुका पक्ष धर्म होना परामर्श माना जाता है। केवल धूमवान् होनेसे पर्वतकी अग्निमत्ता अनुमिति नहीं हो सकती, जबतक धूम और अग्निकी व्याप्तिका ज्ञान न हो। निगमन हेतु द्वारा सिद्ध प्रतिज्ञाका उल्लेख करता है। जिसकी प्रतिज्ञा आरम्भमें की गई थी वही हेतु द्वारा सिद्ध कर दिया गया है; यही निगमन वाक्य (अवयव) प्रदर्शित करता है। इस परार्थानुमानका यदि अरस्तुके तर्कशास्त्रसे (Aristotelian-Syllogism) तुलना करें तो दोनोंकी विचार सरणिमें स्पष्ट पार्थक्य दृष्टिगोचर होगा और भारतीय तर्कशास्त्रकी विचार सरणि अधिक उपादेय प्रतीत होगी। इसकी व्यहारिकतापर भी दृष्टिपात करनेसे पता चलता है, कि अरस्तुकी तर्कविधि से उस प्रकारका सन्तोष नहीं होता, जिस प्रकार भारतीय तर्कविधिसे होता है। स्वार्थानुमान और परार्थानुमानका वास्तविक भेद भी यही है। परार्थानुमान दूसरेको समझाने और सन्तोष देनेके लिए ही होता है। स्वार्थानुमान केवल अपने लिए अर्थात् अपने समझने और सन्तोषके लिए होता है। तात्पर्य यह कि जब किसी दूसरेको समझाना न हो, केवल अपनेको सन्तुष्ट करना हो तो यह कार्य स्वार्थानुमान द्वारा होना है। जब हमें अपनेको दूसरेके सामने प्रमाणित करना पड़ता है और उसे सन्तुष्ट करना पड़ता है, तो हमारे लिए सबसे सुलभ उपाय परार्थानुमानका होता है। परार्थानुमानकी शैली तथा क्रम अरस्तुके साइलोजिज्मसे अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है।

किसी वादमें पहले स्थापनाकी प्रतिज्ञा करना और पश्चात् उसे हेतु, उदाहरण और उपनयसे निगमन करना अधिक बुद्धिग्राह्य और सुबोध होता है। जब तक हमारी स्थापना स्पष्ट न हो तब तक उनके हेतु आदिका निश्चय अजीव-सा प्रतीत होता है और वहाँ सर्वदा हेत्वाभास (Fallacy) होनेकी सम्भावना बनी रहती है। इसलिये किसी भी वाद-विवाद और कानूनी निर्णयमें (LegaIgudgement) पहले स्थापना (Preposition) की प्रतिज्ञाका उल्लेख होता है। उसके वाद दूसरा पद (अवयव) स्वाभाविक रूपसे हेतु (Reason) का आता है। जब कभी आप कोई विचार प्रकट करते हैं और वह विचार तथ्यरूपसे स्थापित नहीं हो जाता और जब तक उसके विषयमें श्रोताके मनमें शङ्का बनी रहती है, तब तक हेतुओं द्वारा उसका समर्थन युक्तियुक्त और आवश्यक होता है। यदि श्रोताको सन्तोष इतनेपर हो जाता है तो आपका कथन यहीं समाप्त हो जाता है और यदि इसपर भी श्रोताके मनमें शङ्का बनी रहती है, तो आपको उसे उदाहरणों द्वारा सन्तुष्ट करना पड़ता है। उदाहरणोंके उल्लेख करनेके साथ ही साथ वक्ता साधक और साध्यका सम्बन्ध भी समझाता जाता है, जिससे श्रोताके मनमें किसी प्रकारके सन्देहका स्थान नहीं रह जाता और हेतु द्वारा प्रतिस्थापित प्रतिज्ञाको ठीक-ठीक समझ लेता है। यदि श्रोता इतनी बातों (अवयवों) से वस्तुस्थितिको समझ लेता है, तो यह कार्य यहीं समाप्त हो जाता है। परन्तु जब उसे इतनेपर भी सन्तोष नहीं होता, तो 'परामर्श' या 'उपनय' द्वारा उसे समझाना पड़ता है। जिसे हम पहले विचारों द्वारा समझानेका प्रयत्न कर रहे थे, उसे व्यवहार द्वारा (By application) समझाते हैं।

'उपनय'के द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि साधक और साध्यके समवाय संयोगका सम्बन्ध, जो परिचित तथा मान्य उदाहरणों द्वारा निर्देश किया गया है वह इस वर्तमान प्रतिज्ञामें भी लागू है। कभी-कभी इसे व्यक्त या स्पष्ट करना परमावश्यक होता है, क्योंकि इसके द्वारा बिना किसी सङ्कोचके निगमन अर्थात् प्रतिज्ञाकी सिद्धि होजाती है। इसीलिए इसे इन सारी प्रक्रियाओंकी आत्मा कहते हैं। अन्तमें निगमनका कहना अर्थात् यह कहना कि पूर्व प्रतिज्ञाकी सत्यतामें अब कोई सन्देह नहीं रह गया, आवश्यक है। इसे और स्पष्ट करनेके लिये दोनोंके क्रमोंका उदाहरण देख सकते हैं।

१—अरस्तुकी तर्कविधि (Aristotetion Syllogism) और २—परार्थानुमानका क्रम—

(क) सुकरात मरणशील है (प्रतिज्ञा) *

* All men are mortal (सभी मनुष्य मरणशील हैं) (Major Premise)

(ख) क्योंकि वह मनुष्य है (हेतु)*

(ग) अतीत कालमें सभी मनुष्यको मरणशील पाया गया है ; जैसे थेल्स, जेनो इत्यादि (उदाहरण)†

(घ) सुकरात भी उसी प्रकारका मनुष्य है (उपनय)

(च) अतः सुकरात मरणशील है (निगमन)

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

व्याप्ति—अनुमान प्रक्रियामें व्याप्तिका स्थान अत्यन्त महत्वका है। इसलिए भारतीय दार्शनिकोंने विशेषतः नैयायिकोंने व्याप्तिकी आलोचना करनेमें इतनी कुशाग्र बुद्धिका परिचय दिया है, कि वह दार्शनिक जगतमें एक आश्चर्यजनक व्यापार स्वीकार किया जाता है। व्याप्तिके लक्षणके विषयमें पर्याप्त विवेचन नव्य न्यायके ग्रन्थोंमें किया गया है। हेतु (धूम) तथा साध्य (वह्नि) के नियत साहचर्य सम्बन्धको 'व्याप्ति' कहते हैं। दो वस्तुओंके एकत्र विद्यमान होनेसे ही उनमें व्याप्तिकी कल्पना तबतक नहीं कर सकते जबतक हमें उनके सदा नियमसे एकत्र रहनेकी सूचना न मिले। जहां धूम है वहां अग्नि है, इस साहचर्यकी सत्ता हम नियत रूपसे पाते हैं अतः धूम तथा वह्निकी व्याप्ति न्यायसंगत प्रतीत होती है, इसलिये व्याप्तिको प्राचीन ग्रन्थोंमें 'अविनाभावसंबन्ध' के नामसे पुकारते थे। अविनाभाव अर्थात् जो वस्तु जिसके बिना न रह सके उसका संबन्ध है। धूमकी सत्ता तभी है जब वह्निके साथ उसकी सत्ता स्वीकारकी जाती है। व्याप्ति, धूम तथा वह्निके साथ सम्पन्न होती है परन्तु वह्नि तथा धूमके साथ व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। जैसे—अयः गोलकपिन्ड (अग्निमें लाल किया हुआ लोहेका गोला)।

नैयायिक लोग व्याप्तिकी प्रमाणिकताके विषयमें वेदान्तियोंके मतका अवलम्बन करते हैं। अनुभवकी एक रूपता व्याप्तिको तथ्य सिद्ध कर सकती है। परन्तु अन्वय, व्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधिनिरास, तर्क और सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति इन साधनोंके प्रयोग से ही व्याप्तिके तथ्यका यथार्थ परीक्षण किया जा सकता है।

(१) अन्वय—"तत्सत्वे तत्सत्वं अन्वयः"।

(२) व्यतिरेक—"तदभावे तदभावो व्यतिरेकः"।

(३) व्यभिचाराग्रह—उक्त दोनोंमें किसी प्रकारका व्यभिचार न होना चाहिए।

---

* Socrates is a man (सुकरात एक मनुष्य है) (Minor Premise)

† Hence Socrates is mortal (अतः सुकरात मरणशील है) (Conclusion)

(४) उपाधिनिरास—इतने साधनोंके होने पर भी व्याप्तिकी सिद्धी नहीं होती, जब तक उपाधिका निरास न हो।

(५) तर्क*—अनुकूल तर्क इनका पांचवां सहायक साधन है। धूम तथा वह्निकी व्याप्तिके लिए तर्ककी अनुकूलता है, कि यदि पर्वतमें वह्नि न होता, तो धूम नहीं होता। पर धूमकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाणसे निष्पन्न है अतः तर्क दोनोंके साहचर्यका द्योतक है। इतनेपर भी सन्देहके लिये स्थान है, पर अन्तिम साधनसे उसका सर्वथा निरास हो जाता है। इतना तो निश्चित है कि सकल मानवोंके परीक्षणका अवसर हमें न मिल सकता है और न यह साध्य ही है, तथापि सामान्य लक्षण प्रत्यासत्तिके द्वारा हम मानवता तथा मरणशीलताके पारस्परिक सम्बन्धको सिद्ध मानकर समग्र मनुष्योंको मरणशील बनानेका अधिकारी हो सकते हैं। इतने उपयोंसे इस प्रकार प्रमाणित होनेसे ही व्याप्तिकी सत्यता माननेमें कथमपि संकोच न होना चाहिए।

Syllogism (अवयवघटित वाक्य न्याय)—पाश्चात्य अनुमानमें आकारगत सत्यताकी ही उपलब्धि होती है। तात्विक सत्यताकी आवश्यकता नहीं मानी जाती। परन्तु अनुमानमें दोनों प्रकारकी सत्यताओंका होना अनिवार्य रहता है। पश्चिमीय तार्किक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं। (१) निरपेक्ष वाक्य (Categorical), (२) काल्पनिक (Hypothetical) और (३) वैकल्पिक (Disjunctive)। पश्चिमीय न्यायमें केवल तीन वाक्योंसे अनुमानकी पूरी प्रक्रिया निष्पन्न हो जाती है। (१) साध्य वाक्य (Major Premise) (२) पक्षवाक्य (Minor Premise) और (३) फलवाक्य (Conclusion)। पश्चिमीय न्यायमें अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक, कभी पूर्णव्यापी, कभी अंशव्यापी होकर विविधरूप धारण करता है, परन्तु भारतीय न्याय वाक्य पूर्णव्यापी भावात्मक एक ही प्रकारका होता है और सबसे महान् अन्तर भारतीय न्यायमें परामर्श (उपनय) की स्थितिसे है पश्चिमीय न्यायमें प्रथम दोनों वाक्योंका समन्वयात्मक वाक्य नहीं होता, परन्तु भारतीय न्यायमें हेतु वाक्य और उदाहरणवाक्यका एकीकरणात्मक रूप उपनयकी सत्ता नितान्त आवश्यक है। वास्तवमें परामर्श ज्ञानसे ही अनुमितिका उदय होता है। यहां हेतुके अत्यन्त महत्वपूर्ण होनेसे समस्त दोष हेतुके आभास (हेत्वाभास) पर अवलम्बित रहते हैं। परन्तु पाश्चात्य न्यायमें पक्षाभास (Elicit minor) और साध्या-

* "अविज्ञात तत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।" (न्या० सूत्र)
"व्याप्यारोपेण व्यापकारस्तर्कः" (अन्न भट्ट)
"कार्यकारण भाविमूलस्तर्कः" (तर्कभाषा)

भास (Elicit major) नामक दोषोंकी भी सत्ता स्वीकृत की गई है। परार्थानुमान भेद तथा स्वार्थानुमान भेद भी पश्चिमीय न्याय शास्त्रमें उपलब्ध नहीं होते। मोटे तौरपर दोनोंमें स्फुट भेद प्रतीत होते हैं।

आप्त आगम तथा ऐतिह्य प्रमाणके लक्षण—

"तत्र आप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेव गुणयोगद्वचनं तत्प्रमाणम्।

(च० वि० ४)

आप्तास्तावत्—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मान्नीरजस्तमसो मृषा॥

(च० सू० ११)

"ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः।" (च० वि० ८)

उपस्कार टीका—आप्तानां वचनं आप्तवचनम्। आप्ता हि अवितर्कं यथा तथा स्मृतीनां शास्त्राणां विभागं विध्यर्थवादानुवादवचनरूपं विदन्ति ये ते तथोक्ताः। शास्त्रतत्वे निःसंशयित ज्ञानसम्पन्ना इत्यर्थः। निष्प्रीत्युपतापदर्शिनः—नस्तः प्रीत्युपतापौ यत्र तत् यथा तथा द्रष्टुं भूतानि शीलमेषां ते निष्प्रीत्युपतापदर्शिनः भूतेषु रागद्वेषशून्या एवंभूताः भवन्ति। एवं गुणयोगात् तेषां-आप्तानां यद्वचनं तत्प्रमाणम्। तथाविधाः पुरुषाः—अव्याहतज्ञानदृशा तत्वमुपलभ्य भूतेभ्यस्तत-यथा-यथमेव उपदिशन्ति ×× ×××। ये तपोज्ञानबलेन रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः-निःशेषेण मुक्ताः। येषां ज्ञानं त्रिकालं अतीतानागतवर्तमानविषयं। अमलं-अवितथं यथार्थग्राहित्वात्। सदा अव्याहतं क्वचित् अप्राप्तबाधं ते आप्ताः शिष्टाः विबुद्धाश्च। साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः तया प्रवर्तते-इत्याप्ताः। कार्याकार्य-प्रवृत्तिनिवृत्ति-उभयदेशेन सर्वान् शासति इति शिष्टाः। बोद्धव्यं-विशेषण बुद्धमेतैरिति विबुधाः, तेषां आप्तानां वाक्यं-उपदेशः असंशयं-निश्चितं-

सत्यम्। तद्वाक्यसत्यत्वे हेतुमाह—वक्ष्यन्ती—निर्गते रजस्तमसी येभ्यस्ते निरजस्तमसः, ते कस्मात् मृषां असत्यं वक्ष्यन्ति ? न कस्मादपि। असत्यं हि राग-द्वेषाभ्यां मिथ्याज्ञानाद्वा अभिधीयते। तच्च त्रितयं रजस्तमोनिर्मुक्ते विदितसकलत्वे पुरुषे न संभवति।

ऐतिह्यमाह—अथैतिह्यमिति। इति ह ऊचुर्वृद्धाः-इति ऐतिह्यं, आप्तोपदेशः—आप्तवचनं। ×××××। शब्दः-लौकिक वैदिकसाधारण वाक्यरूपः, तद्विशेषः ऐतिह्यं-प्रमाणवाक्यम्।

गंगाधरः—तत्रेति—आप्ताहीत्यादि। हि-यस्मात्—अवितर्केण वितर्क ऊहापोहात्मकस्तं वितर्कं बिना सदैवाविच्छेदेन युक्तज्ञानेन त्रैकालिकानां सर्वेषामेव भावानां तत्वेन स्मृत्या विभागं सदसद्रूपत्वं विदन्ति ये ते अवितर्कस्मृतिविभागविदः, आप्ता इति चेत् तदा देवग्रहजुष्टाअप्यवितर्कस्मृतिविभागविदः, किमाप्ता इत्यत आह—निष्प्रीत्युपतापदर्शिन इति। प्रीत्युपतापाभ्यां निर्गता—निष्प्रीत्युपताया ये द्रष्टुं शीलवन्तस्ते त्वाप्ताः। देवग्रहजुष्टा-उपतप्ता देवग्रहेण यदुच्यते त्रैकालिकं ते तद्वदन्ति। ये चावितर्कस्मृतिभ्यां प्रीत्या वदन्ति ते च नाप्ताः। ×××××। आप्तास्तावदित्यादि रजस्तमोभ्यां। तपस्तपस्या ज्ञानं योगसमाधिसिद्धिजातं तत्वज्ञानं, तदेव बलमिति। तपोज्ञानबलेन ये रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः-निशेषेण मुक्ताः, एवं येषांविनापि तपोज्ञानबलं त्रैकालममलं अव्याहतं ज्ञानं सदा वर्तते, ते तपोयोगसमाधिसिद्धा महर्षयो ब्रह्मादयश्च आप्ता उच्यन्ते; शिष्टा विबुद्धाश्चेत्यनर्थान्तरम्। वात्स्यायनश्चाह—"आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टमर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्तत इत्याप्ताः।" ××××× शिष्टा इति। स्वशक्तिबलेन कार्याकार्यं, हिताहिते, नित्यानित्ये प्रवृत्ति निवृत्त्युपदेशस्य चिकिर्षया, प्रयुक्ता यथार्थसाधनमर्थस्य शिष्टिः, तया प्रवर्तते इति शिष्टाः - एवं विबुधा इति। विशिष्टा यथार्थभूताबुद्धिस्तया प्रवर्तन्ते ये ते विबुधा इति। तत्र प्रश्नः—सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादिति ? तत्रोत्तरं-नारजस्तमसो मृषा। तपोज्ञानबलेन सहजत्वेन च रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तित्वादरजस्तमसो जनस्य न मृषावचनमस्ति। ×××××। अमृषा-

नास्ति मृषा वचनं येषां ते। ×××× । ये पुनस्तपोज्ञानबलेन रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्ते कथं सत्यमेव वक्ष्यन्तीतिचेन्न। तपोयोगसमाधिसिद्धौ परमेश्वरसाक्षात्करणेन तदुज्ज्वलितचित्तत्वात्। सांख्ये कपिलेनाप्युक्तं— "योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः"। ××××××× । एवं रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः—योगिनो भवन्ति। लौहवत्, स्पर्शमपि स्पर्शनेन यथा लौहस्य मलापहरणेन सुवर्णभावादुज्ज्वलितत्वं तीक्ष्णत्वं वा तथान्तःकरणस्येति कपिल वचनेन स्पष्टंरजस्तमोभ्यां निर्मुक्तित्वमिति। ×××××। आप्तवचनं वेदादिकमिह वक्ष्यते। कपिलेनाक्षपादेन चोक्तम्—"आप्तोपदेशः शब्दः" इति। तत्र शब्द्यते—उपदिश्यते यो ऽ र्थः स शब्दः इत्यविरोधः। ××××।

चक्रपाणिः—××× अवितर्केत्यादि। वितर्कः कथन्ताऽनिश्चित ज्ञान-मिति यावत्। स्मृति-स्मरणज्ञानं। विभागः-एकदेशः। एतद्विपर्यया-न्निश्चयेनानुभवेन च कार्त्स्येन च ये भावान् जानते तेऽवितर्कस्मृति विभागविदः, वितर्क वेदी तु नाप्तः प्रतिपाद्य वस्त्वविशेषविशेषाविज्ञानात्। स्मृतिज्ञानं च यद्यपि प्रमाणमूलमेव, तथापि वर्तमानलक्षणे स्मृतिज्ञान विषयार्थस्य नावश्यं विद्यमानतेति न तत् प्रमाणमिति भावः। किं वा स्मृतिज्ञानं-स्मृति शास्त्रजं ज्ञानं गणितज्ञानञ्च। एतच्च ज्ञानद्वयं साक्षा-दर्थदर्शकं दुरवबोधेनमिथ्याज्ञानत्व संभवात्-अप्रमाणमपि इति नोपदेयम्। अथ सम्यग् ज्ञानवन्तो ऽ पि रागादिवशादन्यथा व्याहरन्तीत्याह-निष्प्री-त्युपतापदर्शिन इति; निष्प्रीत्या-निरुपतायेन च द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, एतेन यथार्थदर्शी निर्दोषश्चाप्तो भवतीति-उक्तं भवति"। ××××।

आप्त आगम तथा ऐतिह्य प्रमाण के लक्षण—

भावार्थ—आप्तोंके वचनको आप्तवचन, आप्तोपदेश तथा आप्तप्रमाण कहते हैं। राग (प्रीति) और द्वेष (उपताप) से शून्य दृष्टि और विचारवाले आप्तजनों-के शास्त्रों (स्मृतियों) का ज्ञान और सदसद्का विभाग अवितर्क होता है। इन गुणों (रागद्वेषसे शून्य तथा शास्त्रके सद्सद् विभागका अवितर्क ज्ञान) से युक्त होनेके कारण उनके जो भी वचन या उपदेश होते हैं वे प्रमाण माने जाते हैं। ऐसे पुरुष अव्याहत ज्ञान चक्षुसे तत्वोंका ज्ञान कर सभी प्राणियोंके कल्याणके लिये ज्योंका त्यों उपदेश करते हैं (चरक विमान)। तपस्या और ज्ञान बलसे अपने मानसिक दोष रज और तमको जिन्होंने दूर कर दिया है, जिन्हें तीनों

कालों (वर्तमान, भूत और भविष्य) का ज्ञान है ; जिनका ज्ञान अमल अर्थात् दोषरहित है तथा जिनका ज्ञान बाधारहित (अव्याहत) है, वे पुरुष आप्त, शिष्ट तथा विबुद्ध कहलाते हैं। "अर्थों के साक्षात्करणको आप्ति कहते हैं और इस कार्यको करनेवाले आप्त कहलाते हैं। कार्य और अकार्य प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि उपदेशके द्वारा शासन करनेसे वे शिष्ट कहलाते हैं। बुद्धिगम्य विषयोंके विशेष ज्ञान करनेसे 'विबुद्ध' कहे जाते हैं।" (वात्स्यायन)। ऐसे आप्त पुरुषोंके उपदेश तथा वचन संशयरहित, निश्चित और सत्य होते हैं। इनके अन्दर रजोगुण तथा तमोगुणका अभाव होनेसे ये कभी मिथ्या नहीं कह सकते। असत्य तो रागद्वेष तथा मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न होता है और ये तीनों दोष रजस्तमोनिर्मुक्त होने पर, उस पुरुषमें नहीं रह सकते अतः ऐसे पुरुषको असत्य बोलनेका कोई कारण नहीं। वे सदा सत्य और संशयरहित उपदेश करते हैं। ऐसे पुरुषके वाक्योंको ही 'ऐतिह्य' कहते हैं। 'ऐतिह्य'का अर्थ है (इति) ऐसा (ह) निश्चयपूर्वक (ऊचुः) कहा है (वृद्धाः) बड़ोंने। शब्द तीन प्रकारके होते हैं। (१) लौकिक, (२) वैदिक और (३) साधारण। इनमें जो विशेष होता है वह 'ऐतिह्य' प्रमाण वाक्य होता है। आगम प्रमाण भी इसीको कहते हैं।

वक्तव्य—"आप्तोपदेशः शब्दः" (न्याय वार्तिक)। आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयोक्ता उपदेष्टा" (न्या० वा०)। "आप्तवाक्यं शब्दः" (तर्कसंग्रह)।

किसी आप्त पुरुषके उपदेशको शब्द कहते हैं। आप्तजन साक्षात्कृतधर्मा होते हैं और यथादृष्ट विषयको दूसरोंको ज्ञान करानेकी इच्छासे उपदेश करते हैं।

आप्तोपदेशके दो भेद होते हैं:—[१] लौकिक, [२] वैदिक। [१] लौकिक शब्द—लौकिक पुरुषोंके वाक्य—होते हैं और (२) वैदिक शब्द श्रुतिके वाक्य होते हैं। पदके समूहको वाक्य कहते हैं और 'पद' शक्तिसे सम्पन्न होता है। ईश्वर का यह संकेत कि इस पदसे यह अर्थ समझा जायगा 'शक्ति' कहलाती है। आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि वाक्यके अर्थ जाननेके हेतु हैं। अभिधा और लक्षणा भेदसे शक्ति दो प्रकारकी होती है।

वैशेषिक, जैन तथा बौद्ध 'शब्द'को यथार्थज्ञानके लिये स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। महान् बौद्ध तार्किक दिङ्नाग 'शब्द'के सम्बन्धमें कहता है कि यह स्वतंत्र प्रमाण नहीं हो सकता ; क्योंकि वह आप्त पुरुष जिसके वचनको 'शब्दप्रमाण, मानते हैं, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमानके द्वारा ही उपलब्ध हुआ होता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमानके द्वारा प्रमाणितवचन जब कोई पुरुष कहता है तभी हम उसमें विश्वास करते हैं। आप्त पुरुषकी परिभाषामें भी साक्षात्कृतधर्मा अर्थात्

जिसने विषयोंको प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसा कहा गया है। अतः जो वचन प्रत्यक्ष तथा अनुमानके बलपर कहा गया हो उसे पृथक् स्वतन्त्र रूपसे प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकोंके शब्द प्रमाणका समर्थन सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त करते हैं। परन्तु ये लोग भी, नैयायिकोंने जो लक्षण शब्दके किए हैं, उससे मतभेद रखते हैं। ये लोग 'शब्द' से 'वेद' तथा अन्य उसके सदृश शास्त्र जो सत्य ज्ञानको देते हैं और वेदोंका खण्डन नहीं करते, उसे मानते हैं। ये 'वेद' को प्रमाण इसलिये नहीं मानते कि वह किसी विश्वस्त या आप्त पुरुष द्वारा कहा या लिखा गया है परन्तु इसलिए कि वह अपौरुषेय तथा अनादि है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है जो जगत्में स्वयं प्रकट हुआ है। किसी व्यक्ति विशेषने उसे प्रकट नहीं किया है। ये लोग किसी भी व्यक्तिके, चाहे वह कितना भी विश्वस्त क्यों न हो, उपदेशको 'शब्दप्रमाण' नहीं मानते। पर नैयायिक वेदका कोई रचयिता मानता है। वह भी वेदको ईश्वरकृत मानता है और वेदके उपदेशको प्रमाण इसलिए मानता है कि वह ईश्वरकृत है और वह ईश्वरमें विश्वास करता है। परन्तु वह इससे मनुष्यको विश्वासी होनेसे तथा उनके वाक्योंको प्रमाण होनेसे रोकता नहीं। नैयायिक उनके वाक्योंको भी प्रमाण मानता है जो विश्वासी तथा आप्त हैं। जहां प्रत्यक्ष तथा अनुमानके द्वारा काम नहीं चलता वहां ऐसे आप्तजनोंके उपदेशको नैयायिक प्रमाण मानते हैं अतः नैयायिक दो प्रकारका शब्द प्रमाण मानता है, जैसे—(१) लौकिक और (२) वैदिक।

युक्तिके लक्षण—

"जलकर्षणबीजर्तु संयोगात् शस्यसंभवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा ॥
मथ्यमन्थकमन्थान संयोगादग्निसंभवः।
युक्तियुक्ता चतुष्पाद संपद् व्याधिनिबर्हणी ॥
बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥

(चरक सू० ११)

उपस्कार टीका—अथ युक्तिरभिधीयते। युक्तिः सुखज्ञानार्थमादौ उदाहरणमाह- जलेति। जलं कर्षणं कर्षणसंस्कृता भूमिः। बीजं—ऋतुः

कालश्च, तेषां संयोगाद् यथा शस्यानां संभवः, तथा षण्णां धातूनां पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मना संयोगात् गर्भाणां संभवः इतीयं युक्तिः। उदाहरणान्तरमाह - मथ्येति। मथ्यं-मन्थनार्थमधः स्थं काष्ठं। मन्थकः-पुरुषः। मन्थानं ऊर्ध्वस्थं भ्राम्यमानं काष्ठं तेषां संयोगात् यथा अग्निसम्भवः एवं चतुष्पान् संपत्। संपदिति भिषगादीनां गुणवत्त्वख्यापनार्थम्। तेन गुणवद् भिषगादिचतुष्टयं इत्यर्थः। भिषगादिपाद चतुष्टयसंपत युक्तियुक्तो सती व्याधिनिबर्हणी व्याधि प्रशम कारिणी। युक्त्या युक्ता-युक्तियुक्ता। चतुष्पाद् भेषजात् आरोग्यं युक्त्या उपपाद्यते इत्यर्थः। युक्तेर्लक्षणमाह - बुद्धिरिति। या बुद्धिः, बहुकारणयोगः बहुकारणोपपत्तिः—तज्जान् भावान् पश्यति कारणोपपत्त्या अविज्ञात तत्वान् अर्थान् ज्ञापयतीत्यर्थः। सा बुद्धिः युक्तिः। त्रिकाला वर्तमानातीतानागतविषया। युक्त्या त्रिकालं अर्थाः गृह्यन्ते। यया युक्त्या त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गः गणः साध्यते। युक्त्यैव लोकः त्रिवर्गानुष्ठाने प्रवर्तते। युक्तो हि प्रमाणत्वेन उपन्यासः वस्तु परिच्छेदे प्रमाणसहायत्वेन व्याप्रियमानत्वात्। वस्तुतस्तु युक्तिर्न प्रमाणान्तरम्। व्याप्तिरूपा हि सा अनुमानं उपकरोति। तथा च—"अनुमानं हि युक्त्यपेक्षस्तर्कः" इति (च० वि० ८) एवं युक्तिरनुमाने अन्तर्भवति।

भावार्थ—जल, कर्षण (जोती हुई भूमि) बीज, ऋतु और काल इनके संयोगसे जिस प्रकार शस्य (धान या अन्न) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ६ धातुओं—पंच महाभूत और आत्माके संयोगसे गर्भकी उत्पत्ति होती है, यह युक्ति है। मथ्य (नीचेका काष्ठ) मंथक (मथने वाला पुरुष) और मंथान (ऊपरका घूमने वाला काष्ठ) के संयोगसे जिस प्रकार अग्निकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार चतुष्पात् संपत्से अर्थात् गुणवान् भिषक्, औषध, रोगी और परिचारकके संयोगसे रोगकी शान्ति तथा आरोग्यलाभ होता है। युक्तिसे युक्तको युक्तियुक्त कहते हैं। चतुष्पाद् समन्वित चिकित्साके संयोगसे (युक्तिसे) आरोग्यलाभ होता है। इन दो उदाहरणोंको देखकर पुनः युक्तिका लक्षण कहते हैं—"अनेक कारणोंके संयोगसे उत्पन्न हुए भावोंको जो बुद्धि कारणोपपत्तिसे देखती है अर्थात् ज्ञान कराती है उसे युक्ति कहते हैं। इस युक्तिके द्वारा तीनों कालोंके विषयोंका ज्ञान होता है। इसमें त्रिवर्गकी सिद्धि होती है।

वक्तव्य—वस्तुतः युक्ति प्रमाणान्तर नहीं है। यह अनुमान प्रमाणकी अनुग्राहिका मात्र है। यह व्याप्ति रूपसे अनुमानकी सहायता करती है। इस प्रकार युक्तिका अन्तर्भाव अनुमानके अन्दर हो जाता है। विज्ञात अर्थमें कारण और उपपत्तिको देखकर अविज्ञात अर्थमें उसी प्रकार कारण और उपपत्तिको समझना या लागू करना 'युक्ति' है। ऊपरके कहे हुए दोनों उदाहरणोंमें यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार जोती हुई भूमिमें ऋतुके अनुकूल समयपर बीज बोया जाय और उसे समयपर जल प्राप्त हो तो देखा जाता है कि शस्य (अन्न) की उत्पत्ति होती है। यह विज्ञात अर्थ है। इस विज्ञात अर्थमें जो कारण और उपपत्ति दृश्यमान हैं उस कारण और उपपत्तिका अन्यत्र अविज्ञात अर्थमें भी अवधारण अर्थात् यह कहना कि जिस प्रकार जलकर्षणादि कारणोंके समुचित तथा सामयिक संयोगसे शस्य रूपी कार्य (उपपत्ति) की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार पांचभौतिक शुक्रार्तवके ऋतुकालमें शुद्ध गर्भाशयमें संयोग होनेसे गर्भकी उत्पत्ति होती है; यह युक्ति है।

उपमानके लक्षण—

"अथौपम्यम्। औपम्यं नाम तद्यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्। यथा दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुः स्तम्भस्य, इष्वासेनारोग्यस्येति॥" (च० वि० ८)

उपस्कार टीका—अथौपम्यमिति। सादृश्यमधिकृत्य अन्येन प्रसिद्धेन अन्यस्याप्रसिद्धस्य प्रकाशनम्। प्रसिद्धस्य सादृश्येनाप्रसिद्धस्याप्रकाशनं औपम्यं उपमानम्। तदुक्तमक्षपादेन—"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" (न्याय दर्शन १।१।६)। उदाहरणं यथेत्यादि। दण्डेन दण्डकस्य वातव्याधिभेदस्य प्रकाशनम्। दण्डः प्रसिद्धः तत्सादृश्येन दण्डकस्य प्रज्ञापनम्। धनुः प्रसिद्धं तत्सादृश्येन धनुः स्तम्भस्य प्रकाशनम्। दण्डवत् दण्डको व्याधिः, धनुस्तुल्यश्च धनुः स्तम्भ इति आप्तात् केनचित् श्रुतम्। ततः स आतुरं दण्डवत् स्तब्धगात्रं दृष्ट्वा दण्डवत् स्तब्ध गात्रत्वात् अस्य दण्डको व्याधिः। धनुस्तुल्यगात्रं दृष्ट्वा धनुस्तुल्यगात्रत्वात् अस्य धनुस्तम्भ इति अवधारयति। इह प्रसिद्धस्य दण्डस्य सादृश्येन अज्ञातस्य दण्डकस्य ज्ञानम्। धनुषः सादृश्यमेव धनुस्तम्भस्य च। तच्च औपम्यम्। एवं इष्वासेन धनुष्केण तत्सादृश्येनारोग्यदस्य वैद्यस्य प्रकाशनम्। उक्तं च महाचतुष्पादे—"यथा हि योग-

ज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमपास्यन् नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधो भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यम्। तथा भिषक् स्वगुणसम्पन्नं उपकरणवान् वीक्ष्य कर्म आरंभमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्येवे-वातुरमारोग्येण।" (च० सू० १०)। इह इष्वासस्य सादृश्येन आरोग्यदस्य वैद्यस्य ज्ञापनम्।

चक्रपाणिः—यदन्येनेत्यादौ अन्येनेति प्रसिद्धेन। अन्यस्येत्याप्रसिद्धस्य सादृश्यमधिकृत्येति सादृश्यं प्रतिपाद्यं संज्ञासज्ञिसम्बन्धं प्रतिकारणतया अधिकृत्य। यदा तु भट्टनयेन उपमानं व्याख्येयं तदा सादृश्यं प्रतिपाद्यतया अधिकृत्येति योजनीयम्। तेषां 'सादृश्य प्रतिपत्तिः' उपमानार्थः। न्याये च 'संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीतिः' उपमानफलम्, तच्च प्रथम व्याख्यानात् भवति। उक्तं हि तत्र "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।"

भावार्थ—उपमानके लक्षण—किसी प्रसिद्ध वस्तुके सादृश्यसे अप्रसिद्ध वस्तुके सादृश्यका मिलान कर उसे प्रकट करना 'उपमान' कहलाता है। जैसे—दण्डको देखकर दण्डक रोगका और धनुषको देखकर धनुस्तम्भ व्याधिका प्रकाश करना तथा धनुर्धरके अभिष्ट वैद्यको देखकर आरोग्य देनेवाले वैद्यका प्रकाश करना इत्यादि। इस उदाहरणमें प्रसिद्ध दण्डको देखकर अज्ञात दण्डक रोगसे आक्रान्त रोगीको देखकर दण्डके सादृश्यसे दण्डक रोगका प्रकाश करना तथा धनुषके सादृश्यसे अप्रसिद्ध धनुस्तम्भका प्रकाश करना 'उपमान' प्रमाण द्वारा हुआ देखा गया है। जिस प्रकार एक अभ्यस्त तीरन्दाज़ अपने लक्ष्यके वेधमें कभी असफल नहीं होता उसी प्रकार क्रिया कुशल वैद्य अपने कार्यमें अर्थात् आरोग्य लाभ करनेमें असफल नहीं होगा; यह अन्दाजा अर्थात् इष्वासुके कार्य सिद्धिके सादृश्यसे आरोग्यदाता वैद्यका प्रकाश करना उपमान है।

वक्तव्य—उपमितिका कारण उपमान है। किसी नामके उस नामवाली वस्तुसे सम्बन्धके ज्ञानको उपमिति* कहते हैं। उसका कारण सादृश्य ज्ञान है। पहले सुने हुए विश्वस्त पुरुषके वाक्यके अर्थका स्मरण भी इसमें कारण होता है। जैसे—किसी मनुष्यने यह जानना चाहा कि 'गवय' शब्दका क्या अर्थ है। उसने किसी वनवासी पुरुषसे सुना कि 'गवय' गौके सदृश होता है। जब वह वनमें गया और उस वाक्यको स्मरण रखते हुए उसने एक ऐसे पशुको देखा जो गौके सदृश था तो उसको यह ज्ञान हो गया कि वह 'गवय' है। इसी

* "संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध ज्ञानमुपमितिः।" (न्य० द०)

प्रकार किसी ऐसे रोगीको देखकर जिसका शरीर दण्डके समान अकड़ (स्तब्ध हो) गया है, प्रसिद्ध दण्डसे अकड़नका स्मरण कर या दण्डक रोग लक्षणका स्मरण कर यह समझ लेना कि उसका रोग दण्डक है तथा प्रसिद्ध धनुषके लक्षणका स्मरण कर अप्रसिद्ध धनुस्तम्भ रोगका ज्ञान करना इत्यादि। इस ज्ञानका नाम उपमिति है।

यह नैयायिकोंका तीसरा प्रमाण है। पहले अनुभूत किसी वस्तुके साथ सादृश्य धारण करनेके कारण जहाँ किसी नई वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'उपमान' कहते हैं। अथवा प्रसिद्ध सादृश्यके बलपर जहाँ संज्ञा तथा संज्ञिका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसे 'उपमान' कहते हैं। वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध तथा जैन विचारक इस प्रमाणकी पृथक सत्ता नहीं स्वीकार करते। वे इसे प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्दके ही अन्दर अन्तर्निहित बतलाते हैं। 'उपमान'के सम्बन्धमें मीमांसकोंका विचार नैयायिकोंसे भिन्न है। ये कहते हैं कि 'गौ'के प्रत्यक्ष ज्ञानसे उसके सादृश्यका 'गवय'में ज्ञान करना अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानसे प्राप्त 'गौके सादृश्य'का 'गवयके सादृश्य'से परिचय तथा अनुभव करना 'उपमान' है। 'गवय'को देखकर यहाँ नया ज्ञान होता है कि यह गौके सदृश है और इस ज्ञानका कारण वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो इस सादृश्यको, कि 'गवय गौके सदृश होता है' स्मरण कराता है। यह विचार अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि इसके अभावमें प्रमाताको कोई नया ज्ञान प्राप्त हुआ है, यह अर्थ नहीं निकलता। यदि इस परिभाषाको न मानें तो कोई भी 'गवय' के प्रत्यक्ष किये बिना ही यह कह सकता है कि यदि 'गवय' गौके सदृश होता है तो गौ भी 'गवय'के सदृश होगी।

उपमानके स्वतन्त्र प्रमाण होनेमें युक्ति—उन विचारकोंके उत्तरमें, जो उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते, नैयायिक निम्न युक्ति देते हैं। यह 'गवय' है इस विषयका ज्ञान 'गवय' के प्रत्यक्ष होने मात्रसे (ज्ञानेन्द्रिय सन्निकर्ष मात्रसे) नहीं हो सकता, जबतक प्रमाताको यह ज्ञान न हो कि 'गवय गौके सदृश होता है'। क्योंकि गवयका प्रत्यक्ष होना गवय ज्ञानका कारण नहीं होता, अपितु 'गवय' के प्रत्यक्ष होनेपर 'गौके सादृश्य' का स्मरण अर्थात् जो लक्षण गौमें है वही लक्षण 'गवय' में भी होता है, यह स्मरण गवयके ज्ञानके प्रति कारण होता है, यहाँ अर्थका इन्द्रियोंके साथ सन्निकर्ष होना उतना महत्व नहीं रखता, जितना पहले प्राप्त हुए सादृश्य ज्ञानका स्मरण महत्व रखता है। अतः 'उपमान' को ज्ञानके प्रति स्वतन्त्र कारण मानना पड़ता है। नैयायिकोंका कहना है कि इसका अन्तर्भाव अनुमानमें कथमपि नहीं हो सकता; क्योंकि व्याप्तिके बिना अनुमानकी सिद्धि नहीं होती और 'उपमान' में व्याप्तिकी कोई आवश्यकता

नहीं ; क्योंकि 'गवय' और 'गौ'का कोई साहचर्य नियम या सम्बन्ध नहीं होता। जो लोग उपमानके अन्दर व्याप्ति है, ऐसी गलती करते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि उसमें व्याप्ति नहीं होती ; उसके अन्दर तो एक सूचना जो किसीके द्वारा प्राप्त हुई होती है, होती है। उपमान 'शब्द-प्रमाण'के अन्दर भी नहीं आ सकता क्योंकि शब्द-प्रमाणमें यह आवश्यक नहीं कि वह अर्थ जिसका ज्ञान करना है प्रमाताको प्रत्यक्ष हो। वस्तुतः शब्दका तो कोई अर्थ ही नहीं रह जाता जब अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है।

उपमान पाश्चात्य विचारकोंके 'एनालोजी' (Analogy) से भिन्न है। भारतीय तथा पाश्चात्य तर्कशास्त्रके छात्रोंको यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि भारतीय तर्कशास्त्रका 'उपमान' पाश्चात्य तर्कशास्त्रके 'एनालोजी'से समानता नहीं रखता। पाश्चात्य विचारक इस विचारको निम्न प्रकारसे रखते हैं। जैसे— 'क' 'ख' के समान है। 'ख' के अन्दर 'ग' लक्षण है, अतः 'क' के अन्दर भी 'ग' लक्षण होना चाहिये। अर्थात् प्रमाता आशा करता है कि अमुक लक्षण और गुण अमुक अर्थ या वस्तुमें इसलिये होना चाहिये, क्योंकि वे लक्षण और गुण अन्य अर्थ या वस्तुमें वर्तमान है जो उक्त अर्थ या वस्तुसे सादृश्य रखता है। इस प्रकारके विचारसे उपमान सम्बन्धी भारतीय विचार बिलकुल भिन्न है।

अर्थापत्ति या अर्थप्राप्तिके लक्षण—

"अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यार्थसिद्धिः। यथा—नायं संतर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति। नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिर्निशि भोक्तव्यमिति।

(च० वि० ८)

उपस्कार टीका—अथार्थप्राप्तिरिति। यत्र एकेनार्थेन उक्तेन अपरस्यानुक्तस्यापि अर्थस्य तत्र प्रसक्तस्य सिद्धिर्भवति सा अर्थप्राप्तिः। गौतमीये इयं अर्थापत्तिर्नाम। अयं व्याधिः न सन्तर्पणसाध्यः इत्युक्ते अपतर्पणसाध्योऽयमिति व्याधेरपतर्पण-साध्यत्वमनुक्तमपि सिध्यति। "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" इति उक्ते रात्रौ भुङ्क्ते इति अनुक्तमपि अर्थादापद्यते॥

भावार्थ—जहां एक अर्थ (विषय) के कहनेसे दूसरे न कहे हुए अर्थ (विषय) की सिद्धि हो, उसे अर्थप्राप्ति या अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे—यह व्याधि संतर्पण साध्य नहीं है, यह कहनेसे अपतर्पणसाध्य है, यह अर्थ प्राप्त

होता है। तथा इस रोगीको दिनमें नहीं खाना चाहिये यह कहनेसे रात्रिमें खाना चाहिये, इस अर्थकी सिद्धि होती है।

वक्तव्य—मीमांसक तथा वेदान्ती लोगोंका कहना है कि 'अर्थापत्ति' नामक पांचवें प्रमाणका स्वतन्त्र रूपसे ग्रहण भी यथार्थ ज्ञानके लिये आवश्यक है। इस प्रमाणके द्वारा एक अज्ञात तथ्यका हमें ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे—जब हम प्रातःकाल सोकर उठे तो देखा कि सारी जमीन आर्द्र (भीगी) है। इस भीगी हुई जमीनसे हमने यह समझ लिया कि रात्रिमें वर्षा हुई होगी। इसी प्रकार किसी के यह कहनेपर कि मोटा देवदत्त दिनमें भोजन नहीं करता, तो हम यह समझ लेते हैं कि रात्रिमें यथेष्ट भोजन कर लेता होगा। तथा किसी परिचित व्यक्तिके खोजनेपर पता चला कि वह घरपर नहीं है; इससे यह कल्पना कर लेते हैं कि कहीं बाहर गया होगा। इत्यादि। अर्थापत्ति एक प्रकारकी आवश्यक कल्पना (Hypothesis) है, जिसके बिना कुछ ज्ञात तथ्यको समझना असम्भव-सा है। परन्तु नैयायिक इस तरहकी अर्थापत्तिको एक प्रकारका अनुमान मात्र मानता है; क्योंकि इसमें किसी प्रत्यक्ष किये हुए अर्थका अनुमान उसके नित्य सम्बन्धके द्वारा करते हैं।

अनुपलब्धि या अभाव-प्रमाणके लक्षण—

कुमारिल भट्टके अनुयायी मीमांसक तथा वेदान्ती छठा प्रमाण अनुपलब्धि (Non apprehension) मानते हैं। इस प्रमाणके द्वारा हमें अभावात्मक विषय (Non-existence of objects) का ज्ञान होता है। जैसे—'टेबल पर दवात नहीं है' इसका ज्ञान तथा 'मैं क्या हूं यह मुझे मालूम नहीं' इत्यादि, नैयायिक इस तरहके ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञानके अन्तर्गत मानते हैं। उनका कहना है कि जिस इन्द्रिय द्वारा जिस अर्थका ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय द्वारा उसके अभावका भी, अतः यह अभावात्मक ज्ञान भी इन्द्रिय-सन्निकर्षसे ही होनेके कारण प्रत्यक्षके अन्दर ही है। अनुपलब्धि तथा अभाव नामक स्वतन्त्र प्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं।

ऐतिह्य प्रमाणके लक्षण—ऐतिह्य एक परम्परा है, जो वंशानुवंशक्रमसे अतीतकालसे चला आ रहा है। यह कैसे आया, यह कहना कठिन है। इसके कारणका कोई पता नहीं चलता। हमारी बहुत-सी धारणाएँ परम्परापर ही अवलम्बित हैं। पौराणिक लोग इस ऐतिह्यको ज्ञानका कारण मानते हैं। नैयायिकोंके मतसे यह एक प्रकारका 'शब्द' है पर शब्द प्रमाण नहीं। क्योंकि यह क्या पता है कि यह परम्परागत उपदेश आप्त द्वारा ही वर्णित है।

चेष्टा (Gesture)—चेष्टाके द्वारा भी ज्ञानकी उपलब्धि होती है। जैसे—एक गूंगेकी चेष्टा (आकृति) को देखकर यह ज्ञान होना कि वह भूखा

है। कई बार मनुष्यके आकार-प्रकार (Gesture and Posture) से उसके विचारोंका ज्ञान हो जाता है। नैयायिक इसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानता। इसे एक प्रकारका अनुमान मानता है, क्योंकि इसमें किसी लिङ्ग विशेषसे उस लिङ्गके रखनेवाले (लिङ्गी) का ज्ञान होता है।

परिशेष (Elimination)—इस प्रमाण द्वारा किसी अर्थसमुदायसे अनभीष्ट अर्थोंको हटा-हटाकर अभीष्ट अर्थका ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे—किसी व्यक्तिको किसी समुदायसे ढूंढ़ निकालते हैं। यह जाननेपर कि वह व्यक्ति उस समुदायमें है, उस समुदायके सभी परिचित व्यक्तियोंको हटाकर जो अपरिचित व्यक्ति था, उसे ढूंढ़ निकालना। नैयायिक इसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं।

सम्भव (Inclusion)—चाकूके ज्ञानसे चाकूमें जुड़े हुए बेंतका या धारका भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार उस वस्तुका ज्ञान सम्भव प्रमाण द्वारा होता है जो किसी वस्तुमें जुड़ा रहता है। जैसे—फुटके ज्ञानसे इंचका भी ज्ञान होना सम्भव है। नैयायिक लोग इसे भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते।

परिशिष्ट—

प्रमाण विवरणमें आये हुए कुछ पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या:—

बुद्धिः* (Knowledge)—(आत्माका) गुण-ज्ञान, जो कि सब व्यवहारोंका हेतु है, बुद्धि कहलाती है। बुद्धि दो प्रकारकी होती है (१) स्मृति और (२) अनुभव। पूर्व अनुभवके संस्कारमात्रसे उत्पन्न हुए ज्ञानको 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति भी दो प्रकारकी होती है; (१) यथार्थ, (२) अयथार्थ। प्रमासे उत्पन्न हुई स्मृति यथार्थ है और अप्रमासे उत्पन्न हुई स्मृति अयथार्थ है। स्मृतिसे अतिरिक्त ज्ञान अनुभव है। अनुभव दो प्रकारका होता है, यथार्थ और अयथार्थ।

यथार्थ अनुभव—जिस अनुभवमें जो वस्तु जिस प्रकारकी हो वह वैसी ही जानी जाय, यह अनुभव यथार्थ अनुभव है। इसे प्रमा भी कहते हैं।

अयथार्थ अनुभव—जिस प्रकारकी वस्तु हो उसका वैसा ज्ञान न होना अयथार्थ अनुभव है। जैसे सीपमें चांदीका ज्ञान। यथार्थ अनुभवके चार प्रकार होते हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति और (४) शब्द। उनके कारण भी चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण। इनकी व्याख्या पहले हो चुकी है।

---

* "सर्वव्यवहार हेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्।" (तर्कसंग्रहः)

करण†—असाधारण कारणका नाम 'करण' है। कारण—अनन्यथा सिद्ध होते हुए जो वस्तु सदा ही कार्यके उत्पन्न होनेके पूर्व वर्तमान होती है, उसको उस कार्यका कारण कहते हैं। कार्य—अपने प्रागभाव (उत्पन्न होनेके पूर्वका अभाव) के प्रतियोगी (विरोध) को कार्य कहते हैं। अर्थात् जो वस्तु पहले मौजूद न हो और अब उत्पन्न हो गई हो, उसका नाम कार्य है। कारण तीन प्रकारके होते हैं। (१) समवायि, (२) असमवायि और (३) निमित्त कारण।

समवायिकारण*—समवायि कारण वह है, जिसमें समवेत रहते हुए कार्य उत्पन्न होता है। जैसे—तन्तु पटका, और पट अपने रंग आदि गुणोंका।

असमवायिकारण•—वह है जो स्वयं समवायि न हो, किन्तु जिसके कार्य अथवा कारणके साथ एक ही वस्तुमें समवेत होनेपर कार्यकी उत्पत्ति होती हो। जैसे—तन्तुसंयोग कपड़ेका, और तन्तुओंका रंग कपड़ेके रंगका असमवायि कारण है।

निमित्त कारण‡—इन दोनोंसे भिन्न जो कारण है, उसको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे—तुरी, तन्तुवाय आदि।

उपरोक्त तीनों कारणोंमें जो किसी कार्यका असाधारण कारण हो, उसे 'करण' कहते हैं। जैसे—प्रत्यक्ष ज्ञानका करण प्रत्यक्ष प्रमाण है।

समवाय※—नित्य सम्बन्धका नाम समवाय है। वह अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है। अयुतसिद्ध¦—जिन दो वस्तुओंमेंसे एक ऐसी हो कि जबतक वह

---

† "असाधारणं कारणं करणम्" (तर्कसंग्रहः)

अनुभव (Experience)
- यथार्थ (Valid)
- अयथार्थ (Invalid)

* "तत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायि कारणम्" (तर्कसंग्रहः)

• "कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायि-कारणम्।" (तर्कसंग्रहः)

‡ "तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्।" (तर्कसंग्रहः)

※ "नित्यसम्बन्धः समवायः अयुतसिद्धवृत्तिः।" (तर्कसंग्रहः)

¦ "ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ।" (तर्कसंग्रहः)

नष्ट न हो जाये, तबतक दूसरोंके आश्रय पर स्थित रहे, उनको अयुतसिद्ध कहते हैं। जैसे—अवयवी और उसके अवयव, गुणी और गुण, क्रियावान् और उसकी क्रिया, जाति और उसकी व्यक्ति, नित्य द्रव्य और उसकी विशेषता।

पक्ष*—जिसमें किसी साध्य (अनुमान द्वारा सिद्ध किये जानेवाली वस्तु) के होनेका सन्देह हो वह पक्ष है। जैसे—पर्वत जहांपर धूमके वर्तमान होनेसे अग्निके होनेका सन्देह होता है। सपक्ष—जहांपर साध्य वस्तुका वर्तमान होना निश्चित हो। जैसे—चौका। विपक्ष—जहांपर साध्यका मौजूद होना निश्चित न हो। जैसे—जलाशय।

हेत्वाभास (Fallacy)†—सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित ये पांच हेत्वाभास हैं।

१. सव्यभिचार—अनैकान्तिक (जो कि अपने साध्यके साथ ही सर्वदा वर्तमान रहे) हेतुका नाम सव्यभिचार है। यह तीन प्रकारका होता है। (१) साधारण (२) असाधारण और (३) अनुपसंहारी।

साधारण—वह हेतु है जो अपने द्वारा साध्यवस्तुके अभावके स्थानमें भी मौजूद रहे। जैसे—पर्वतपर आग है क्योंकि पर्वत ज्ञानका विषय है। यहांपर जो हेतु (ज्ञानका विषय होना) है, वह तो वहांपर भी मौजूद है जहांपर आग नहीं होता, जैसे—जलाशय।

असाधारण—वह हेतु जो किसी भी सपक्ष या विपक्षमें वर्तमान न हो, केवल पक्षमें ही हो, जैसे—शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है। शब्दत्व तो केवल शब्दमें ही होता है और किसी नित्य या अनित्य वस्तमें नहीं होता।

अनुपसंहारी—वह हेतु है जिसके साथ न कोई अन्वयका दृष्टान्त हो न कोई व्यतिरेकका, जैसे—सब कुछ अनित्य है प्रमेय होनेके कारण। यहांपर सब कुछ पक्ष होनेकी वजहसे कोई सपक्ष या विपक्ष दृष्टान्त नहीं मिल सकता।

२. विरुद्ध—जिस हेतुके साथ उसके साध्यका अभाव हो वह हेतु 'विरुद्ध' कहलाता है। जैसे—शब्द नित्य है क्योंकि वह उत्पन्न होता है। जो जो पैदा होता है वह शब्द अनित्य है इसलिये पैदा होनेवाला अनित्य नहीं हो सकता है।

३. सत्प्रतिपक्ष—जिस हेतुके मुकाबलेमें एक दूसरा ऐसा हेतु वर्तमान हो, जो कि उसके साध्यके अभावको सिद्ध करता हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। जैसे—

* "सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः" (तर्कसंग्रह) "निश्चितसाध्यवान् सपक्षः" (तर्कसंग्रहः)

† "सव्यभिचार-विरुद्ध-सत्प्रतिपक्षाऽसिद्ध बाधिताः पंच हेत्वाभासाः।"

शब्द नित्य है सुने जानेके कारण, और शब्द अनित्य है क्योंकि वह कार्य है जैसे—घट।

५. अ्सिद्धके तीन भेद—असिद्ध हेतुके तीन भेद हैं, यथा—(१) आश्रयासिद्ध, (२) स्वरूपसिद्ध और (३) व्यापत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्ध—का उदाहरण यह है, आकाशकमल सुगन्धवाला है क्योंकि वह कमल है, जैसे तालाबका कमल। यहांपर आकाशकमल अनुमानका आश्रय है, वह स्वयं उपस्थित नहीं है।

स्वरूपसिद्ध—हेतुका उदाहरण यह है, शब्द गुण है क्योंकि वह आंखों द्वारा दिखाई देता है। यहांपर शब्दमें आंख द्वारा दिखाई देनेका गुण ही नहीं है क्योंकि शब्द तो कानसे सुनाई देनेवाली वस्तु है, आंखसे दिखाई देनेवाली वस्तु नहीं।

व्यापत्वासिद्ध—उपाधियुक्त हेतुका नाम व्यापत्वासिद्ध है। उपाधि—जो साध्यका व्यापक हो परन्तु साधनका व्यापक न हो उसे उपाधि कहते हैं। साध्यके अत्यन्त अभावका प्रतियोगी होना साध्यका व्यापक होना है। साधनके साथ साध्यके अभावका रहना साधनका अव्यापक होना कहलाता है। इस अनुमानमें कि पर्वतपर धुंआं है क्योंकि वहांपर आग है, गीले इंधनका संयोग उपाधि है। जहां धुंआ है वहां गीले इंधनका संयोग है—यह साध्य व्यापकता है। जहां अग्नि है वहां गीले इंधनका संयोग नहीं है, जैसे—लोहेके गोलेमें गीले इंधनका संयोग नहीं है। यह साधनको अव्यापकता है। इसलिये साध्यके साथ व्यापक होनेपर साधनके साथ व्यापक न होनेसे गीले इंधनका संयोग उपाधि कहलाता है। उपाधिके सहित होनेपर अग्निका होना सिद्धकरनेवाला हेतु सोपाधिक है।

६. बाधित—जिस हेतुके साध्यका अभाव दूसरे प्रमाणसे निश्चयतया सिद्ध है वह हेतु बाधित कहलाता है। जैसे आग 'गरम नहीं' है क्योंकि वह द्रव्य है। यहांपर 'गरम न होना' साध्य है। उसका अभाव (गरम होना) स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञानसे सिद्ध है। इसलिये इस साध्यको सिद्ध करनेके लिए दिया गया हेतु बाधित है।

आकांक्षा—दूसरे शब्दके उच्चारण हुए बिना जब किसी शब्दका अभिप्राय समझमें न आवे, इस प्रकारके किसी वाक्यके पदोंका सम्बन्ध आकांक्षा कहलाता है।

योग्यता—अर्थोंके परस्पर संबन्धमें बाधा न होना योग्यता है।

सन्निधि—पदोंका विना विलम्बके उच्चारण सन्निधि है।

नोट—आकांक्षा आदिसे रहित वाक्य अप्रमाण है (प्रमाण नहीं होता)—जैसे—गौ, पुरुष, अश्व, हस्ती ऐसा वाक्य आकांक्षासे रहित होनेसे प्रमाण नहीं है। 'अग्निसे सींचो' यह वाक्य योग्यता न होनेके कारण प्रमाण नहीं है। 'गौको लाओ' यह वाक्य प्रमाण नहीं होगा यदि इसके पद एक २ पहरके पीछे उच्चारण किये जावें, क्योंकि सन्निधिका अभाव हो जायगा।

अयथार्थानुभव—तीन प्रकारके होते हैं। (१) संशय (२) विपर्यय और (३) तर्क।

संशय—जिस ज्ञानमें एक ही वस्तुमें अनेक विरुद्ध धर्मोंका मौजूद होना मालूम पड़े वह संशय है। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष ?

विपर्यय—मिथ्याज्ञानका नाम विपर्यय है जैसे शुक्तिमें चांदीका ज्ञान।

तर्क—व्याप्यके द्वारा व्यापककी सिद्धि करनेका नाम तर्क है, जैसे—यदि आग न हो तो धुआँ भी नहीं होना चाहिये।

पदार्थ-विज्ञान

——⁕——
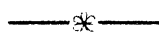
द्वितीय अध्याय

अथातः पदार्थविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः ।

वक्तव्य—पहले अध्यायमें पदार्थके यथार्थ ज्ञानके साधन प्रमाणकी परिभाषा, स्वरूप तथा उनके भेदका वर्णन किया गया है । इस अध्यायमें पदार्थका वर्णन होगा । प्रमाणोंके द्वारा प्रमाकी उपलब्धि होती है । इस "पदार्थ-विज्ञान" नामक पुस्तकमें 'पदार्थज्ञान' प्रमा है और 'पदार्थ' प्रमेय है । इस पुस्तकके पाठक (प्रमाता) पदार्थ (प्रमेय) का यथार्थज्ञान (प्रमा) प्रथम अध्यायमें कहे हुए प्रमाणों द्वारा लाभ करनेमें समर्थ हो सकें, इसलिये अब पदार्थका विवेचन प्रारम्भ किया जाता है ।

पदार्थके लक्षण—

"अभिधेयत्वं पदार्थसामान्य लक्षणम्" (तर्कदीपिका)

"प्रमिति विषया पदार्थाः" (सप्तपदार्थी)

"षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्व ज्ञेयत्वानि" (प्रशस्तपाद)

"पदप्रतिपाद्योऽर्थः" (तात्पर्य टीका)

"योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वा अर्थः पदार्थः" (सुश्रुत उत्तरतन्त्र)

भावार्थ—पदार्थका अर्थ है अभिधेय वस्तु अर्थात् किसी नामको धारण करनेवाली चीज । प्रमिति (ज्ञानका विषय) होना भी पदार्थ कहलाता है । अतः ज्ञेयत्व तथा अभिधेयत्व पदार्थका सामान्य लक्षण कहा गया है । पदार्थोंमें अस्तित्व, अभिधेयत्व, और ज्ञेयत्व होना आवश्यक है । पदके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थको पदार्थ कहते हैं । जो अर्थ सूत्र या पदमें अभिहित होता है उसे पदार्थ कहते हैं । पदका अर्थ अथवा पदोंका अर्थ पदार्थ है ।

वक्तव्य—भारतीय दार्शनिकने पदार्थके सम्बन्धमें प्रायः सामान्य रूपसे

विचार प्रकट किये हैं। पदार्थ विभाजन तथा वर्गीकरणमें अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार परस्पर भेद है। परन्तु पदार्थ क्या है इस सम्बन्धमें कोई मौलिक भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। सबोंने पदके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थको ही पदार्थ कहा है। आयुर्वेदमें पदार्थ वर्णन दो दृष्टिकोणसे किया गया प्रतीत होता है। प्रथम सृष्टिके भिन्न-भिन्न पहलुओंपर विचार करते हुए उनका वर्गीकरण करनेकी दृष्टिसे जैसे चरक सूत्रस्थानमें षट्पदार्थ वर्णन। यह वर्णन वैशेषिक दर्शनके आधारपर किया गया है। दूसरा—व्यवहारिकताकी दृष्टिसे अर्थात् आयुर्वेद-शास्त्रके सूत्रों तथा पदोंमें अभिहित अर्थोंको समझनेकी दृष्टिसे। जैसे—सुश्रुत उत्तरतन्त्र तन्त्रयुक्ति वर्णनमें। यह वर्णन मेधार्थी गौतमके आन्विक्षिकी सिद्धान्तके अनुसार है।

आयुर्वेद अध्ययन करनेवाले छात्रोंके लिए 'पदार्थके मौलिक स्वरूपका ज्ञान होना परमावश्यक है। अतः आयुर्वेदीय पदार्थ (जो वैशेषिकके आधारपर है) का ज्ञान लाभ करनेके लिए सर्वप्रथम वैशेषिक दृष्टिकोण का समझना आवश्यक है। चीन देशीय प्रसिद्ध दार्शनिक 'चिम्नान' और 'क्वेटेची'ने अपने संग्रहमें इस दर्शनके वैशेषिक नाम होनेका कारण, अन्य दर्शनोंसे (प्रधानतः सांख्यदर्शनसे) विशिष्ट तथा अधिक युक्तियुक्त होना बतलाया है। पर भारतीय विद्वानोंके अनुसार 'विशेष नामक पदार्थपर विशिष्ट कल्पना करनेके कारण 'कणाद दर्शन' का नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा। (व्यासभाष्य)। कई आचार्योंका ऐसा विचार है कि साधर्म्य और वैधर्म्यके द्वारा पदार्थोंके तत्वज्ञानके लिए उपयोगी 'विशेष' रूपके प्रतिपादन करनेके कारण ही इसका नाम वैशेषिक दर्शन है। वैशेषिक दर्शन पदार्थोंके साधर्म्य वैधर्म्यके प्रतिपादन द्वारा तत्व-ज्ञानसे निःश्रेयसकी सिद्धि करता है।

वैशेषिक दर्शनके आचार्य—इस दर्शनके सूत्रकार महर्षि 'कणाद' हैं। इनका नाम काश्यप भी है। श्री हर्षने 'नैषध'में 'कणाद दर्शन' को 'औलुक्य दर्शन' कहा है (२२-३६)। वैशेषिक सूत्रोंकी संख्या ३७० है जो दस अध्यायोंमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायमें दो आह्निक हैं। प्रशस्तपादका 'पदार्थ संग्रह' वैशेषिकतत्वोंके निरूपणके लिये नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। इसे 'प्रशस्तपाद भाष्य' भी कहते हैं। वैशेषिक दर्शनके सिद्धान्तोंपर निम्न प्रसिद्ध आचार्यों तथा विद्वानोंने टीका तथा भाष्यके रूपमें अपने विचार प्रकट किये हैं।

(१) दक्षिण देशवासी श्री व्योम शिवाचार्यकी 'व्योमवती' टीका (२) उदयनाचार्यकी 'किरणावली' (३) गौड़देशीय श्रीधराचार्यकी 'न्याय-कन्दली' (४) वल्लभाचार्यकी 'न्याय लीलावती' (५) मिथिला निवासी श्री पद्मनाभ मिश्रकी 'सेतु' (अपूर्ण), (६) दरभंगा निवासी श्री शंकर मिश्रकी

'उपस्कार या कणाद रहस्य' (७) जगदीश भट्टाचार्यकी 'सूक्ति' (८) श्री शिवादित्य मिश्रकी 'सप्तपदार्थी' (९) बंगालके प्रसिद्ध दार्शनिक विश्वनाथ तर्क पञ्चाननकी 'भाषा परिच्छेद' और "न्याय सूत्र वृत्ति' (१०) काशीस्थ वेदविद्यालयाध्यापक पं० दुण्ढिराज शास्त्रीका विवरण।

वैशेषिक तत्व मीमांसा—शताब्दियोंसे देशके मस्तिष्कमें बौद्धोंका यह विचार कि संसारके सभी पदार्थ परस्पर संयोगसे उत्पन्न होते हैं; उन द्रव्योंके अन्दर कोई विशिष्ट पदार्थ नहीं होता; इनका परस्पर संयोग ही जीवनका मूल-तत्व है, आत्मा तथा प्रकृति नामकी कोई वस्तु पृथक नहीं होती, इत्यादि प्रबल रूपसे जड़ पकड़े हुए था। अतः जब वे किसी वस्तुके सम्बन्धमें कुछ विचार प्रकट करते थे तो उस वस्तुके परिणामको देखकर उसका श्रेय उस वस्तुको ही देते थे। इस विचारधाराका वैशेषिकोंने प्रबल रूपसे विरोध किया और संसार के सामने अधिक सन्तोषप्रद अपनी व्याख्या रखी, जिसमें परवर्ती विचारकोंको अधिक वास्तविकता तथा औचित्य दिखाई पड़ा। वैशेषिकोंके विचारमें सबसे विशेषता यह रही है कि उसने जगतके पदार्थोंके परस्पर संबन्ध तथा उनकी विशेषताओंका (साधर्म्य और वैधर्म्यका) सर्वप्रथम एवं सबसे सरल और व्यापक ढंगसे वर्णन किया है। वैशेषिकोंका कहना है कि जब हम अपनी आँखें खोलते हैं तो हमारे सामने विस्तृत भौतिक जगत दृश्यमान होता है और जब हम उस भौतिक जगतकी रचनापर विचार करने लगते हैं तो उसके अन्दर एक अभौतिक द्रव्यकी भी प्रतीति होती है अर्थात् उस जगतके रचयिता (चेतन तत्व) का अनुमान होता है। ऐसी परिस्थितिमें दर्शनशास्त्र यह निर्देश करता है कि हम अपने ध्यानको ऐसी कल्पनाओंमें सीमित रखें जो अनुभूत तथा ज्ञेय विषयकी व्याख्यामें सहायक हो। दर्शनका विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण होना उसके यथार्थताकी पहचान है। अस्तु, वैशेषिक लोग जगतकी वस्तुओंके लिये 'पदार्थ' शब्दका व्यवहार करते हैं। पदस्य×अर्थः=पदार्थः।

ये पदार्थ कणादके अनुसार ६ और नव्यन्यायके अनुसार ७ हैं। इन्हें दो भागोंमें विभक्त किया गया है। (१) भाव पदार्थ और (२) अभाव पदार्थ। परन्तु कणाद (वैशेषिक) इस विभाजनकी आवश्यकता नहीं समझता। इसका कहना है कि भाव पदार्थके ग्रहणसे ही अभावका ग्रहण हो जाता है। अतः अभाव नामक ७वें पदार्थको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि जिन प्रमाणों (इन्द्रियों) द्वारा पदार्थोंका ग्रहण होता है उन्हीं प्रमाणों द्वारा उसके अभावका भी ग्रहण होता है। नव्य न्यायके अनुसार भाव पदार्थ ६ और अभावपदार्थ दो हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष,

समवाय. ये ६ भाव पदार्थ हैं और संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव ये दो अभाव पदार्थ हैं। संसर्गाभावके तीन भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव।

उपरोक्त ६ या ७ पदार्थोंकी स्पष्ट सत्ता है। प्रथम तीन पदार्थ द्रव्य, गुण और कर्मके अन्दर वास्तविक बाह्य विषयक सत्ता (Objective existence) है। कणादने इन्हें 'अर्थ' कहा है। शेष तीन सामान्य-विशेष और समवाय बुद्ध्यपेक्ष्य (Intellectual discrimination) हैं। ये तार्किक वर्गीकरण (पदार्थ) हैं। इनमें गुण और कर्म द्रव्यके अन्दर समवाय सम्बन्धसे स्थित है। संबन्ध नैयायिकोंके यहां दो प्रकारका होता है। (१) संयोग और २ समवाय। अपृथक् सिद्ध पदार्थोंका संबन्ध समवाय कहलाता है। समवाय संबन्ध नित्य संबन्ध है। जैसे—जमीनपर टेबुल यह पहलेका उदाहरण है और गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, विशेष और नित्य पदार्थ इत्यादि दूसरेके उदाहरण हैं। नैयायिक संयोगको संयोगीका गुण मानता है परन्तु समवाय किसीका गुण नहीं होता, प्रत्युत वह स्वतन्त्र पदार्थ है। पाश्चात्य विचारक 'रसल' का भी विचार इससे साम्य रखता है * वैशेषिकका 'द्रव्य' और 'गुण' अरस्तु के सब्सटेन्स (Substance) और क्वालिटी(Quality) से मिलता है। अरस्तु' (Aristotel) का क्वान्टिटी भी (Quantity) गुणके अन्दर ही आ जाता है। संबन्ध दो प्रकारका होता है। (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। यह क्रमशः संयोग और समवायके समान है। इनमें पहला गुण (Quality) माना जाता है और दूसरा पदार्थ (Category) माना जाता है। शेष सभी पदार्थ सम्बन्ध (Relation) के अन्दर आ जाते हैं; परन्तु काल (Time) और दिक् (Space) स्वतन्त्र द्रव्य हैं। कर्मके लिये ऐक्टीविटी (Activity) आया है, पर इसके साथ पैसिविटी (Passivity) भी आता है जो कर्मका अभाव मात्र है। गुण (Property) दो तरहका हो सकता है। (१) सामान्य (General) और (२) विशेष (Particular)। विन्यास (Disposition) को भी वे गुण मानते हैं।

यदि अरस्तुका भी कोई निश्चित सिद्धान्त होता तो वह इस प्रकारकी स्थापना करते कि स्थायी तथा अस्थायी गुण वाले द्रव्यकी स्थिति काल (Time) और दिक् (Space) के अन्दर है, जिससे शेष सभी द्रव्य जालकी भांति सम्बद्ध है। ऐसी हालतमें सब्सटेन्स (Substance) क्वालिटी (Quality), ऐक्शन (Action) और रिलेशन (Relation) विभाजनके प्रधान शीर्षक हो

* "It will be seen that the vews of the Naiyakas have a striking resemblence to those of the contemporary western realist like Russel" *(Six ways of Knowing by Dr. Dutta)*

सकते थे। अरस्तुके इस दोषपूर्ण वर्गीकरणका स्टोइक्स, नियोप्लेटेनिस्ट और कान्टने भी उल्लेख किया है।*

पदार्थोंका साधर्म्य और वैधर्म्य—समान धर्मका नाम साधर्म्य और विशेष धर्मका नाम वैधर्म्य है। उक्त षट पदार्थोंमें अस्तित्व अर्थात् स्वरूपवत्व, अभिधेयत्व अर्थात् अभिधान योग्यता और ज्ञेयत्व अर्थात् ज्ञानविषयता समान रूपसे वर्तमान है अतः ये षट पदार्थोंके समान धर्म होनेसे साधर्म्य कहलाते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पांच पदार्थोंमें समवायित्व और अनेकत्व धर्म समानरूपसे है अतः ये उक्त द्रव्यादि पांचोंके साधर्म्य हैं। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन पांच पदार्थोंमें निगणत्व और निष्क्रियत्व धर्म समानरूपसे है अतः गुणादि पंच पदार्थोंके ये साधर्म्य हैं। द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें सत्ता सम्बन्ध (समवाय लक्षण) सामान्य विशेषत्व, स्वसमयवार्थशब्दाभिधेयत्व और धर्माधर्मकर्तृत्व ये धर्म समान रूपसे हैं अतः ये द्रव्यादि तीन पदार्थोंके साधर्म्य हैं। अणु-परिमाण, ह्रस्व परिमाण और परम महत् परिमाण इनको छोड़कर इनके अन्दर कारणत्व भी समानरूपसे है। नित्य द्रव्योंको छोड़कर अर्थात् अनित्य द्रव्योंमें द्रव्याश्रितत्व है। सामान्य विशेष और समवाय इन तीन पदार्थोंमें स्वात्म सत्व अर्थात् इनकी स्वतः सत्ता है, बुद्धि लक्षणत्व अर्थात् इनकी स्वात्मसत्वमें बुद्धि प्रमाण है जो संकेत करती है; अकार्यत्व अर्थात् यह किसीका कार्य नहीं है, अकारणत्व अर्थात् ये किसीके समवायी तथा असमवायी कारण नहीं हैं, "असमान्याविशेषवत्वम्" अर्थात् इनके अन्दर सामान्य तथा विशेष नामक पदार्थ नहीं है, नित्यत्व अर्थात् नित्य है, और अर्थशब्दानभिधेयत्व अर्थात् अर्थ शब्दके इनके लिये प्रयोग नहीं होता, ये धर्म समान रूपसे हैं अतः ये सामान्यादि तीन पदार्थोंके साधर्म्य हैं।

Category (कैटेगोरी)—पाश्चात्य दर्शनमें 'पदार्थ' शब्दके लिये कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिलता। यद्यपि 'कैटगोरी' शब्द सर्वत्र व्यवहृत हुआ है तथापि 'कैटेगोरी' शब्दसे वह सम्पूर्ण भाव नहीं झलकता जो पदार्थ शब्दसे

* "The deffective character of Aristotel' analysis was noticed by the Stoics & Neo-platenist; Kant, who thinks that Aristotel simply Jotted down the catagories as they accured to him and Hegel, who observes that Aristotel threw them together anyhow. Mill rather contemptuously remarks that Aristotel's list is like a devision of animals into men, quadrupeds, horses and asses etc." (*History of India Philosophy - Radha Krishnan*)

झलकता है। कैटेगोरी' का शाब्दिक अर्थ समानवर्ग या स्वतः सिद्ध कल्पना है*। यह शब्द फिलौसोफीमें अस्तित्वके अन्तिम कल्पना, धारणा तथा पकड़के लिये व्यवहृत होता है। इस अर्थमें इस शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग अरस्तु (Aristotel) ने किया। अरस्तुका यह विचार बहुत दिनोंतक अबाधरूपसे चलता रहा। बाद परवर्त्ति प्रसिद्ध दार्शनिक "कान्टने" इस विषयपर अपना विचार प्रकट किया। कान्टका विचार अरस्तुके विचारसे भिन्न था। फिर भी दोनों दार्शनिकोंके विचार इस सम्बन्धमें बहुत कुछ सामञ्जस्य रखते हैं। उक्त भेद निम्न दोनों दार्शनिकोंके कैटेगोरी सम्बन्धी विचारसे स्पष्ट हो जायगा।

अरस्तुके विचार (Aristotel's account of categories)

लैटिन नाम	अंग्रेजी नाम	हिन्दी अनुवाद
१. सब्सटेन्सिया (Substantii)	सब्सटेन्स (Substance)	द्रव्य
२. क्वान्टीटास (Quantitas)	क्वान्टिटी (Quantity)	गुण
३. क्वालिटास (Qualitas)	क्वालिटी (Quality)	गुण
४. रिलेशियो (Relatio)	रिलेशन (Relation)	सम्बन्ध
५. उबी (Ube)	प्लेस (Place)	स्थान या दिक्
६. क्वान्टो (Quanto)	टाइम (Time)	काल
७. हाबिटास (Habitas)	कन्डीशन (Condition)	दशा (प्रकार)
८. सीटस (Situs)	सिचुयेशन (Situation)	स्थिति
९. एक्शियो (Actio)	एक्टिविटी (Activity)	कर्म
१०. पैसियो (Passio)	पैसिविटी (Passivity)	अकर्म

* "Category—Class or rank, a priory conception. Philosophically, however the term category is confined to ultimate modes of being or to the ultimate concepts or modes of apprehension by which reality is known. The first systemetic account of category was given by Aristotel. This account held the field for many centuries. It's most serious competetor in the history of philosophy is the account given by Kant. But although the general oriantation of the two philosophers was very different, yet their list of categories are remarkably similar, when due allowance is made for their difference in philosophical stand point." *(Encyclopedia Britanica)*

ऊपर कहे हुए दस 'कैटेगोरी' का विचार किस प्रकार अरस्तुके मानसमें आया, इसका कोई निश्चित सूत्र नहीं मिलता परन्तु कुछ लोगोंका विचार है कि सम्भवतः व्याकरण (Grammer) की संज्ञा आदि विभाजनसे उन्हें यह संकेत प्राप्त हुआ।*

कान्टके विचार (Kant's account of categories)—कान्टके विचारसे 'कैटेगोरी' मन तथा बुद्धिकी भावना सम्बन्धी संकलनका प्रकार है जो निर्णयात्मक विचारोंका परिणामस्वरूप उपलब्ध होता है। कान्टने 'कैटेगोरी' का निम्न प्रकार वर्णन किया है:—

निर्णायक विचारके स्वरूप (Forms of judgment)	तदनुरूप कैटेगोरी (Corresponding categories)	
(१) Quantity (गुण)	(१) Quantity	(गुण)
(क) Singular (This S. is P.)	(क) Unity	(इकाई)
(ख) Particular (Some S. is P.)	(ख) Plurality	(बहु)
(ग) Universal (All S. is P.)	(ग) Totality	(समुदाय)
(२) Quality (गुण)	(२) Quality	(गुण)
(क) Affermative (S. is P.)	(क) Reality	(वास्तविकता)
(ख) Negative (S. is not P.)	(ख) Negation	(नकारात्मक)
(ग) Infinite (S. is not P.)	(ग) Limitation	(अवधि)
(३) Relation (सम्बन्ध)	(३) Relation	(सम्बन्ध)
(क) Categorical (S. is P.)	(क) Substantiality	
(ख) Hypothetical (If 'A' then C.)	(ख) Casuality	
(ग) Disjunctive (Either A. or B.)	(ग) Receprocity	
(४) Modality	(४) Modality	
(क) problematic	(क) Possibility & Impossibility	
(ख) Assertive	(ख) Existence & Non-existence	
(ग) Apodictic	(ग) Necessity & Continuaty	

* "How exactly Aristotel arrived at his scheme of ten categories is not known. It has been suggested that he was guided by familiar grametical distinctions, but there is no evidence of this contention."

(Encyclopedia Britanica)

वैशेषिकानुमत आयुर्वेदमें गृहीत ६ पदार्थ—

"तेनर्षयस्ते ददृशु र्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।
सामान्यञ्च विशेषञ्च गुणान् द्रव्याणि कर्मच ।
समवायञ्च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ॥"

(च० सू० १-९)

"धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निः श्रेयसम्" ॥ (वै द० १ । ४)

चक्रपाणिः—ज्ञानार्थं ज्ञानरूपं वा चक्षु -ज्ञानचक्षुः, तेन ज्ञानचक्षुषा । आयुर्वेदेन किं ददृशुरित्याह — सामान्यञ्चेत्यादि । xxxxxxx । तन्त्रोक्तं विधिमित्यनल्प परिहार पथ्योपादा [illegible] xxxxx ।

गंगाधरः—अथायुर्वेदाध्ययनेन ज्ञानचक्षुषा । ज्ञानं निश्चयात्मकं युक्तं चक्षुर्ज्ञानचक्षुस्तेन ददृशुः । किमित्याह—सामान्यमित्यादि । सामान्यञ्च विशेषञ्चेति चकारद्वयं मिथो भेदार्थम् । गुणादिभिस्त्रिभिः सह प्रत्येकमन्वयार्थन्तु कर्म चेति चकारः । समवायस्य सामान्यविशेषाभ्यां सहान्वयार्थं समवायञ्चेति चकारः । सामान्य विशेषाभ्यां सह प्रत्येकमन्वित गुणद्रव्यकर्मभ्योऽपि भेदाख्यानाय च । तेन सामान्यं सामान्य स्वरूपान् गुणान् सामान्यरूपद्रव्याणि सामान्यभूतं कर्म च । विशेषं विशेषात्मकगुणान् विशेषात्मकानि द्रव्याणि विशेषात्मकं कर्म चेति । समवायञ्च सामान्यं विशेषञ्च ददृशुरित्यर्थः । अथ सामान्यादिकं षट्कं ददृशुः । प्रत्येकं भेदात् । तथा च चकार च [illegible] समावृत्य चकारषट्कं ज्ञेयं प्रत्येकप्रभेदमिथोभेदयोर्ज्ञापनार्थम [illegible] तत्र, द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः सामान्यविशेषयोरनतिरिक्त [illegible] न तथा विवरीतव्यमुत्तरकालम् । द्रव्यस्य प्राधान्येऽपि यथास्वगुण [illegible] त्मकत्वख्यापनाय गुणानिति प्रागद्रव्यादुपात्तमिति यन्न तन्न, [illegible] द्रव्यत्वेन गुणातिरिक्तत्वात् । गुणकर्माश्रयत्वख्यापनाय तु [illegible] द्रव्य । xxxx ।

प्रशस्तपादः—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष [illegible] षण्णां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्यतत्वज्ञानं निःश्रेयस हेतुः । [illegible] दनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव । xxxxxx ।

भावार्थ—भारद्वाजने ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् ऋषिगण आयुर्वेदाध्यापनसे प्राप्त ज्ञानचक्षुसे निम्न पदार्थोंको उनके वास्तविक रूपमें (यथावत्) देखा। ये पदार्थ सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म और समवाय थे। इन पदार्थोंके ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर उन्होंने आयुर्वेदमें निर्दिष्ट विधियों (तन्त्रोक्त विधियां) को अपनाया और उससे उन्हें परम शान्ति और दीर्घजीवन प्राप्त हुआ। उपरोक्त श्लोकमें चकारोंका प्रयोग परस्पर भेद प्रदर्शनके लिये हुआ है। 'कर्म' पदार्थके साथ चकारका प्रयोग गुणादि (गुण, द्रव्य, कर्म) तीनोंके साथ प्रत्येक की संगति (या अन्वय) के लिये हुआ है। समवायका भी सामान्य और विशेषके साथ संगति (अन्वय) करनेके लिये 'समवायञ्च' ऐसा पद आया है। इस प्रकार इन चकारोंके प्रयोगसे सामान्यस्वरूप गुणोंका, सामान्यरूप द्रव्योंका तथा सामान्यभूत कर्मका बोध होता है। इसी प्रकार विशेष स्वरूप गुणोंका, विशेष रूप द्रव्योंका तथा विशेषभूत कर्मका भी बोध होता है। सामान्य समवाय तथा विशेष समवायकी भी संगति इस प्रकार बैठती है। (चक्रपाणि तथा गंगाधर)

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन ६ पदार्थोंके साधर्म्य वैधर्म्यके द्वारा तत्वज्ञानसे निःश्रेयस (परमपद) की प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—अतीत कालमें जब कोई विषम परिस्थिति उत्पन्न होती थी, ऋषि-गण एकत्र बैठकर उस विषम परिस्थितिके निराकरणका उपाय सोचा करते थे। सत्ययुगके बाद जब युगके धर्मपादोंका क्रमशः ह्रास होने लगा और प्रजाके अन्दर युग प्रभावसे द्वेष ईर्ष्या आदि अधर्मकी वृद्धि होने लगी तो नाना प्रकारके विघ्नोत्पादक रोग उत्पन्न होने लगे, जिससे तपोपवास साधनादिव्रतोंमें बाधा तथा प्राणियोंमें बहुत आतङ्क होने लगा। तब ऋषिगण प्रजाकल्याणकी भावना-से हिमवत पार्श्वमें एकत्र हो उक्त विघ्नोंके नाशके उपाय ढूंढ़नेमें प्रवृत्त हुए। उस समय इन्द्र इस विषयका सबसे बड़े ज्ञाता थे अतः भरद्वाज ऋषि सभी ऋषियोंके प्रतिनिधि बन उन (इन्द्र) के पास आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये गये। महर्षि भारद्वाजने इन्द्रसे प्राप्त आयुर्वेद ज्ञानको अपने अन्य सहयोगी ऋषियोंको यथावत् बताया। आयुर्वेद ज्ञान लाभ करनेके बाद ये ऋषिगण ध्यानाविष्ट हुए तो उन्हें अपनी ज्ञानचक्षुसे सामान्य, विशेष, गुण, कर्म, द्रव्य और समवाय ये ६ पदार्थ दृष्टिगोचर हुए। आयुर्वेदके उक्त षट् पदार्थोंके क्रम वर्णनमें अन्य (वैशेषिक दर्शन) शास्त्रोंके क्रम वर्णनसे कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उपलब्ध टीकाओंमें इसका कोई सुन्दर समाधान अबतक नहीं उपलब्ध होता है। आचार्य गंगाधर अपनी जल्पकल्पतरु टीकामें गुण और कर्मके मध्यमें द्रव्यका क्यों उल्लेख है, इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि द्रव्य, गुण और कर्म दोनोंका आश्रय है अतः दोनोंके बीच इसे रखा गया है। इससे आगे

इस सम्बन्धमें और कुछ नहीं मिलता। सामान्य तथा विशेष द्रव्यज्ञानके अभिव्यञ्जक हैं, क्योंकि द्रव्य पदार्थका ज्ञान सामान्य (जाति) तथा विशेषके द्वारा होती है। इसीलिये न्याय दर्शनमें "व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थः" ऐसा कहा है। किसी द्रव्यके परिचयके लिये उनके सामान्य तथा विशेष गुण कर्मको जानना होता है, अतः पहले सामान्य तथा विशेषका वर्णन अभीष्ट हुआ। यों तो इनका वर्णन क्रमकी उपेक्षा नहीं करता। गुण और कर्मका आश्रय द्रव्य है अतः गुण कर्मके मध्यमें उनके आश्रय द्रव्यका वर्णन आया है। ये गुण कर्म द्रव्यके अन्दर समवाय सम्बन्धसे स्थित हैं अतः समवायका वर्णन इसके बाद किया गया है। और भी आयुर्वेद शास्त्रका प्रयोजन स्वास्थ्यकी रक्षा तथा आर्त-प्राणियोंके अर्ति (रोग) का नाश करना है। शरीरके अन्दर जब दोषकी साम्या-वस्था भाग होती है तब रोगका प्रादुर्भाव होता है। इस दोषवैषम्यजन्य रोगको दूर करनेके लिये पुनः दोषोंको साम्यावस्थामें लाना पड़ता है। यह कार्य गुण-कर्माश्रित द्रव्योंके सामान्य और विशेषके ज्ञान बिना सम्पादित नहीं हो सकता। अतः सर्वप्रथम द्रव्योंके सामान्य तथा विशेष नामक पदार्थोंका ज्ञान आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञानमें आवश्यक प्रतीत हुआ है। यही कारण है कि चिकित्साका उपदेश करते समय सर्वप्रथम—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि कारणम्। ह्रासहेतु विशेषश्च"—इस सूत्रका उपदेश होता है। क्योंकि "ह्रष्टाः वर्धयितव्या, वृद्धाः ह्रासयितव्या, समा पालयितव्या" यही चिकित्साका मूल सिद्धान्त है। द्रव्योंके सामान्य गुणकर्म तथा विशेष गुण कर्मके ज्ञानसे उनके परस्पर सामान्य तथा विशेष समवायके समझनेमें चिकित्सकको भ्रम नहीं होता। इस भ्रम रहित ज्ञानसे चिकित्सक दोष तथा द्रव्योंके सामान्य गुण-कर्म तथा विशेष गुण-कर्मके सामान्य तथा विशेष समवाय को ठीक ठीक समझनेमें समर्थ होता है और उक्त चिकित्सा सूत्रके अनुसार रोगप्रतिषेध तथा रोगमुक्त करनेमें कृतकार्य होता है।

चरक संहितामें उपदिष्ट उक्त वैशेषिकानुमत षट्-पदार्थ, आयुर्वेद दृष्टिकोणसे कुछ भिन्न अर्थ रखते हैं। जैसे—सामान्य वैशेषिकके अनुसार केवल जाति-बोधक है परन्तु आयुर्वेदमें इससे उन निश्चित वस्तुओंका बोध होता है जिनके घटक तथा स्वरूप एक समान हैं। और विशेष जिसका अर्थ वैशेषिकमें व्यक्ति या अन्तिम निर्णीत वस्तु है जो एकको दूसरेसे पृथक् बनाता है, चरकके अन्दर उन निश्चित वस्तुओंके लिये व्यवहृत होता है जो असमान या विपरीत घटक तथा स्वरूपवाले हैं। इस प्रकार सामान्य तथा विशेष आयुर्वेदमें एक विशिष्ट अर्थके द्योतक हैं। सामान्य तथा विशेषका सिद्धान्त आयुर्वेदमें (प्रधानतः चिकित्सामें) प्रधान स्तम्भ है, क्योंकि चिकित्सा तथा पथ्य व्यवस्था का सारा दारमदार इसीपर निर्भर करता है।

द्रव्य-विज्ञान

द्वितीय-अध्याय (प्रथम पाद)

—*—

द्रव्यका लक्षण—

"यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्...... ।
(च० सू० १।५१)

"क्रिया गुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ।"
(वै० सू० १-१-१५)

द्रव्यलक्षणं तु—'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति ।
(सु० सू० अ० ४०)

द्रव्यलक्षणमाह—यत्रेत्यादि । यत्राश्रिताः यत्र समवेताः (समवाय-सम्बन्धेन स्थिताः) कर्म च गुणाश्च-कर्मगुणाः । कारणं समवायि यदिति समवायि कारणं यत्, द्रव्यमेव हि द्रव्यगुणकर्मणां समवायिकारणम् । समवायि कारणं च तद् यत् स्वसमवेतं कार्यं जनयति ; गुणकर्मणी तु न स्वसमवेतं कार्यं जनयतः ; अतो न ते समवायिकारणे, (चक्रदत्त)। ××××× व्यवहारभूमावकाशं परम महदक्रियं चोपलभ्यते, तत् पुनर्भूतान्तरैः संहन्यमानं क्रियावद् भवति (एतेन दिक्कालावपि व्याख्यातौ) । एवं आत्मा निष्क्रियोऽपि मनसः क्रियया क्रियावान् । द्रव्यं यदा उत्पद्यते तदानीमपि तन्नागुणं, स्वाभाविक गुणानुवृत्तेः । पृथिव्याः गन्धः, अपां रसः, तेजसो रूपं, इत्येवमादिकः स्वाभाविको गुणो न शक्यते तदा प्रतिषेद्धुम् । कारणं समवायि इति यच्च समवायिकारणं समवायीति गुणैः सह अपृथग्भावः समवायः-तद्वत् समवायि । द्रव्यं गुणसमवाय-वृद्धि कारणं भवति, गुणोऽपि द्रव्यसमवायवान् । अनेन समवायस्यापि

कारणत्वमुपदर्शितं भवति। अथवा यच्च कारणं समवायि न पृथग्भवति, यथा—तन्तवः पटस्य, तद् द्रव्यम्। 'गुणकर्माश्रयः समवायिकारणम्, इति द्रव्यलक्षणम्, (उपस्कार)। यत्र कर्म परिस्पन्दनलक्षणं संयोगविभाग-कारणं समेताश्च गुणाः यत्र शब्दादयो गुर्वादयो वा बुद्धिर्या परादयो वा समवेताः, यच्च कारणं समवायि, तद् द्रव्यमुच्यते। एतानि कर्मगुणा-श्रयित्व—समवायिकारणत्वानि यद्यपि सर्वाणि सर्वस्मिन् द्रव्ये न विद्यन्ते; तथापि यद्यत्र संभवति तेन तस्य द्रव्यत्वं कल्प्यम्। तद्यथा—मनसः कर्मगुणाश्रयित्वेन वाय्वादीनां तु कर्मगुणाश्रयत्वेन समवायिकारणत्वेन च।

(अरुणदत्त)

भावार्थ—जिसमें संयोग विभागका कारण परिस्पन्दन लक्षण (चलनात्मक) कर्म और रूप आदि गुण समवाय (नित्य) सम्बन्धसे आश्रित हैं और जो कार्य द्रव्यके प्रति समवायि (उपादान) कारण है उसे द्रव्य कहते हैं। जिसमें आश्रित होकर कार्य उत्पन्न होते हैं और जो कार्यसे या कार्य जिससे कदापि भिन्न नहीं रह सकता उसे समवायि कारण कहते हैं। जैसे—मिट्टी घड़ेका और तन्तु पटका समवायि कारण है।

वक्तव्य—कार्यके समवायि कारण और गुण तथा कर्मके आश्रयभूत पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं। 'द्रव्य'का यह लक्षण प्रधानतः कारण द्रव्यका है। यद्यपि आयुर्वेद-शास्त्रमें 'द्रव्य' शब्द, कारण-द्रव्य तथा कार्य-द्रव्य दोनोंके लिये आता है तथापि 'पदार्थ-विज्ञान'में प्रतिपाद्य द्रव्यसे कारण-द्रव्य ही अभिप्रेत है। क्रियावान्, गुणवान् तथा कार्य-द्रव्यके प्रति समवायि कारण होना, ये तीन लक्षण द्रव्यके कहे गये हैं। इन तीनों लक्षणोंमेंसे किसी एकको हटानेपर उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोष आ जाता है। जैसे—"क्रियावत्वं द्रव्यत्वं" अर्थात् जो क्रियावाला होता है वह द्रव्य है ऐसा लक्षण करें तो आकाशादि द्रव्योंमें उसकी अव्याप्ति होती है; क्योंकि व्यापक होनेके कारण उनमें क्रिया नहीं हो सकती और क्रियाके न होनेसे वे क्रियावाले नहीं हो सकते, इसलिये उक्त दोषकी निवृत्तिके लिये 'गुणवत्वं द्रव्यत्वम्' अर्थात् जो गुण वाला है उसको द्रव्य कहते हैं, यह दूसरा लक्षण किया गया है। इस लक्षणके करनेसे शब्दादि गुणवाला होनेके कारण आकाशादिमें अव्याप्ति रूप दोषकी निवृत्ति हो जानेपर भी 'घट' आदि कार्य द्रव्यमें उक्त दोष ज्योंका त्यों बना रहता है, क्योंकि 'जायमानं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति" अर्थात् उत्पन्न हुआ घटादि द्रव्य एक क्षण बिना गुणके स्थित होता है। इस न्यायके अनुसार प्रथम क्षणस्थ

घटादि द्रव्योंमें उक्त लक्षणकी संगति नहीं हो सकती, इसलिये "समवायि कारणत्वं द्रव्यत्वम्" अर्थात् जो समवायि कारण होता है, उसको द्रव्य कहते हैं, यह लक्षण किया गया। इस लक्षणसे घटादि द्रव्योंमें उक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि वे सब द्रव्य प्रथम क्षणमें भी अपने गुणोंके प्रति समवायि कारण हैं, अर्थात् द्रव्यमें गुण और क्रिया समवाय सम्बन्धसे आश्रित हैं, इसका तात्पर्य यह है कि गुण और क्रिया जब उत्पन्न होते हैं, तब द्रव्यके अन्दर ही उत्पन्न होते हैं अन्यत्र नहीं। इसीसे कहा है :—

"समवायसम्बन्धेन गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्" तत्र गुणाश्रयत्वं गुण क्रियाऽत्यन्ताभावानधिकरणत्वम्"। या "गुणक्रियासमानाधिकारवृत्ति-जातिमत्त्वम्"।

परन्तु इस तृतीय लक्षणकी भी ईश्वरात्मामें अव्याप्ति ज्योंकी त्यों है, क्योंकि वह कार्यमात्रका निमित्त कारण होनेपर भी समवायि कारण नहीं है। इसलिये "द्रव्यत्व-जातिमत्वं द्रव्यत्वम्" अर्थात् जो द्रव्य जातिवाला हो, उसको द्रव्य कहते हैं, यह द्रव्यका निर्दुष्ट लक्षण जानना चाहिये।

अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव ये तीन लक्षण दोष हैं, जिस लक्षणमें इनमेंसे दोष नहीं होता, वह निर्दुष्ट लक्षण कहलाता है। "लक्ष्यैकदेशावृत्ति-त्वमव्याप्तिः" अर्थात् लक्ष्यके एक देशमें लक्षण (असाधारण धर्म) की अवृत्ति (न रहने) का नाम अव्याप्ति है। जिसका लक्षण किया जाता है उसको 'लक्ष्य' और लक्ष्यके एक देशमें वर्तकर उसके दूसरे देशमें न वर्तनेको 'अव्याप्ति' तथा लक्षणको 'अव्याप्त' कहते हैं। जैसे—"कपिलत्वं गोत्वं" इस गौके लक्षणकी गौ रूप लक्ष्यके एक देश धौली तथा काली गौओंमें अव्याप्ति है।

"लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः" अर्थात् लक्ष्यमें वर्तकर अलक्ष्यमें लक्षणके वर्तनेका नाम 'अतिव्याप्ति' है। जैसे—'शृंगित्वं गोत्वं' अर्थात् जिसके शृंग हों उसको गौ कहते हैं इस लक्षणकी भैंस आदिमें अतिव्याप्ति है। क्योंकि गौमात्रमें वर्तनेपर भैंस आदिकोंमें भी उसका होना सिद्ध है। "लक्ष्यमात्रा-वृत्तित्वमसंभवः" अर्थात् लक्ष्यमात्रमें लक्षणके न होनेका नाम "असम्भव" है। जैसे—"एकशफत्वं गोत्वम्" इस लक्षणमें असम्भव दोष है। क्योंकि एक खुर न होनेके कारण गौमात्रमें इसका होना असम्भव है। इसीलिये "लक्ष्यता-वच्छेदक समनियतत्वं लक्षणत्वम्" अर्थात् यावत् लक्ष्यमें ही असाधारण धर्मका समान रूपसे रहना लक्षण कहलाता है। जैसे—"सास्नादिमत्वं गोत्वं" यह गौका लक्षण है और "व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनं" अर्थात् इतरसे

भेद करना तथा उस पदार्थको अपने नामसे व्यवहार करादेना यह लक्षणका प्रयोजन है, ऐसा लक्षणका लक्षण किया गया है।

द्रव्य-निर्देश—

"खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः। (च० सू० १)

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालोदिगात्मा मन इति द्रव्याणि"।

(वैशेषिक—सू ५)

"तत्र द्रव्याणि पृथिव्यपतेजोवाय्वाकाश कालदिगात्ममनांसिनवैवेति"

(प्रशस्तपाद)

चक्रपाणिः—"सम्प्रति ××× द्रव्याणि ×××× खादीनि च "महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा" इत्यनेन क्रमेणोक्तानि, भूतानि अनागतावेक्षणेनैवोच्यन्ते। आत्मादीनां च तथा अव्यवहितस्य पूर्वनिर्देशः। द्रव्यसंग्रह इति कर चरण हरीतकी त्रिवृत्ताद्यसंख्येयभेदभिन्नस्य कार्यद्रव्यस्य कारणद्वारा संक्षेप इत्यर्थः।"

गंगाधरः—खादीनीत्यादि-सत्यप्यात्मनः सर्वेभ्यः प्राधान्ये श्रोत्रादीन्द्रिय योगेनैव चैतन्यहेतुत्वादिन्द्रियाणां भूतमयत्वेनादौ भूतानां निर्देशस्ततश्चात्मनस्ततश्च मनसोऽप्यात्मनः शरीर परिग्रहे मनः क्रियाया हेतुत्वात्। काल दिशोः सर्वत्रैव परिणामि-समवायि-हेतुत्वेन पश्चान्निर्देशः कृतः। खादीनीतिकतिधापुरुषीये वक्ष्यन्ते—"महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा" ××× एष द्रव्यसंग्रहः। ××× एष लोकस्थानां कार्यभूतानां द्रव्याणामपरिसंख्येयानां कर्मगुणाश्रयसमवायिकारण संक्षेपः।

भावार्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। यह क्रम अनागतावेक्षणसे कहा गया है, अर्थात्-आत्मा आदिका पहले (चरक सूत्र स्थान प्रथमाध्यायमें) वर्णन आ चुका है (चक्रपाणि)। यद्यपि आत्मा उपरोक्त नवों द्रव्योंमें प्रधान है तथापि श्रोत्रादि इन्द्रियोंके योगसे ही उसके चैतन्यका प्रकाश होता है और इन्द्रियां भौतिक हैं अतः पहले भूतों (महाभूतों) का निर्देश किया गया है। आत्मा जब शरीर में रहता है तब मनकी क्रिया प्रधान होती है अतः आत्माके बाद मनका निर्देश किया गया है। काल और दिशा परिणाम (औपाधिक) समवाय कारण होनेसे अन्तमें कहे गये हैं। इस प्रकार संसारके असंख्येय कार्यद्रव्योंके कर्म

तथा गुणके आश्रय और समवाय कारण (नौ द्रव्यों) का वर्णन किया गया है।

वक्तव्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन इस भेदसे द्रव्य पदार्थ नव प्रकारके हैं। इनमें पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार कार्यरूपसे अनित्य तथा कारण (परमाणु) रूपसे नित्य हैं। आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन ये पांच नित्य द्रव्य हैं और जीवात्मा तथा ईश्वरात्मा भेदसे आत्मा रूप द्रव्य दो प्रकारके हैं। तात्पर्य यह है कि पृथिव्यादिका मूल कारण प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वरात्मा ये तीनों द्रव्य पारमार्थिक नित्य हैं। जो उत्पत्ति विनाशसे रहित होता है तथा प्रागभावका अप्रतियोगी होकर ध्वंसका अप्रतियोगी हो उसे 'नित्य' कहते है। आकाश, काल, दिशा और मन ये चारों चिरस्थायी होनेसे व्यवहारिक नित्य हैं। सांख्य-योग और वेदान्तमें पृथिव्यादि पदार्थोंके मूलकारणको 'प्रकृति' नामसे कहा गया है और वैशेषिक, न्याय तथा पूर्वमीमांसामें अवस्था विशेष 'परमाणु' नामसे कहा है, इस प्रकार दर्शनोंका परस्पर अविरोध है।

कई एक आधुनिक टीकाकार ऐसा मानते हैं कि पृथिव्यादि चार द्रव्य अनित्य तथा आकाशादि पांच नित्य हैं। कई एक लोगोंका कथन है कि दो विजातीय वायुओंके परस्पर मिलापसे जल बनता है, इसलिये जलको पृथक् द्रव्य मानना ठीक नहीं, क्योंकि वायुके ग्रहणसे ही उसका ग्रहण हो जाता है। परन्तु यह विचार इसलिये ठीक नहीं कि विजातीय वायुओंका संयोग जलका अभिव्यञ्जक है, उपादान कारण नहीं अर्थात् जिन वायुओंके संयोगसे जलकी उत्पत्ति प्रतीत होती है, उनमें सूक्ष्म जल विद्यमान है, केवल विलक्षण प्रक्रियासे उसकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिये वायुके ग्रहणसे जलका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि वह पदार्थान्तर है।

वैशेषिक द्रव्यको गुणसे पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ मानता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि द्रव्य जब उत्पन्न होता है तो प्रथम क्षण वह निर्गुण रहता है। यदि गुण तथा द्रव्यकी उत्पत्ति एक साथ एक काल ही में मान लें तो गुण और द्रव्यका कोई पार्थक्य नहीं किया जा सकता और यदि गुणकी उत्पत्ति ही नहीं मानें तो द्रव्यकी उपरोक्त परिभाषा अशुद्ध हो जाती है। अतः इन दोषोंको हटानेके लिये द्रव्यको गुणका आश्रय माना गया है। यह आश्रयाश्रयी सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध रूपसे है। दूसरे शब्दमें हम कह सकते हैं कि द्रव्य गुणका आधार है। वैशेषिक एक ऐसे पदार्थकी सत्ताको प्रमाणित करनेमें सदा सतर्क हैं जो गुणवाला है पर स्वयं गुण नहीं है, क्योंकि वह द्रव्योंके गुणोंका प्रतिपादन करता है पर गुणका गुण कभी नहीं कहता।

आयुर्वेदमें भी "गुणाः गुणाश्रयाः नोक्ता" (चरक)। इस पदके द्वारा इसका समर्थन मिलता है। चूँकि द्रव्यको गुणसे पृथक् नहीं किया जा सकता अतः द्रव्यको गुणवान् कहा जाता है। उपरोक्त द्रव्योंमें नित्य तथा अनित्यका भेद करते हैं। उपरोक्त पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नव नित्य (Eternal) द्रव्यसंसारके मूर्त तथा अमूर्त (कार्य) द्रव्योंके उत्पादक हैं।

द्रव्योंका साधर्म्य वैधर्म्य—इन नव द्रव्योंमें द्रव्यत्व योग, स्वसमवेतकार्यजनकत्व, गुणवत्व, कार्यकारणविरोधत्व, और अन्त्यविशेषवत्व (Ultimate Individuality) समान रूपसे है। अतः ये इनके साधर्म्य कहलाते हैं। अवयवी (Compound) द्रव्योंको छोड़ कर अनाश्रितत्व (Independence) और नित्यत्व (Eternity) ये धर्म भी इनमें समान रूपसे हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, और मन इन छः द्रव्योंमें अनेकत्व और अपरजातिमत्व ये धर्म समान रूपसे हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पांच द्रव्योंमें, क्रियावत्व, मूर्तत्व परत्वापरत्व, वेगवत्व ये धर्म समान रूपसे हैं। आकाश, काल, दिशा और आत्मामें सर्वगतत्व धर्म है। पृथिव्यादि पाँच द्रव्योंमें (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) भूतत्व, इन्द्रियोपादानत्व, बाह्यैकेन्द्रिय ग्राह्यविशेष गुणवत्व धर्म समान रूपसे हैं। आत्मा, मन, आकाश, काल, दिशा और अन्य चार द्रव्योंके परमाणु प्रत्यक्ष (बाह्येन्द्रिय ग्राह्य) नहीं है। इसलिये मूर्त और भौतिक द्रव्योंमें भेद किया जाता है। मूर्त द्रव्यों में निश्चित आयतन (परिच्छिन्न परिमाणतत्व) और क्रिया एवं संस्कार-वेगाख्य-संस्कार (Action & movement) होता है। परन्तु भौतिक द्रव्य अकेला या औरोंके साथ मिलकर संसारके पदार्थोंका भौतिक कारण बनता है। मन, अणुरूप होनेपर भी किसीका उत्पादक नहीं होता पर आकाश विभु होकर भी शब्द गुणका उत्पादक है। पृथिवी, जल, तेज और वायु मूर्त तथा उत्पादक दोनों है अतः इनमें द्रव्यारम्भकत्व और स्पर्शवत्व धर्म भी है। पृथिवी, अप् और तेज इन तीन द्रव्योंमें प्रत्यक्षत्व, रूपवत्व और द्रवत्व धर्म है। पृथिवी और अप्में गुरुत्व और रसवत्व धर्म समान है। उपरोक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैशेषिक दर्शन सत्यरूपका प्रतिपादन करनेवाला (Realistic) होने पर भी केवल भौतिक या जड़वादी नहीं है। क्योंकि उसके अन्दर अभौतिक द्रव्यों (आत्मा, मन, आदि) की सत्ता भी मानी गई है।

वैशेषिकमें आत्माका ग्रहण व्यवहारतः नैयायिकोंके आत्माके समान ही है, यद्यपि आत्म-साक्षात्कारमें आत्माको ज्ञाता और ज्ञेयके रूपमें नहीं स्वीकार किया

गया है। इसमें तुलना करनेसे कोई सहायता नहीं मिलती। इस ज्ञानके प्रति तो आगम और अनुमान ही साधक है।

नोट:—लोक प्रत्यक्षके आधारपर 'तम' में नीलरूप तथा अपसरणात्मक कर्मकी सत्ता मानकर तमको भाट्ट मीमाँसक द्रव्य अथवा गुण मानते हैं, (मानमेदोदय पृ० १५६-१६३)। पर वैशेषिक आचार्योंने इसका खण्डन प्रमाणोंके साथ किया है। आलोककी सहायतासे चक्षु रूपसम्पन्न द्रव्योंका ग्राहक माना जाता है, पर तम (अन्धकार) के प्रत्यक्षीकरणमें प्रकाशकी सहायता तनिक भी उपेक्षित नहीं होती। अपसरणकी क्रिया भी औपाधिक है—प्रकाशके आगमन पर अवलम्बित है। अतः नीलरूप तथा चलनक्रिया दोनों औपाधिक होनेसे तममें द्रव्यत्वकी कल्पना प्रमाण सिद्ध नहीं मानी जा सकती। अतः वह तम तेजः सामान्यका अभावमात्र है, नैयायिकों तथा वैशेषिकोंका अन्धकारके सम्बन्ध में यही निश्चियात्मक धारणा है। पर श्रीधराचार्य इस मतसे सहमत नहीं हैं। न्यायकन्दलीमें उन्होंने अपने इस स्वतन्त्र मतका वर्णन किया है। उनका कहना है कि किसी वस्तुपर आरोपित नीलवर्णके अतिरिक्त अन्धकार कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अतः वे तमको गुणके अन्तर्गत मानते हैं। उदयनाचार्यने इस मतका किरणावलीमें खण्डन किया है और प्रकाशसामान्याभावको ही 'तम' स्वीकृत किया है। माधवाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें प्रभाकर मीमाँसकोंके एकदेशीय मत-का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार अन्धकार आलोकज्ञानका अभावरूप है, न कि आलोक सामान्यका। इस प्रकार तमके स्वरूपके विषयमें वैज्ञानिकोंने खूब विवेचना की है। उदयनाचार्यसे लगभग १५० वर्ष पीछे होनेवाले "खण्डनखण्ड-खाद्य" के रचयिता श्री हर्ष इन मतवादोंसे पूर्ण परिचित थे। अतः उन्होंने औलूक दर्शनको तमः स्वरूप निर्णयमें नितान्त समर्थ बतलाते हुए कवित्व तथा दार्शनिकत्व दोनोंका मनोरम सामञ्जस्य उपस्थित किया है:—

"ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्वनिरूपणाय॥"

(नैषध २२।३६)

द्रव्यके सम्बन्धमें अर्वाचीन विचार—

अर्वाचीन (पाश्चात्य) द्रव्यके लिए 'सब्सटेन्स' (Substance) शब्दका उपयोग करते हैं। बहुत दिनों तक यह धारणा उक्त विचारकोंमें बनी रही है कि 'सब्सटेन्स' और 'रियेलिटी' (Reality) में कोई भेद नहीं है, अतः इस शब्द का प्रयोग परमतत्व (Absolute) तथा उसके सम्बन्धी (Relative sence) के अर्थमें होता रहा। परिणाम यह हुआ कि Reality (सत्यता)

जिस प्रकार Absolute और Relative होती है उसी प्रकार 'सब्सटेन्स' भी Absolute और Relative दो प्रकारकी हो गई। परन्तु कुछ पूर्ववर्ती विचारक (Eleatic thought) द्रव्यको अपरिवर्तनशील मानते थे। इस विचारका प्रभाव प्लेटोपर भी था, प्लेटो Ideas (कल्पना) को ही सब्सटेन्स या नित्य पदार्थ मानता था और साथ ही आत्माको भी (Soul) आध्यात्मिक द्रव्य (Spritual Substance) मानता था और इसे नित्य तथा सत्य वस्तु समझता था। प्लेटोके विचारसे सभी कल्पनायें (Ideas) सत्य और नित्य हैं और वैयक्तिक चेतना (Individual consicousness) और सांसारिक विषय जो सदा परिवर्तनशील हैं, अद्रव्य (Unsubstantial) और रूपात्मक (Phenomenal) है। अरस्तु (Aristotel) कल्पना (Idea) के स्थानपर फौर्म (Form)—आकृति पदका व्यवहार करता है। अरस्तु संसारके प्रत्येक पदार्थको 'फौर्म' तथा 'मैटर' से बना हुआ मानता है। डाकार्टीज़ (Dascartes) ईश्वर (God) को परमद्रव्य (Absolute substance) मानता है और संसारकी सभी वस्तुओंको तथा आत्माको भी ईश्वराश्रयी (Relative substance depending upon the absolute substance) समझता है। परन्तु डाकार्टीजके इस विचारका खण्डन उसके द्रव्यकी परिभाषासे हो जाता है।

"अद्भ्यः पृथिवी" (तैत्तिरीयोपनिषत्)

"अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिः" (मनु)

"तद्यदपां शरः आसीत् समहन्यत सा पृथिवी अभवत्"

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

"तमो बहुला पृथिवी" (सुश्रुत)

"तत्र क्षितिर्गन्ध हेतुर्नाना रूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधोमतः॥
स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः।
नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा॥
अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवायवयोगिनी।
सा च त्रिधा भवेद्देह-मिन्द्रियं विषयस्तथा॥"

(सिद्धान्त मुक्तावली)

"रूपरस गन्ध स्पर्शवती पृथिवी" (वै० द० २-१-१)

"रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वा-परत्वगुरुत्व द्रवत्व संस्कारवती (पृथिवी)। एते च गुणविनिवेशाधिकारे रूपादयो गुणविशेषाः सिद्धाः, चाक्षुपवचनात् सप्त संख्यादयः। पतनोपदेशाद् गुरुत्वम्। अद्भिः सामान्यवचनात् द्रवत्वम्। उत्तरकर्मवचनात् संस्कारः।" (प्रशस्तपादः)

भावार्थ—क्रमशः जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय)। जलसे गन्ध गुणवाली भूमि उत्पन्न हुई, (मनु)। जलकातालाव था जो फेन होता हुआ कठिन होकर पृथ्वी हो गया, (बृहदारण्यकोपनिषद्)। पृथिवी तमोगुण विशिष्ट है, (सुश्रुत)। नाना रूपवाली पृथ्वी गन्धका हेतु है। उसमें ६ रस हैं और दो प्रकारकी गन्ध है। उसके अनुष्णाशीत पाकज स्पर्श हैं। नित्य और अनित्य के भेदसे वह दो प्रकारकी है। परमाणुरूप नित्य और उसके विपरीत अवयव रूप (कार्य) अनित्य है। यह तीन प्रकारकी है—शरीर, इन्द्रिय और विषम भेदसे, (मुक्तावली)। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये चारों पृथिवीमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं, अर्थात् शुक्ल, नील, हरित्, लाल, पीला, खाकी तथा चित्र इस भेदसे सात प्रकारका 'रूप' और मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय भेदसे ६ प्रकारका 'रस' तथा सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध) भेदसे दो प्रकारके 'गन्ध' और अनुष्णाशीत स्पर्श यह सब गुण पृथिवी द्रव्यमें समवेतहैं।
(वै० दर्शन)

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्वापरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार ये १४ गुण पृथिवीमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं। इनमें रूप आदि गुण—अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये विशेष गुण—पृथ्वीमें रहते हैं। जिसे गुणविनिवेशाधिकारमें (अर्थात् जिस स्थलपर इनके बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले इन विशेष गुणोंके निवेश का वर्णन किया गया है) सिद्ध किया जा चुका है। संख्या आदि सात गुण अर्थात् संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और कर्म—भी चाक्षुप प्रत्यक्षका विषय होनेसे पृथ्वीमें रहते हैं। यह बात वैशेषिक सूत्रमें आये हुए 'चाक्षुष' पदसे प्रमाणित होती है। पतन शब्दका पाठ होनेसे गुरुत्व पृथ्वीमें सिद्ध है। जलसे समानता होनेसे द्रवत्व भी स्पष्ट है। उत्तरोत्तर क्रियाके होनेसे नोदनादि कर्मसे संस्कार भी सिद्ध ही है, (प्रशस्तपाद)।

वक्तव्य—पृथिवीकी उत्पत्तिके लिये अप्तत्व (रसतन्मात्रा) की सहायता अपेक्षित है, अतः अप्तत्व (जल) से पृथिवी तत्वकी उत्पत्ति हुई ऐसा पाठ आया है। रस गुणात्मक जलतत्वसे स्वभावतः ही संघात गुण प्रकट हुआ,

संघातगुण (कठिनता) पृथ्वीमें स्पष्ट रूपसे पाया जाता है अतः उपनिषद्कारने कहा कि जब जल संहत हुआ तो पृथ्वी उत्पन्न हुई। संघातगुणात्मक पृथ्वी तत्वमें ही संसारका सभी स्थूल मूर्त द्रव्य उत्पन्न हुआ है। संघातगुणात्मक शब्द-स्पर्श, रूप-रस-गन्ध गुणवाला तमोगुणविशिष्ट यह पृथ्वीतत्व संसारके सभी चराचर द्रव्योंके स्थिर—गुरु, स्थूल इत्यादि संघातात्मक भावोंका मूल कारण है।

यह पृथ्वी दो प्रकारकी है, (१) नित्या और (२) अनित्या। परमाणु-लक्षणा नित्या है और कार्यलक्षणा अनित्या है। यह अपने स्थैर्यादि गुणोंसे युक्त होकर विविध घटत्वादि रूपसे उपकारक होती है। इसके तीन प्रकारके कार्य होते हैं, जैसे—(१) शारीर-संज्ञक, (२) इन्द्रिय-संज्ञक और (३) विषय-संज्ञक। शारीर-संज्ञक कार्य दो प्रकारके होते हैं, यथा—(१) योनिज और (२) अयोनिज। इनमें अयोनिज कार्यमें शुक्र शोणितकी अपेक्षा नहीं होती, जैसे—देवता तथा ऋषियोंका शरीर धर्म-विशिष्ट अणुओंके संयोगसे उत्पन्न होता है। तथा क्षुद्र प्राणियों (कीटादिकों) के शरीर अधर्म विशिष्ट अणुओंसे उत्पन्न होते हैं। शुक्र शोणित सन्निपातसे योनिज प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। ये दो प्रकारके होते हैं, यथा—(१) जरायुज और (२) अण्डज। मनुष्य, पशु, मृग आदि जरायुज हैं और पक्षी सरिसृप आदि अण्डज होते हैं। इन्द्रिय-संज्ञक कार्य गन्धका व्यञ्जक होता है, जैसे—पार्थिवावयवोंसे प्राणियोंके नाक (घ्राण) की उत्पत्ति। विषय-संज्ञक तो द्व्यणुकादि क्रमसे उत्पन्न तीन प्रकारके होते हैं, यथा—(१) मृत् (२) पाषाण और (३) स्थावर। (१) इनमें भूप्रदेश-इष्टिकादि मृत (मिट्टी) के प्रकार हैं, (२) पाषाण—उपल, मणि, वज्रादि और (३) स्थावर—तृण औषधि वृक्ष लता वितान वनस्पति आदि हैं।

पृथिवीका निर्दुष्ट लक्षण—"स्पर्शवती पृथिवी" अर्थात् जो स्पर्शवाली हो उसे पृथ्वी कहते हैं, यदि पृथ्वीका यह लक्षण किया जाय तो वायु आदि द्रव्योंमें अति व्याप्ति होती है, क्योंकि वे भी स्पर्श वाले हैं। इसकी निवृत्तिके लिये 'रूप' पदका निवेश किया गया है। यथा 'रूपस्पर्शवती पृथिवी' अर्थात् जिसमें रूप और स्पर्श दोनों रहते हैं उसको पृथ्वी कहते हैं, यदि यह लक्षण करें तो वायुमें अतिव्याप्ति न होते हुए भी तेज आदि द्रव्योंमें अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि वे भी रूप तथा स्पर्श वाले हैं। इसकी निवृत्तिके लिये 'रस' पदका समावेश किया है। यथा—'रूप रस स्पर्शवती पृथिवी' अर्थात् जिसमें रूप-रस और स्पर्श ये तीनों समवाय सम्बन्धसे रहते हैं उसको पृथिवी कहते हैं, यदि ये लक्षण करें तो वायु तथा तेजमें अतिव्याप्ति न होनेपर भी जलमें अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी रूप-रस-स्पर्श वाला है। इसकी निवृत्तिके लिये 'गन्ध'

पदका निवेश किया गया है। इसके निवेश करनेसे "रूप रस गन्ध स्पर्शवती पृथिवी" यह पृथिवीका लक्षण निष्पन्न हुआ। ऐसा निष्पन्न होनेसे किसी द्रव्यमें इसकी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पृथिवीके अतिरिक्त कोई द्रव्य रूप-रस-गन्ध तथा स्पर्श इन चार गुणों वाला नहीं है, अतः रूप-रस-गन्ध स्पर्श वत्वं पृथिवीत्वम्' यह पृथ्वीका निर्दुष्ट लक्षण है।

यहाँ इतना विशेष स्मरण रखना चाहिये, कि यद्यपि सूत्रकारने पृथ्वीके लक्षणमें गन्धके साथ रूप-रस तथा स्पर्शका निवेश किया है परन्तु लक्षणमें इनके निर्देशकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'गन्धवती पृथिवी' इस लक्षणसे भी किसी द्रव्यमें अतिव्याप्ति किंवा लक्ष्य-पृथ्वीमें अव्याप्ति नहीं होती है, इसलिये 'गन्धवती पृथिवी' यह लक्षण भी समीचीन है। इस लक्षणमें गन्ध शब्दके आगे जो 'मतुप्' प्रत्यय है जिससे 'वती' शब्द निष्पन्न होता है उसका अर्थ 'सम्बन्ध सामान्य' है। परन्तु यहाँ लक्षणमें 'सम्बन्ध सामान्य' विवक्षित नहीं, किन्तु सामवाय सम्बन्ध विवक्षित है। यदि सम्बन्ध सामान्यकी विवक्षा की जाय तो कालिक तथा दैशिक सम्बन्धका भी ग्रहण हो जाता है जो अनभीप्सित है। समवाय सम्बन्ध विवक्षित होनेसे काल तथा दिशामें अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि समवाय सम्बन्धसे गन्धवाली केवल पृथ्वीही है अन्य कोई द्रव्य नहीं। इस प्रकार समवायरूप विशेषसम्बन्धकी विवक्षा होनेसे उक्त पृथिवीके लक्षणका यह अर्थ निष्पन्न हुआ, कि "समवायेन गन्धवत्वं पृथिवीत्वम्" अर्थात जो समवाय सम्बन्धसे गन्धवाली हो उसको पृथिवी कहते हैं। परन्तु यह लक्षण भी उत्पत्तिक्षणवर्ती घटादिरूप पृथिवीमें अव्याप्त है, क्योंकि उत्पत्तिकालावच्छेदेनघटादि रूप पृथिवीमें उसकी अव्याप्ति है। यहाँ 'उत्पत्तिकालावच्छेदेन' पदका अर्थ 'उत्पत्तिकालवर्ती' है। घटादिरूप कार्य पृथिवीमें जो गन्ध गुण उत्पन्न होता है, उसका समवायिकारण घटादिरूप कार्य पृथिवी तथा असमवायिकारण उक्त कार्य पृथिवीके कारण कपाल आदि पृथिवीवर्ती रूपादि गुण है और कारण अपने कार्यसे पूर्व होता है यह नियम है। यदि घटादिरूप कार्य पृथिवीमें उसके उत्पत्ति समय ही रूप आदि गुणोंकी उत्पत्ति मानी जाय तो वह उनका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों की उत्पत्तिका एक ही काल है, इसलिये घटादिकोंकी उत्पत्ति क्षणसे अनन्तर द्वितीय क्षणमें ही उनमें रूपादि गुणोंकी उत्पत्ति अवश्य माननी होगी और ऐसा माननेसे उत्पत्ति क्षणावच्छेदेन घटादिरूप कार्य पृथिवीमें उक्त पृथिवी लक्षणकी अव्याप्ति स्पष्ट है, इसकी निवृत्तिके लिये उक्त लक्षणका—"गन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्व साक्षाद् व्याप्य जातिमत्वम्" यह निर्वचन किया गया है। अर्थात् गन्धके साथ एक अधिकरणमें रहने वाली द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य पृथिवीत्व जातिवालीको 'पृथिवी' कहते हैं। इस

निर्वाचनसे उत्पत्तिकालावच्छेदेन घटादि रूप कार्य पृथिवीमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह भी उस कालमें गन्धवाली न होनेपर भी गन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य पृथिवीत्व जातिवाली है। अथवा इसको यों कह सकते हैं कि पृथ्वीके अतिरिक्त गन्ध गुण अन्यत्र नहीं रह सकता। "गन्धगुणात्यन्ताभावानधिकरणत्वं गन्धवत्वम्"।

यदि "द्रव्यत्व साक्षाद् व्याप्य जातिमत्वं पृथिवीत्वं" अर्थात् जो द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य वाली हो उसको 'पृथिवी' कहते हैं, यह लक्षण करें, तो जलादि द्रव्योंमें अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी समवाय सम्बन्धसे द्रव्यत्वकी साक्षात् व्याप्य जलत्वादि जाति वाले हैं, इसकी निवृत्तिके लिये उक्त लक्षणमें 'गन्धसमानाधिकरण' पदका निवेश किया है। जलत्वादि जातियां द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य होने पर भी गन्ध समानाधिकरण अर्थात् गन्धके साथ एक अधिकरणमें रहनेवाली नहीं है, क्योंकि गन्ध गुण पृथिवीको छोड़कर किसी अन्य द्रव्यमें नहीं रहता, इसलिये उनमें उक्त लक्षणको अतिव्याप्ति नहीं, और यदि "गन्धसमानाधिकरण जातिमत्वं" अर्थात् गन्धके साथ है समानाधिकरण जिसका ऐसी जातिवालीको 'पृथिवी' कहते हैं, यह पृथिवीका लक्षण करें तो भी जलादि द्रव्योंमें अतिव्याप्ति होती है क्यों कि वह भी गन्धके साथ एक अधि-करणमें रहनेवाली सत्ता तथा द्रव्यत्व जाति वाली है, इसकी निवृत्तिके लिये उक्त लक्षणमें "द्रव्यत्व साक्षाद् व्याप्य जाति" पदका निवेश किया है। सत्ता तथा द्रव्यत्व जाति द्रव्यत्वको साक्षात् व्याप्य जाति नहीं है, इसलिये सत्ता तथा द्रव्यत्व जातिवाली होनेपर भी जलादिकोंमें उक्त लक्षणको अतिव्याप्ति नहीं होती, यदि "गन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्व व्याप्य जातिमत्वं पृथिवीत्वम्" अर्थात् गन्धके साथ एक अधिकरणमें रहनेवाली द्रव्यत्व व्याप्य जातिवालीको 'पृथिवी' कहते हैं, यह पृथिवीका लक्षण करें तो घटादि पृथिवीमें उक्त लक्षणकी संगति होनेपर भी पटादिरूप पृथिवीमें अव्याप्ति होती है क्योंकि यह घटत्वादि जाति वाला नहीं, है इसकी निवृत्तिके लिये 'साक्षात्' पदका निवेश किया है। इसका निवेश करनेसे घटत्वादिजातिका ग्रहण नहीं होता किन्तु पृथिवी त्वजाति-का ही ग्रहण होता है और उक्त जातिवाली सम्पूर्ण पृथिवी है, अतः कहीं भी उक्त लक्षणको अव्याप्ति नहीं, वस्तुतस्तु "पृथिवीत्व जातिमत्वं पृथिवीत्वं" यही पृथिवी का समीचीन लक्षण है।

जल निरूपण—

"अग्नेरापः" (तैत्तरीयोपनिषद्)

"ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः" (मनुः)

"सत्वतमो बहुला आपः" (सुश्रुत)

"वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुर शीतलौ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिक मुदाहृतम्॥
नित्यतादि पूर्ववत्तु किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनं सिन्धु हिमादिर्विषयो मतः॥"

(मुक्तावली)

"रूपरसस्पर्शवत्यआपो द्रवाः स्निग्धाः" (वै० द० २-१-२)

"रूप-रस-स्पर्श-द्रवत्व-स्नेह-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग—विभाग परत्वापरत्व-गुरुत्व-संस्कार वत्यः। पूर्ववदेषां सिद्धिः। शुक्ल-मधुर शीत एव रूप-रस-स्पर्शाः। स्नेहोऽम्भस्येव सांसिद्धिकं च द्रवत्वम्"।

(प्रशस्तपादः)

भावार्थ—क्रमशः अग्निसे जलकी उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय)। अग्निसे रस गुणवाला जल उत्पन्न हुआ, (मनु)। जल, सत्वतमोगुण बहुल है, (सुश्रुत)। जलका वर्ण शुक्ल है उसमें मधुर रस और शीतस्पर्श ये दो गुण हैं, स्नेह और द्रवत्व उसके सांसिद्धिक गुण हैं। नित्य और अनित्य भेद पृथिवीके समान ही है, किन्तु जलीय शरीर अयोनिज ही होता है जो वरुण लोकमें है। इन्द्रियसंज्ञक रसना है और सिन्धु आदि विषयसंज्ञक है, (मुक्तावली)। जल द्रव स्नेह तथा रूप-रस और स्पर्श गुण वाले हैं, (वै० द०)। रूप-रस-स्पर्श-द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार ये १४ गुण जल (अप्तत्व) के हैं। पृथिवीके समान ही इन गुणोंकी भी सिद्धि है। इनका रूप शुक्ल, रस मधुर और स्पर्श शीत है। स्नेह और द्रवत्व जलके सांसिद्धिक गुण हैं, (प्रशस्तपाद)।

वक्तव्य—जलकी उत्पत्तिमें अग्नितत्व (रूपतन्मात्रा) की सहायता अपेक्षित है, अतः अग्निसे जलकी उत्पत्ति हुई ऐसा पाठ किया है। अग्निकी उष्णतासे प्रकृतिमें द्रवता उत्पन्न हुई, यह लौकिक दृष्टान्तोंसे भी स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि देखा जाता है कि अग्निके बिना द्रवता नहीं होती। सभी द्रवत्व-रसवत्व- स्निग्धत्वादिका मूलकारण अप्तत्व ही है। इस रस गुणात्मक और द्रवगुणात्मक अप्तत्वके बिना संसारमें स्निग्धत्व नहीं हो सकता। यह अप्तत्व चराचर जगतमें व्याप्त है। यह वेदोंमें भी कहा हुआ है, यथा—"यूयं हि ष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः" (६।५।७)। यह जल दो प्रकारका होता है, नित्य और अनित्य। परमाणु लक्षण वाला नित्य और

कार्यरूप लक्षण वाला अनित्य है। इनमें कार्यलक्षण वाला तीन प्रकारका होता है, यथा—(१) शरीरसंज्ञक, (२) इन्द्रियसंज्ञक और (३) विषय संज्ञक। इनमें शरीरसंज्ञक अयोनिज वरुण लोकमें और पार्थिव अवयवोंकी सहायतासे वह जलीय शरीर उपभोगके लिये समर्थ होता है। अर्थात् उन जलोंके अवयवोंसे रसनाकी उत्पत्ति होती है जो अवयव विजातीय पदार्थोंसे अभिभूत नहीं है। विषय संज्ञक जल तत्व तो सरित्, समुद्र, हिमकर आदि हैं।

जलकी चार अवस्थाएं हैं—(१) अम्भ, (२) मरीची, (३) मर और (४) आप। सूर्य मण्डलसे भी ऊपर आकाशके उपरिभागमें अवस्थित अपकी 'अम्भ' सूर्यकी किरणोंसे प्रभावित सूर्य मण्डल और पृथिवीके बीच अन्तरीक्षमें अवस्थित अपकी 'मरीचि'; पृथ्वी स्थित अपकी 'मर' और भूमिके नीचे व्यवस्थित अपकी 'आप' संज्ञा कल्पित की गई है। सूर्यके ऊपर परमेष्ठी मण्डलमें जो सोमरूप 'अम्भ' है, उसे अमृत कहते हैं। वहीं ज्योतिर्मय सृष्टिकर्ता परमात्माका निवास कहा गया है। यह 'अम्भ' जलकी प्राथमिक सूक्ष्मतम अवस्था है। आधुनिक वैज्ञानिकोंका 'हाइड्रोजन' सिद्ध किया जा सकता है। हाइड्रोजन अग्नि संपर्कसे जलता है और सोम भी सूर्य रश्मिके सम्पर्कसे ज्वलनशील होता है। यह प्रकाश-जनक भी है।

मरीचिमालीकी मरीचिमालासे प्रभावित तत्किरणजात अपका नाम 'मरीचि' है। यह आग्नेय सोम होनेसे पवमान कहा जाता है। यही मरीचि अग्निको धारण करनेवाला आग्नेय सोम है। सूर्य मण्डल ग्रहतारादिकी सृष्टि यहींसे हुई है. दिनका प्रकाश यहींसे आता है। सम्भवतः इसीका अंश विशेष 'औक्सीजन' है। यही सोम और पवन दोनों वनस्पति, औषधि और उष्णताके पोषक हैं। यह जगत् अग्निसोमात्मक इसीसे कहा जाता है। हाइड्रोजन और औक्सीजन (२+१) के योगसे स्थूल जल 'मर'की प्राप्ति होती है। अग्निसम्बन्धसे ही द्रवत्व होता है। इसी 'मर'की घनीभूत अवस्था पृथ्वी है (जैसा कि पृथिवी निरूपणमें कहा जा चुका है) ऐन्द्रियिक अपतत्व सब प्राणियोंके रसका व्यञ्जक है। जैसा जलावयवसे रस ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय रसनाकी उत्पत्ति है।

सांसिद्धिक द्रवत्व, स्नेह, अभास्वर, शुक्लरूप, मधुररस तथा शीतस्पर्श यह सब गुण जलमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं इन गुणोंमें "यच्छुक्लं तदपां" (छा० ६।४।१) अर्थात् जो शुक्ल रूप है वह जलका है, इस वाक्यके अनुसार जलमें शुक्ल रूप स्वाभाविक तथा अन्य रूप नैमित्तिक हैं। यद्यपि सूत्रकारने जलके लक्षणमें द्रवत्व, स्नेह, रूप, रस तथा स्पर्श इन पांच गुणोंका समावेश किया है, तथापि "समवायेन शीतस्पर्शवत्वं जलत्वं" अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्धसे शीतस्पर्श रहे उसे 'जल' कहते हैं, यही जलका लक्षण करना उचित है।

यदि 'स्पर्शवत्वं जलत्वं' यह जलका लक्षण करें तो पृथ्वी आदि द्रव्योंमें अतिव्याप्ति होती है, उसकी निवृत्तिके लिये 'शीत' पदका निवेश किया है। पृथ्वी आदि द्रव्योंके मध्य शीतस्पर्शवाला केवल जल ही है अन्य कोई द्रव्य नहीं, अतः उक्त लक्षणकी कहीं भी अतिव्याप्ति नहीं होती। और जो "शीतलं चन्दनं" "शीतलं शीलातलं" इन वाक्योंमें जो चन्दनादि पार्थिव पदार्थोंमें शीत स्पर्शकी प्रतीति होती है वह भी जल सम्बन्धसे होती है, स्वतः नहीं। अर्थात् उनमें शीतस्पर्श प्रतीतिका हेतु स्वसमवायि संयोग है। 'स्व' पदसे शीतस्पर्शका ग्रहण है, उसके समवायि जलका चन्दनादि पृथ्वीके साथ संयोग होनेसे उक्त प्रतीति होती है। वस्तुतस्तु "जलत्व जातिमत्वं जलत्वं" अर्थात् जिसमें जलत्व जाति रहती हो उसको जल कहते हैं यही जलका समीचीन लक्षण है। "रससमानाधिकरण द्रव्यत्वसाक्षात् व्याप्य जातिमत्वंजलत्वम्" या "रसगणात्यन्ताऽभावानधिकरणत्वं रसवत्वम्।"

तेजो निरूपण—

"वायोरग्निः" (तैत्तिरीयोपनिषद्)

"वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्व त्तद्रूपगुण मुच्यते॥"
(मनुः)

"सत्वरजोबहुलोऽग्निः" (सुश्रुत)

"उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।
नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत्।
इन्द्रियं नयनं वह्निः स्वर्णादिर्विषयो मतः॥"
(मुक्तावली)

"तेजोरूपस्पर्शवत्" (वै० द० २-१-३)

"रूपस्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व द्रवत्वसंस्कार वत्। पूर्ववदेषां सिद्धिः। तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। उष्ण एव स्पर्शः। (प्रशस्तपादः)

भावार्थ—क्रमशः वायुसे अग्निकी उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय)। तमको नाश करने वाले तथा भास्वर रूप गुणवाले तेजकी उत्पत्ति वायुसे हुई, (मनु)। अग्नि सत्व, रजो गुण विशिष्ट है, (सुश्रुत)। तेजका स्पर्श उष्ण है और भास्वर शुक्ल रूप है।

द्रवत्व उसका नैमित्तिक गुण है, नित्य तथा अनित्य भेदसे जलके समान ही दो प्रकार है। इन्द्रिय संज्ञक तेजका स्थान नयन है और विषय संज्ञक तेज स्वर्ण आदि धातुओंमें कहा गया है, (मुक्तावली)। रूप तथा स्पर्श गुणवालेका नाम तेज है, (वै० द०)। रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-परत्व-द्रवत्व-संस्कार ये ११ गुण तेजके हैं। ये गुण पूर्ववत् (पृथ्वी आदिके समान) सिद्ध हैं। तेजका रूप भास्वर शुक्ल है और उष्ण स्पर्श है, (प्रशस्तपाद)

वक्तव्य—जिसमें समवाय सम्बन्धसे रूप तथा स्पर्श गुण रहता है उसको तेज कहते हैं। उपरोक्त तैत्तिरीयोपनिषद् तथा मनुके वाक्यके अनुसार अग्निकी उत्पत्तिके लिये वायुतत्व (स्पर्शतन्मात्रा) की सहायता अपेक्षित है। गत्यात्मक वायुके स्पर्श गुण होनेसे संघर्षका होना अनिवार्य है। इस संघर्षका परिमाण अग्नि या ताप है। प्रकृतिके अन्दर गतिके अवरोधका परिणाम ही अग्नि है। पाश्चात्य दार्शनिक 'हर्बट स्पेन्सर' महोदय भी गत्यवरोधसे अग्नि, विद्युत, चुम्बक तथा प्रकाशकी उत्पत्ति मानते हैं। "Motion that is arrested produces under different circumstances heat, electricity, megnatism and light"(Encyclopedia Britanica). अग्नि-विद्युत्-प्रकाश आदि एक ही तत्वके परिणाम स्वरूप हैं, इसका समर्थन बृहदारण्यकोपनिषद्में भी मिलता है—"श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो न्यवर्तत अग्निः। स त्रेधा आत्मानं व्याकुरुत आदित्यं द्वितीयं वायुं तृतीयम्" (१-२) अर्थात् एक ही आत्मा तीन भागोंमें विभक्त हो गई अग्नि, आदित्य और वायु। नवीन वैज्ञानिक भी प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक आदिमें परस्पर सादृश्य मानते हैं। यह अग्नितत्व सर्वद्रव्योंमें प्रविष्ट होकर उसका रूप धारण कर लेता है। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है—"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"। यह अग्नि-तत्व सभी मूर्त द्रव्योंमें प्रविष्ट है, इसका समर्थन अथर्ववेदमें भी मिलता है—"ये अग्नयो अप्सु ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु आविवेश, ओषधीर्या वनस्पतीस्ते-भ्योऽग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्"। (१६।५।७)। यह अग्नितत्व उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु गुणवाला प्रकृतिगत सभी दहन-पचन-प्रकाश-प्रभा-भास्वर रूपादि भावोंका मूलकारण है। प्रकृतिके सत्व रजोगुणाधिक्यसे इसकी उत्पत्ति है। दृश्यमान पाञ्चभौतिक स्थूलाग्नि सूर्यादिकोंमें भी अग्नि तत्वकी अधिकता है अतः इसे तेज कहते हैं। छान्दोग्योपनिषद्में भी कहा है—"यदग्नेः रोहितं रूपं तेजसस्त-द्रूपं, यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य। यदादित्यस्य रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य।

समवायेन उष्णस्पर्शवत्वं तेजस्त्वम्" अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्धसे उष्णस्पर्श रहे उसे 'तेज' कहते हैं। "लोहितरूपत्वं तेजस्त्वं" अर्थात् जिसमें

समवाय सम्बन्धसे लोहित रूप रहे उसको तेज कहते हैं, ये दोनों लक्षण सूत्रोक्त लक्षणके निष्कर्ष रूप हैं। जलादिमें जो उष्ण स्पर्शकी प्रतीति होती है वह तेज के सम्बन्धसे होती है, स्वतः नहीं। इसलिये उनमें उक्त लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। यहां भी जलादि द्रव्यगत उष्णस्पर्शकी प्रतीतिका हेतु स्वसमवायि संयोग सम्बन्ध है। 'स्व' पदसे उष्णस्पर्शका ग्रहण है उसके समवायि तेज द्रव्यका जलादिकोंके साथ संयोग होनेसे उक्त प्रतीति होती है। अतएव उक्त परम्परासम्बन्ध उसका कारण कहा गया है। वस्तुतः "तेजस्त्व-जातिमत्वं तेजस्त्वम्" अर्थात जिसमें तेजस्त्व जाति रहे उसका नाम 'तेज' है। यही तेजका समीचीन लक्षण है।

वायु निरूपण—

"आकाशाद्वायुः"। (तत्तिरीयोपनिषद्)

"आकाशस्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचि"

(मनु)

"आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह।
वायुरुत्पद्यते तस्मात् तस्य स्पर्शो गुणो मतः॥

(विष्णुपुराण)

"रजोबहुलो वायुः"। (सुश्रुत)

"अपाकजोऽनुष्णशीत स्पर्शस्तु पावने।
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादि लिङ्गकः॥
पूर्ववन्नित्यतायुक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम्।
प्राणादिस्तु महावायु पर्यन्तो विषयो मतः"॥

(मुक्तावली)

"स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व संस्कारवान्। स्पर्शोऽस्यानुष्णशीतत्वे सत्यपाकजः, गुणविनिवेशात् सिद्धः। अरूपिष्व चाक्षुषवचनात् सप्त संख्यादयः। तृणकर्मवचनात् संस्कारः"।

(प्रशस्तपादः)

भावार्थ—क्रमशः आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय०)। सृष्टिक्रममें पवित्र वायुकी उत्पत्ति आकाशसे हुई, (मनु)। आकाशकी उत्पत्तिके बाद स्पर्शतन्मात्राकी अभिव्यक्ति हुई जिससे स्पर्शगुणवाला वायु उत्पन्न

हुआ, (विष्णुपुराण)। वायु रजोगुण बहुल है, (सुश्रुत)। अपाकज तथा अनुष्णशीतस्पर्श गुण वायुमें हैं। यह स्पर्शलिङ्गवाला वायु तिर्यग्गमन करनेवाला है। वायु दो प्रकारकी है, नित्य और अनित्य। परमाणु रूप नित्य और अवयवसमवेतरूप अनित्य है। पुनः वह तीन प्रकारका है—शारीर-संज्ञक, इन्द्रिय-संज्ञक और विषय-संज्ञक। शारीर-संज्ञक पूर्ववत् योनिज और अयोनिज भेदसे दो प्रकारका है। इन्द्रिय-संज्ञक देहव्यापी त्वचा है और विषय-संज्ञक प्राण आदि महावायु है, (मुक्तावली)। अपाकज तथा अनुष्णशीतस्पर्श गुणवाले द्रव्यको वायु कहते हैं, (वै० द०)। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व और संस्कार ये ९ गुण जिसमें हों उसे वायु कहते हैं। अनुष्णशीतस्पर्श गुण वायुमें है और यह अपाकज है, अन्य द्रव्योंके समान ही गुण-विनिवेशसे यह सिद्ध है। वायुमें रूप गुण नहीं है अतः इसका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता। तृणकर्म (तृणका हिलना आदि) कहनेसे संस्कार भी सिद्ध हो जाता है, (प्रशस्तपाद)।

वक्तव्य—तेजके संयोग-विशेषका नाम पाक तथा पाकसे उत्पन्न होनेवाले का नाम 'पाकज' है। रूप-रस-गन्ध तथा स्पर्श ये चारों गुण पृथ्वीमें पाकज और जल, तेज तथा वायुमें अपाकज हैं। शीत, उष्ण तथा अनुष्णशीत भेदसे स्पर्श तीन प्रकारका है। इनमें शीतस्पर्श जलमें, उष्णस्पर्श तेजमें और अनुष्णशीत पृथिवी तथा वायुमें रहता है। जिस द्रव्यमें अपाकज तथा अनुष्णशीतस्पर्श समवायसम्बन्धसे रहे, उसका नाम 'वायु' है। यदि "स्पर्शवत्वं वायुत्वं" अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्धसे स्पर्श रहे, उसे 'वायु' कहते हैं, यह वायुका लक्षण करें तो तेज आदि द्रव्योंमें उसकी अतिव्याप्ति होती है क्योंकि उनमें भी स्पर्श गुण समवाय सम्बन्धसे विद्यमान है, अतः इसकी निवृत्तिके लिये 'अनुष्णशीत' यह स्पर्शका विशेषण दिया है। इस विशेषणके देनेसे तेज तथा जलमें अतिव्याप्ति निवृत्त होनेपर भी पृथ्वीमें वह ज्योंकी त्यों बनी रहती है, अतः इसकी निवृत्तिके लिये अनुष्णशीतकी भांति 'अपाकज' विशेषण दिया गया है। इस विशेषणके देनेसे पृथ्वीमें उक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि पृथ्वी अपाकज तथा अनुष्णशीतस्पर्शवाली नहीं है। वस्तुतः "वायुत्व जातिमत्वं वायुत्वं" यह वायुका समीचीन लक्षण है।

यदि प्रकृतिके अन्दर वायुका बीज न होता तो आकाशसे वायुकी उत्पत्ति कभी नहीं होती। सांख्य उस बीज या सूक्ष्म तत्वको स्पर्शतन्मात्रा कहता है। इस प्रकार प्रकृतिगत स्पर्शतन्मात्राकी सहायतासे आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीयोपनिषद्, मनुस्मृति तथा विष्णुपुराण आदिमें जो आकाशसे वायुकी उत्पत्तिका वर्णन मिलता है उसका अर्थ यह है कि सृष्टिका विकास क्रमशः प्रकृति

गत तन्मात्राओंके विकाशसे अर्थात् सूक्ष्मसे स्थूल, स्थूलसे स्थूलतर और स्थूलतर से स्थूलतम द्रव्योंमें हुआ। इस क्रमशः विकास तथा अभिव्यक्तिको वेदान्तमें क्रमशः उत्पत्ति कहा गया है। सांख्य उसे प्रकृतिका क्रमशः परिणाम होना कहता है। सत्कार्यवादी इसे कारणसे कार्यकी ओर अभिव्यक्ति कहता है।

यह वायु महाभूत अति सूक्ष्म, सर्वगत और संसारके सभी द्रव्योंकी आत्मा है, ऐसा प्रतिपादन करता हुआ सुश्रुत कहते हैं कि "स्वयंभूरेष भगवान् वायु-रित्यभिशब्दितः" स्वातन्त्र्यात् नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च॥ सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोक नमस्कृतः"। इति। चरकने भी वायुका सर्वकर्ममूलत्व सर्वचेष्टाविधातृत्व और सर्वक्रान्तत्व प्रतिपादन करते हुए कहा है—"स हि विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः सर्वतन्मात्राणां विधाता भावानामणुः विभुः विष्णुः क्रान्ता लोकनाम्" इति। यह अव्यक्त तत्व कर्मसे व्यक्त होता है इस आशयसे सुश्रुतने भी इसे "अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च" ऐसा कहा है। "स्थित्युत्पत्तिविना-शेषु भूतानामेष कारणम्" सुश्रुतके इस वाक्यसे सभी परिवर्त्तनोंमें वायु ही मूल कारण है यह स्पष्ट हो जाता है। कल्पके आदिमें आकाश तत्व अचल, प्रशान्त और सर्वगतियोंसे रहित द्रव्य था। ऐतरेयोपनिषद् के इस वाक्यसे कि "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किंचित्मिषत्" तथा बृहदारण्यको पनिषद्के"मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" इस वाक्यसे कल्पके प्रारम्भमें सर्वथा गतिका आभाव स्पष्ट मालूम होता है। अतएव आकाश तत्वसे सर्व प्रथम गतिका मूल तत्व उत्पन्न हुआ। इस विश्वमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो गतिशील न हो। इसलिये इसका नाम जगत् (गच्छतीति जगत्) और संसार (संसर-तीति संसारः) पड़ा है। अणुसे लेकर सूर्यादि ग्रहोपग्रह तक कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो गतिहीन हो। जिस प्रकार ग्रहोपग्रह सूर्यके चारों तरफ सर्वदा परिभ्रमण करते रहते हैं, उसी प्रकार इस सूक्ष्म अणुके अन्दर भी मध्यस्थ धनविद्युत् पिण्डके चारो तरफ ऋण विद्युत् पिण्ड घूमते रहते हैं। उपनिषदोंमें भी आता है कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसमें गति न हो। जैसे—"यदिदं किञ्च जगत् सर्व प्राण एजति निःसृतम्" अर्थात् जो कुछ यह सर्व जगत् है, वह प्राण रूपी ब्रह्मसे चलता है, अर्थात् उसीके आश्रय है और उसीसे निकला हुआ है। वेदान्त सूत्रमें भी "कम्पनात्" (१।३।३४) इस सूत्रसे सब भावोंमें कम्पन अङ्गीकार किया गया है। जगतके इस कम्पनका मूल कारण वायु तत्व है। इसी अभिप्रायसे चरक, सुश्रुत आदिमें वायुको सर्वात्मा, विश्वकर्मा, विश्व-रूप, सर्व तन्त्रविधाता इत्यादि विशेषण दिये गये हैं। "वा गतौ" "वा गति-गन्धने" इन धातुओंसे वायुकी निष्पत्ति है। "स्थित्युत्पत्ति विनाशेषु भूतानामेष कारणं" इस वाक्य से सब भावोंके स्थितिका मूल कारण वायु है, यह कहा गया

है। इसका समर्थन बृहदारण्यकोपनिषद्में भी मिलता है, यथा "वायुना वै गौतम सूत्रेण अयं च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति।" जिस प्रकार प्राण शरीरका धारण करता है और उसके नष्ट हो जानेसे यह शरीर भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार यह वायु सर्व जगतका धारण करता और उसके लयसे संसारका भी लय हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है—"वायुर्ह वैतान्सर्वान् संवृङ्क्ते। प्राणो ह वा एतान्संवृङ्क्ते। तस्मिन् शान्ते सर्वं स्वपिति"। इति। कठोपनिषद् में—"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"। अर्थात् जैसे एक वायु चतुर्दश लोकमें प्रवेश करता हुआ प्रत्येक शरीर में तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार वायुको सर्वात्मरूप प्रतिपादन किया है। इस तरह संसारके चराचरके चेष्टा, स्पदन, कम्पनादि सभी गतियोंका मूल कारण यह गत्यात्मक वायुतत्व है, जो प्रकृतिके रजोगुणाधिक्यसे उत्पन्न हुआ है। अतएव सुश्रुतने "रजोबहुलो वायुः" ऐसा कहा है।

आकाश निरूपण—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश संभूतः"

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

"भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दमात्रं ससर्ज ह।
आकाशं सुषिरं तस्मादुत्पन्नं शब्दलक्षणम्॥"

(मनु)

"सत्वबहुलमाकाशम्" (सुश्रुत)

"आकाशस्यतु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।
इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः॥"

(मुक्तावली)

"त आकाशे न विद्यन्ते" (वै० द० २-५)

"तत्राकाशस्यगुणाः शब्दसंख्या परिमाणपृथक्त्व संयोग विभागाः"

(प्रशस्तपादः)

भावार्थ—उस आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुई, (तैत्तिरीय०)। महाभूतोंके उत्पत्तिक्रममें सर्वप्रथम शब्द लक्षण वाला शब्दतन्मात्राकी सहायतासे सुषिर आकाश उत्पन्न हुआ, (मनु)। आकाश सत्व बहुल है, (सुश्रुत)। आकाशका विषयसंज्ञक गुण शब्द है, उसकी इन्द्रिय श्रोत्र है, वह एक होनेपर

भी उपाधियुक्त है, (मुक्तावली)। वे (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) गुण आकाश-में नहीं हैं (वै० द०)। आकाशके गुण शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये ६ हैं, (प्रशस्तपाद)।

वक्तव्य—उपरोक्त सूत्रोंसे यह प्रतीत होता है कि शब्दतन्मात्रा या आकाशतन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्माकाश ही महदाकाश तथा वाय्वादि सभी महाभूतोंका मूलकारण है। इसी आकाशसे प्रकृतिगत स्पर्शतन्मात्रा आदिकी सहायतासे क्रमशः वाय्वादिकी उत्पत्ति (विकास) हुई है। यह आकाश सब महाभूतोंका मूलकारण है, यह सिद्धान्त श्रुतिमें भी प्रतिपादित है। भूतोत्पत्तिका वर्णन करते हुए विष्णुपुराणमें भी कहा है कि—"भूतादिके सृष्टि क्रममें प्रथम शब्द-तन्मात्राकी सृष्टि हुई, जिससे शब्द लक्षण वाला सुषिर आकाश उत्पन्न हुआ। छान्दोग्यमें भी इसका समर्थन मिलता है, जैसे—"अस्य लोकस्य का गति-रिति; आकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति, आकाशोह्येवेभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्।" अर्थात् शिलक ऋषि पूछते हैं कि इस मृत्युलोकका आश्रय कौन है। इसके उत्तरमें प्रवाहण ऋषि कहते हैं कि आकाश है, क्यों कि आकाशसे ही इस लोकके सभी स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न हुए हैं और आकाश हीमें लीन होते हैं। इसीसे आकाश इन स्थावर जंगम पदार्थोंसे श्रेष्ठ है और आकाश ही सर्वभूतोंका मुख्य आश्रय है। सर्वप्रथम आकाशकी उत्पत्ति हुई, ऐसा स्मृतियोंमें बहुत जगहोंपर प्रतिपादित है। जैसे "पुरास्तिमितमाकाशमनन्त मचलोपमम्। नष्ट चन्द्रार्क-पवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ।" इसी प्रकार वाक्यप्रदीपमें भी आता है—"आकाशात्सर्वमूर्तयः।" ऋग्वेदके "नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्" इस नारदीय सूक्तसे भी यही ध्वनि निकलती है कि सृष्टिमें सर्वप्रथम अन्तरिक्ष आकाशकी ही उत्पत्ति हुई। सृष्टिके अन्तमें सर्वद्रव्य आकाशमें ही लीन हो जाते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मज्ञानतंत्र तथा निर्वाणतंत्रमें भी कहा है कि—"मही संलीयते तोये तोयं संलीयते रवौ। रविः संलीयते वायौ वायुरंभसि लीयते। पञ्चतत्वाद् भवेत्सृष्टिस्तत्वेतत्वं विलीयते।" इति॥

वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक (Physicist) भी इस सिद्धान्तका समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि आकाशका ही परिणाम द्रव्य है अर्थात् द्रव्य आकाशका रूपान्तर मात्र है, (Every thing in the material universe consists of ether, and matter itself being in all probability one of its modifications (Encyclopedia Britanica) Familiar thing that we call matter is after all a manifestation of ether

& energy (Encyclo. Brit.) । संसारके सभी द्रव्य धनविद्युत् पिण्ड (Protons) और ऋण विद्युत् पिण्ड (Electrons) से बना हुआ है। और यह पिण्डद्वय आकाशका ही परिणाम है। जिस प्रकार रज्जुग्रन्थि रज्जुका ही परिणाम है और वह रज्जु परिणाम होनेपर भी एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा सकता है, उसी प्रकार आकाशका परिणाम यह पिण्डद्वय एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जा सकते हैं। (Matter is composed of ether, being built up of electrons & protons, whose constitution has not yet been ascertained but which some how is constructed of ether perhaps, in some sense analogous to that in which a knot in a piece of string is constructed of string or a vertex in air is composed of air or a fibre or muscle is still essentially flesh. Yet a modified piece of ether like an electron can move from one place to another, the analogy of loose knot stepping along a string may be helpful. (Encyclo. Brit. ether) भारतीय दार्शनिकोंने तो आकाशको भावात्मक और अति सूक्ष्म तत्व माना है। जिस प्रकार प्रशान्त सलिलमें तरङ्गकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अति तरल सूक्ष्मातिसूक्ष्म इस आकाश द्रव्यमें भी शब्द तरङ्ग उत्पन्न होते हैं। इस अकाश-तत्वमें अवरोध तथा सङ्घर्षगुणात्मक स्पर्शगुणका सर्वथा अभाव होनेके कारण ये तरङ्ग अबाधरूपसे सब दिशाओंमें प्रसारित होते रहते हैं। यही कारण है कि नवाविष्कृत 'वायरलेस टेलीग्राफी' नामक यन्त्रकी सहायतासे हम उन शब्दोंको आज श्रुतिगोचर कर रहे हैं। दूरस्थ व्यक्ति भी कभी-कभी हमारे मानसिक शब्दोंसे प्रभावित जो दीख पड़ते हैं उसमें भी यह आकाशतत्व ही कारण है। स्पर्श आदि समस्त गुणोंसे रहित शब्द मात्रधर्मी इस अतिसूक्ष्म तरल द्रव्य आकाशमें ही सारा ब्रह्माण्ड निमग्न प्रतीत होता है। इसी द्रव्यसे सुदूरवर्ती सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि परस्पर सम्बद्ध हैं। पृथ्वीका जीवनभूत सूर्यका प्रकाश विद्युत, चुम्बक तथा आकर्षण शक्ति आकाश द्वारा ही एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाता है। यदि यह आकाश अभावात्मक होता तो वाहकके अभावमें उक्त द्रव्योंका एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाना असम्भव था। इसीके द्वारा किसी मूर्त वस्तुका प्रभाव दूरसे भी होता है। प्रकाशका भी यही कारण है। "काशृ दीप्तौ" इस धातुसे आकाश शब्द बना हुआ है। तामस अहंकारसे उत्पन्न होने पर भी इसमें सत्वगुणातिरेक है और सूक्ष्म तथा लघु इसके भौतिक गुण हैं। इसीलिये सुश्रुतने आकाशको सत्वबहुल कहा है। आकाश विभुः (सर्वगत) है, यह प्रचीन सिद्धान्त है। दृश्यमान लोह आदि पिण्डमें भी यह व्याप्त है। 'एटम' (Atom) के घटक धनविद्युत्पिण्ड और ऋणविद्युत्पिण्डके मध्यमें भी

यह आकाश रहता है। सभी भूतोंका आरम्भक होनेसे इसे 'कारणाकाश' भी कहते हैं। पाञ्चभौतिक मूर्तद्रव्योंमें सन्निविष्ट आकाश 'कार्याकाश' है।

पञ्चमहाभूत और इनके नैसर्गिक गुण तथा भूतानुप्रवेश—

"महाभूतानि खं वायु-रग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥"

(च० शा० १)

"आकाश पवन दहन तोय भूमिषु यथासंख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः-
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः (सु० सू० ४२-१)

"तेषामेक गुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः" ॥

(च० शा० १)

"परस्पर संसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्"। (सु० सू० ४२)

उपस्कार—महाभूतानीति। महान्ति भूतानि महाभूतानि। खादीनि सूक्ष्म भूतानि। महत्वं सर्वविकारव्यापित्वात्। तेषां महाभूतानां खं वाय्वग्न्यप् क्षितीनां पञ्चानां गुणाः तद्गुणाः, पञ्च क्रमान्—शब्दः स्पर्श रूपं रसः गन्धश्चेति। नैसर्गिक गुणमुक्त्वा भूतान्तरानुप्रवेश कृतं गुणमाह, तेषामिति। तेषां खादीनां मध्ये पूर्वं प्रथमं अर्थात् खं एकगुणं, परे परे गुणवृद्धिः—तद्यथा वायुः द्विगुणः। अग्निः त्रिगुणः। चतुर्गुणाः-आपः। पञ्चगुणा क्षितिः—सा च गुणवृद्धिः यथा भवति तदाह—पूर्वः पूर्व इति। गुणिषु नैसर्गिकगुणवस्तु नैसर्गिकगुणाः शब्दादयः। खादिषु क्रमशः पूर्वःपूर्व गुणः स्मृतः। एवं च स्पर्शगुणो वायुः पूर्वभूतस्याकाशस्य गुणं शब्दं आस्थाय द्विगुणः शब्दस्पर्शगुणो भवति। रूपगुणोऽग्निः पूर्वभूतयोःख वाय्वोः शब्दस्पशगुणयोः गुणौ शब्दस्पर्शावादाय त्रिगुणः शब्द स्पर्शरूप गुणः। रसगुणाः आपः पूर्वेषां ख वाय्वग्नीनां गुणान् शब्दस्पर्शरूपाण्या-दाय चतुर्गुणाःगन्धगुणा। क्षितिःपूर्वभूतगुणैः शब्दस्पर्शरूपरसैः पञ्चगुणाः।

डल्हण—आकाशेत्यादि। आकाश पवन दहन तोयभूमिषु यथासंख्यं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा जायन्त इति शेषः। किं विशिष्टास्ते? एकोत्तर परिवृद्धा इति, तथाहि शब्दगुणकमाकाशं, शब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्द-स्पर्श रूपगुणंतेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध गुणाः पृथ्वी, परस्परं भूतानुप्रवेशादित्थमेकोत्तरा वृद्धिर्ज्ञेया। "तत्रसर्वेषु भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्ति—इति दर्शयन्नाह—परस्पर संसर्गा-दित्यादि। परस्परसंसर्गात्–अन्योऽन्यसंयोगात्, परस्परानुग्रहात्–अन्यो-ऽन्योपकारात्, परस्परानुप्रवेशात्–अनुप्रवेशात्–एकात्मीभावात्, सर्वेषु भूतेषु सर्वेषां आकाशादीनां सर्वेषु द्रव्येषु इत्यन्ये। सर्वेषु भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्तीति सर्व एव गुणाः सर्वेषां भूतानां प्राप्नुवन्ति-इत्याह-उत्क-र्षापकर्षादित्यादि। उत्कर्षो वृद्धिः, अपकर्षो ह्रासः, आकाशाधिके द्रव्ये शब्दोऽधिकः, वाताधिके द्रव्ये स्पर्शोऽधिकः, एवं शेषभूतेषु शेषगुणाः।

भावार्थ—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत हैं और क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इनके नैसर्गिक गुण हैं। ये गुण इन भूतोंमें उत्कर्षसे होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भूतोंके गुण भी अपकर्षसे होते हैं, इसीलिये ऊपरके सूत्रमें "गुणवृद्धिः परे-परे" और "एकोत्तर परिवृद्धाः', कहा गया है। अर्थात् आकाशमें शब्द, वायुमें शब्द स्पर्श, अग्निमें शब्द स्पर्श रूप और जलमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों गुण अपकर्ष तथा उत्कर्षसे वर्तमान हैं। सब तत्वोंका सब तत्वोंमें परस्पर संसर्ग होनेसे, परस्पर अनुग्रहसे, और परस्पर एकका एकमें प्रवेश होनेसे सब तत्वोंका सब तत्वोंमें सान्निध्य होता है। परन्तु जिस-जिसमें उत्कर्ष होता है उसीके नामसे उसका ग्रहण किया जाता है और जिसका अपकर्ष होता है उसका नाम नहीं होता।

वक्तव्य—भू-सत्तायां (भ्वादि० परस्मै० अक० सेट् भू+क्तः=भूतः) अर्थात् जिसकी सत्ता हो, जो यथार्थमें हो उसे भूत कहते हैं। "महान्ति भूतानि महाभूतानि" अर्थात् उक्त भूत संसारके सभी चराचर वस्तुओंमें व्याप्त है, अतः इन्हें महाभूत कहते हैं। इनमें आकाशका नैसर्गिक गुण शब्द है, वायुका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और पृथ्वीका गन्ध गुण नैसर्गिक हैं। इनमें आकाशमें केवल एक ही गुण है, अन्य वाय्वादि भूतोंमें अपकर्षसे अपनेसे पूर्व भूतोंके गुण भी उपस्थित रहते हैं; इनका नामकरण उनके उत्कर्षगुणसे किया जाता है। जैसे वायु शब्द-स्पर्श दो गुणवाला है। अग्नि शब्द-स्पर्श-रूप तीन गुणवाला और

जल शब्द-स्पर्श-रूप-रस चार गुणवाला है। इसी प्रकार पृथ्वी-शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्ध पांच गुणवाली हैं। इन गुणोंके परस्पर संसर्ग होनेसे, अनुग्रहसे तथा एकमें एकके प्रविष्ट होनेसे सब तत्वोंका सब तत्वोंमें सान्निध्य होता है।

पञ्चमहाभूतोंके भौतिक गुण—

"खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥"

(च० शा० १)

अर्थ—खरत्व, द्रवत्व, चलत्व, उष्णत्व और अप्रतिघात ये क्रमशः पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाशके भौतिक गुण हैं। अर्थात् पृथ्वीका खरत्व, जलका द्रवत्व, वायुका चलत्व, अग्निका उष्णत्व और आकाशका अप्रतिघात भौतिक गुण है। ये सभी लक्षण स्पर्शेन्द्रिय गोचर हैं। अर्थात् स्पर्शके द्वारा उक्त सभी लक्षणोंका ज्ञान हो जाता है। स्पर्शका न होना (आकाशका अप्रतिघात गुण) भी स्पर्शेन्द्रिय विज्ञेय है। अतः—"लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शेन्द्रियगोचरः। स्पर्शेन्द्रिय विज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः॥" (चरक० शा० १)। गुणियोंके शरीरमें गुण ही चिह्न होता है, जिससे उनका पहचान होता है। शब्दादि जो पहले पञ्चमहाभूतोंके गुण कहे गये हैं, वे तो इन्द्रियोंके अर्थ हैं। जैसा कि नैयायिकोंने कहा है—"गन्धरस रूप स्पर्शशब्दाः पृथिव्यादि गुणास्तदर्थाः" (न्या० १।१।१४)। चरकने भी—

"गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च।
अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः"॥

ऐसा कहा है।

पञ्चमहाभूत—पृथ्वी-अप्-तेज-वायु-आकाश इन पांचों (कारण) द्रव्योंको पञ्चमहाभूत कहते हैं। संसारके परमाणुसे लेकर पहाड़तक सभी द्रव्योंकी उत्पत्ति इन पाँच महाभूतोंसे ही है। ये पांचों महाभूत प्रकृतिगत पञ्चतन्मात्राओं (बीजरूप सूक्ष्म महाभूतों) से क्रमशः अभिव्यक्त हुए हैं। जिनके द्वारा (द्रव्यका) ज्ञान होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं। ये इन्द्रियां (ज्ञानके द्वार) पांच हैं, जिन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। अतः ज्ञानके द्वार पाँच होनेसे हमें पांच प्रकारके द्रव्योंका ही ज्ञान होना सम्भव है। इनमें श्रोत्रेन्द्रियसे शब्दमात्रका ही ज्ञान सम्भव है।

इसी प्रकार त्वक्से स्पर्श, चक्षुसे रूप, जिह्वासे रस तथा घ्राणेन्द्रियसे गन्धमात्रका ज्ञान ही सम्भव है। इस प्रकार पांच प्रकारकी ही प्रतीति या बाह्य विषयोंका ज्ञान हमारे लिये सम्भव है, जो उक्त इन्द्रियों द्वारा पृथक् पृथक् होती

है। इन इन्द्रियोंका विषय नियत है (प्रतिनियत-विषयैकानीन्द्रियाणि) अतः एक इन्द्रियसे दूसरी इन्द्रियार्थका ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिये सुश्रुतमें लिखा है—"इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः। नियतं तुल्ययोनित्वात् नान्येनान्यमिति स्थितिः" (सु० शा० १)। सुख दुःख आदिकी प्रतीति आन्तरिकी है, जो मनके द्वारा होनेसे मानसिकी कही गई है वह इससे भी भिन्न है।

उपरोक्त पांच विषयोंके अतिरिक्त और कोई (बाह्य) विषय नहीं है। यदि हो भी तो उसके ज्ञानका कोई साधक नहीं। अतः साधक या ज्ञापकके प्रमाणाभावमें ज्ञेयका भी अभाव है यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इन पांच प्रकारके प्रतीतियोंके विषयभूत पांच ही सूक्ष्म तत्व हैं यह दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। इनमें श्रोत्रेन्द्रिय गम्य तत्वको शब्दतन्मात्रा या आकाशमात्रा कहते हैं। त्वगिन्द्रियगम्य तत्वको स्पर्शतन्मात्रा या तेजोमात्रा, रसनेन्द्रियगम्य तत्वको रसतन्मात्रा या अप्मात्रा, और घ्राणेन्द्रिय गम्य तत्वको गन्धतन्मात्रा या पृथ्वीमात्रा कहते हैं। प्रश्नोपनिषद्‌में—"पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा, तेजश्च तेजोमात्रा वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्च आकाशमात्रा" इस प्रकारका वर्णन मिलता है।

वस्तुतः ये सूक्ष्म तत्व इन्द्रिय विषय नहीं परन्तु इनमें इन्द्रिय विषयका बीज रहता है· अतः इन्द्रियगम्यता बीजरूपेण इनमें है। ये तो योगियोंके अनुभवगम्य विषय हैं, जिन्हें सांख्य तत्व कौमुदीमें कहा गया है कि ये पञ्चभूतोत्पादक सूक्ष्म तत्व अर्थात् पञ्चतन्मात्रायें प्रकृतिमें प्रसुप्त रूपसे विद्यमान रहती हैं। इनकी उत्पत्ति सांख्यकारोंने तामसिक अहंकारसे बताई है। यह अहंकार भूतादिके कारण होनेसे भूतादि कहा जाता है। इस भूतादि अहंकारसे राजसिककी सहायतासे क्रमशः पञ्चमहाभूतोंके बीजभूत सूक्ष्मतत्व पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई।

व्यासभाष्यके अनुसार प्रथम शब्दमात्र धर्मवाला महादाकाशका बीजभूत शब्दतन्मात्र नामक सूक्ष्मतत्व समुत्पन्न हुआ। उस शब्दतन्मात्रासे भूतादि अहंकारकी सहायतासे शब्दगुणातिरिक्त स्पर्शविशेष धर्मवाला वायुभूतका बीजभूत स्पर्शतन्मात्रा नामका सूक्ष्मतत्व उत्पन्न हुआ। उस स्पर्शतन्मात्रासे पुनः भूतादिकी सहायतासे शब्दस्पर्शगुणातिरिक्त रूपविशेष धर्मवाला तेजोभूतका बीजभूत रूपतन्मात्रा नामक सूक्ष्मतत्वका आविर्भाव हुआ। इस रूपतन्मात्रासे और भूतादिकी सहायतासे शब्दस्पर्शरूपगुणातिरिक्त रसविशेष धर्मवाला अब्भूतका बीजभूत सूक्ष्मतत्व रसतन्मात्राकी उत्पत्ति हुई। उससे पुनः भूतादिकी सहायतासे शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणातिरिक्त गन्धविशेष धर्मवाला पृथिवीभूतका बीजभूत सूक्ष्मतत्व गन्धतन्मात्राकी उत्पत्ति हुई। इन अतीन्द्रिय सूक्ष्मतत्वोंसे क्रमशः

पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। ये व्यास-वाचस्पति-विज्ञानभिक्षु प्रभृतिकी व्याख्यानुसार निम्न प्रकारसे उत्पन्न हुए।

भूतादिकी सहायतासे शब्दतन्मात्रा या सूक्ष्माकाशतत्वसे शब्दगुणवाले महदाकाशकी उत्पत्ति हुई। शब्दस्पर्शतन्मात्रा या सूक्ष्माकाशसे स्पर्शतन्मात्रा की सहायतासे शब्दस्पर्शगुणवाले वायुभूतकी उत्पत्ति हुई। शब्द-स्पर्श-रूप तन्मात्राओंसे या सूक्ष्माकाश और सूक्ष्म वायुतत्वसे रूपतन्मात्राकी सहायतासे शब्द-स्पर्श-रूप-गुणवाले तेजोभूतकी उत्पत्ति हुई। शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्राओं से या सूक्ष्माकाश, सूक्ष्मवायु और सूक्ष्म तेज शब्दोंसे रसतन्मात्राकी सहायतासे शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणवाले अप्तत्व (भूत) की उत्पत्ति हुई। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्राओंसे या सूक्ष्माकाश-सूक्ष्मवायु-सूक्ष्मतेज और सूक्ष्म अप्तत्वोंसे गन्ध-तन्मात्राकी सहायतासे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुणवाले पृथिवी भूतकी उत्पत्ति हुई।

अतिसूक्ष्म होनेसे शून्यरूप आकाश पहला महाभूत हुआ। यह आकाश आधुनिकोंका 'ईथर' है या नहीं, यह विचारणीय है। क्योंकि 'ईथर' को अनन्त-शक्तिका भंडार और जगतके कारणभूत 'एलेक्ट्रोन्स' का उत्पादक कहा गया है। आकाशसे वायुका विकास हुआ। वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी हुई। दार्शनिक लोग पदार्थोंकी पांच अवस्था बतलाते हैं, जैसे—(१) गुण, (२) अणु, (३) रेणु, (४) स्कन्ध, और (५) सत्व। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये क्रमशः महाभूतोंके गुण हैं। इन पांचोंको तन्मात्रा भी कहते हैं। इन्हें हम किसी पात्रमें रखकर नहीं बतला सकते। किसी यन्त्र द्वारा इनकी परीक्षा करना भी असम्भव है।

पञ्चमहाभूतोंकी बनावट—

१—२ तन्मात्रा (१ शब्दतन्मात्रा)=आकाश (व्यापक)

२—१ शब्दतन्मात्रा+२ स्पर्शतन्मात्रा=वायु (शब्द+प्रधान स्पर्शगुणयुक्त) अणुसमुदाय

भौतिक (४९ रूप) — शारीरिक (पञ्चरूप)

३—१ शब्दतन्मात्रा+१ स्पर्शतन्मात्रा+२ रूपतन्मात्रा=अग्नि (शब्द स्पर्शरूपगुण प्रधान) अणुसमुदाय।

४— ,, + ,, +१ रूपतन्मात्रा+ २ रसतन्मात्रा=अप् (शब्द स्पर्श रूप रस प्रधान) अणुसमुदाय।

५— ,, + ,, + १ रसतन्मात्रा + २ गन्धतन्मात्रा=पृथ्वी (शब्द स्पर्शरूप रस गन्धप्रधान) अणुसमुदाय।

इस प्रकार सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राओंसे पहले तत्वोंकी एक मात्रा और अपने तत्वोंके दो भागसे आकाश आदि स्थूल महाभूतोंकी क्रमशः उत्पत्ति हुई है। यह त्रिवृत्तकरण दार्शनिकोंका 'अणु' रूप है। इन अणुओंका रासायनिक प्रक्रियाके बिना जो अवयव विभाग क्रम अविभाज्य होता है वही 'रेणु' है। उन 'अणु' 'रेणुओं' के आरम्भक अवयवीको 'स्कन्ध' कहा जाता है। अवयवीको क्रमसे आरम्भ मान अवस्था शरीर और इन्द्रियके अनुभवमें आती है, वह 'सत्व' है। गुणसे लेकर स्कन्धतककी अवस्था भूत और महाभूत शब्दसे परिबोधित होती है और सत्व अवस्था प्राप्त द्रव्य भौतिक नामसे पुकारे जाते हैं।

यह सारा विश्व पञ्चमहाभूतोंका खेल है। इन पञ्चमहाभूतोंका जो इन्द्रियग्राह्य विषय नहीं है वही तन्मात्रा महाभूत है और जो इन्द्रियग्राह्य हैं वे ही भूत हैं। आत्मा और आकाश अव्यक्त तत्व और शेष व्यक्त तत्व हैं। यह हमारी सृष्टि भूतोंका समुदाय है। पृथ्वीमें गति वायुसे, अवयवोंका मेल और संगठन जलसे और उष्णता अग्निसे आई। पृथ्वी अन्तिम तत्व है अर्थात् उससे किसी नये तत्वकी उत्पत्ति नहीं होती।

परमाणुवाद—

"न प्रलयोऽणु सद्भावात्" (न्या० द० ४।२।१६)

अथापि अवयव विभागमाश्रित्य वृत्तिप्रतिषेधादभावः प्रसज्यमानो निरवयवात्, परमाणोर्निवर्तते न सर्वं प्रलयाय कल्प्यते। निरवयवत्वं तु खलु परमाणोर्विभागैरल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात् लोष्ठस्य प्रविभज्यमानावयवस्याल्पतरमल्पतममुत्तरोत्तरं भवति स चायमल्पतरप्रसङ्गः यस्मान्नाल्पतरमस्ति यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्तते, यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे इति॥ (वात्स्यायन)

"परमाणुत्व परिमाणवान् परमाणुः" (वै० द० ३।१)

यत्रोत्तरोत्तरं गच्छन्नवयवावयवी प्रवाहस्तावदुपरमते यतश्चनापरं किञ्चिदल्पतमं विद्यते, यः खलु परमोऽल्पीयान् स परमाणुरिति परिभाष्यते। (प्रशस्तपादः)

अर्थ—जो परम अणु अर्थात् परम सूक्ष्म परिमाणवाला हो उसे परमाणु कहते हैं। जहां अवयवगत क्रिया द्वारा लोष्ठादि अवयवी द्रव्यके अवयवोंका परस्पर उत्तरोत्तर विभाग होनेके कारण जहां अवयवावयवी विभागका प्रवाह निवृत्त होकर शेषमें जो परम सूक्ष्म अवयव रहता है, जिसके उपर अन्य किसी

अवयवका विभाग नहीं हो सकता अर्थात् जो परम सूक्ष्म निरवयव द्रव्य है वही 'परमाणु' है। इसी अभिप्रायसे वात्स्यायन मुनिने न्याय भाष्यमें कहा है— जब किसी लोष्ठ (मिट्टी के ढेले) को पीसनेसे उसके अवयवोंका विभाग हो जाता है और उक्त विभागसे उत्तरोत्तर अवयव अल्प, अल्पतर होते हुए जहां समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जहां अवयवोंके अल्प, अल्पतर होनेका तारतम्य समाप्त हो जाता है, जिसके अनन्तर विभाग करनेसे भी कोई अवयव विभक्त नहीं हो सकता वही अवयवरहित होनेसे अन्त्यावयव निरवयवरूप हुआ, परम सूक्ष्म होनेके कारण 'परमाणु' कहलाता है।

वक्तव्य—अणु, ह्रस्व, महत तथा दीर्घ भेदसे परिमाण चार प्रकारका है। जो वस्तु किसी प्रकारसे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय तथा उत्तरोत्तर न्यून होती जाय दोनोंका किसी स्थानपर अवश्य विश्राम होता है यह नियम है। इस नियम के अनुसार जैसे पृथिवी आदि द्रव्योंके उत्तरोत्तर अधिक होनेसे महत् परिमाणकी समाप्ति आकाशमें देखी जाती है, अर्थात पृथ्वी आदिकी अपेक्षा आकाश परम महत्परिमाणवाला है, वैसे ही पृथ्वी आदि कार्य द्रव्योंके उत्तरोत्तर विभाग होनेसे उत्तरोत्तर अणु परिमाणकी समाप्ति भी अवश्य किसी स्थानपर होना चाहिये। इस प्रकार जहाँ पृथ्वी आदि द्रव्योंके अन्त्य अवयवमें अणु परिमाणकी समाप्ति होती है, अर्थात् जिसके उत्तर अन्य कोई अणु परिमाणवाला अवयव नहीं हो सकता, वही परम अणु परिमाणका आधार होनेसे वैशेषिक मतमें "परमाणु" नामसे कहा जाता है और परम सूक्ष्म होनेसे वह प्रत्यक्षका विषय नहीं किन्तु उसकी सिद्धि अनुमान द्वारा होती है।

अनुमानका प्रकार यह है कि "त्र्यणुकं अवयवजन्यं चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्" अर्थात् झरोखेमें सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे जो सूक्ष्म रज प्रतीत होते हैं उनका नाम 'त्र्यणुक' या 'त्रसरेणु' है। जो द्रव्य चक्षुरिन्द्रियसे प्रत्यक्ष है, वह अवश्य अवयव जन्य होता है, जैसा कि 'घट' द्रव्य चाक्षुष प्रत्यक्षका विषय होनेके कारण कपालादि अवयवोंसे जन्य है। वैसे ही द्रव्यरूप 'त्र्यणुक' भी चाक्षुष प्रत्यक्षका विषय होनेसे अवयवजन्य है और उनके आरम्भिक अवयव वह 'द्व्यणुक' है, अर्थात् 'त्र्यणुक'के अवयवका नाम ही 'द्व्यणुक' है, क्योंकि परस्पर संयुक्त हुए तीन द्व्यणुकोंसे त्र्यणुक रूप कार्य द्रव्यकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'द्व्यणुक'की सिद्धिके अनन्तर परमाणु सिद्धिके लिये यह अनुमान है कि "द्व्यणुकं अवयवजन्यं महदारम्भकत्वात् कपालवत" अर्थात जो महत परिमाणवाले द्रव्य का आरम्भक है वह अवश्य अवयवजन्य होता है, जैसे—कपाल महत् परिमाण-वाले घटरूप द्रव्यके आरम्भक होनेसे कपालिकारूप अवयवों द्वारा जन्य है, वैसे ही द्व्यणुक भी महत् परिमाणवाले त्र्यणुकरूप द्रव्यका आरम्भक होनेसे

अवयवजन्य होना चाहिये। जो इसका आरम्भक अवयव है वही निरवयव द्रव्य 'परमाणु' है।

शङ्का—"परमाणुरवयवजन्यः कार्यद्रव्यसमवायिकारणत्वात् कपालवत्" अर्थात्—जो कार्यद्रव्यका समवायि कारण है, वह अवयव जन्य होता है, जैसे कि घटरूप कार्यद्रव्यका समवायि कारण होनेसे कपाल अपने कपालिकारूप अवयवके जन्य है, वैसे ही परमाणु भी 'द्व्यणुकरूप' कार्यद्रव्यके समवायि कारण होनेसे किसी अवयव द्वारा जन्य होना चाहिये, अतः निरवयव नहीं, सावयव है ?

समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे अनवस्था दोष हो जायगा। यदि 'बीजांकुर' न्यायसे उक्त अनवस्थाको प्रामाणिक माना जाय तो "हिमालयसर्षपयोरपि साम्यप्रसंगः" अर्थात् हिमालय पर्वत तथा सर्षपके परिमाण में कोई भेद नहीं रह जायगा। भाव यह है कि जिस द्रव्यके आरम्भक अवयवोंकी संख्या अधिक होती है, वह अधिक परिमाणवाला अथवा जिसके आरम्भक अवयवोंकी संख्या न्यून होती है वह न्यून परिमाणवाला होता है, यह नियम है। इस नियमके अनुसार हिमालय तथा सर्षप दोनोंका परस्पर परिमाणभेद है। क्योंकि हिमालयके आरम्भक अवयवोंकी संख्या अधिक और सर्षपके आरम्भक अवयवोंकी संख्या न्यून है। अतः यदि अवयवी द्रव्यगत अवयवोंके उत्तरोत्तर विभाग द्वारा निरन्तर अवयवधाराको मानता जाय, अर्थात् कोई परमसूक्ष्म अन्त्यावयव न माने तो हिमालय तथा सर्षप दोनोंके उत्तरोत्तर विभागकी भी कहीं समाप्ति नहीं होगी और उत्तरोत्तर विभागकी समाप्ति न होनेसे दोनों तुल्य परिमाणवाले होने चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है, इससे सिद्ध है कि कहीं न कहीं अवयवधाराकी समाप्ति अवश्य है। जहां समाप्ति है वहीं 'परमाणु' है और यह परमाणु पृथ्वी आदि कार्यद्रव्योंका समवायिकारण होनेपर भी अवयवजन्य नहीं किन्तु निरवयव है। इसी आशयसे प्रामाणिक लोग कहते हैं—"जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुरुच्यते बुधैः॥" (शार्ङ्गधर)। यह परमाणु एक नहीं अनेक हैं। यदि एक ही परमाणु पृथ्वी आदि कार्योंका आरम्भक होता तो इसके नित्य होनेसे निरन्तर कार्यकी उत्पत्ति बनी रहती और कार्यका विनाश कदापि नहीं होता, क्योंकि कार्यविनाशके दो हेतु हैं। (१) अवयवविभाग और (२) अवयवनाश। अतः एक होनेसे अवयव विभाग सम्भव नहीं और नित्य होनेसे विनाश सम्भव नहीं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यद्यपि अवान्तर भेदसे परमाणु अनेक हैं तथापि सत्व, रज और तम भेदसे मुख्य तीन ही प्रकारके हैं। इन्हींको सांख्य, योग तथा वेदान्त त्रिगुण कहते हैं और न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसामें इनकी परमाणु संज्ञा है, और उपनिषद्में लोहित, शुक्ल, कृष्ण तथा प्रकाशक, क्रिया-

जनक और आवरक नामसे कथन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जगतके एक ही उपादान कारणमें दर्शनकारोंका संज्ञामात्र भेद है, उपादान कारणतामें विवाद नहीं है। इस परमाणु रूपकारणावस्थाको जिसे समाधिमें योगीजन भी कठिनता से अनुभव करते हैं जगत्का मूलकारण 'प्रकृति' कहते हैं। इसीको सांख्ययोग तथा वेदान्तमें सत्वादि तीनों गुणोंकी साम्यावस्था कहा है। उपनिषद्के 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्" इत्यादि वाक्य भी इसी अर्थके सूचक हैं। इसी सत्व, रज तथा तमोगुणस्वरूप अनभिव्यक्तावस्था रूप सृष्टिको परमात्माकी शक्ति भी कहा जाता है। सृष्टिके आदिमें परमात्माकी प्रकृतिरूप दिव्यशक्ति अपने गुणोंमें निगूढ़ अर्थात् अव्यक्तरूपसे विद्यमान रहती है। दैवीशक्ति, पराशक्ति, माया, महामाया, प्रकृति, अव्यक्त, अव्याकृतावस्था तथा मूलकारण ये सब शब्द एक ही अर्थकी ओर निर्देश करते हैं। प्रलयकालमें सम्पूर्णजगत पिण्डीभूत होकर अर्थात् कार्यावस्थाको त्यागकर कारणावस्थारूप प्रकृतिमें लीन हो जाता है। उस काल में प्रकृतिका नाम "स्वधा" होता है। जैसा कि ऋग्वेदमें—न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्य अह्न आसीत् प्रचेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यद् न परः किंचनास" (ऋ० १०-३-१२९)। अर्थात् उस प्रलयकालमें न मृत्यु थी, न अमृत था, न रात्रि और न दिनके चिह्न थे। उस समय तो केवल अपनी 'स्वधा' (शक्ति या प्रकृति) के साथ बिना वायुके चेतनतत्व प्राण ले रहा था। उससे परे और कोई पदार्थ न था।

परमाणुवाद तथा प्रकृतिवाद—आधुनिक वैज्ञानिक भी सृष्टिको परमाणुजन्य मानते हैं, परन्तु इनका परमाणु विभाज्य एवं अनित्य है। भारतीय दार्शनिक गौतम तथा कणादका परमाणु नित्य तथा अविभाज्य है। आधुनिक परमाणु पाञ्चभौतिक है, परन्तु गौतम तथा कणादका परमाणु भूतोत्पादकरूप है। पञ्चमहाभूतोंमें चार भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु परमाणुरूपसे और आकाशव्यापकरूपसे किसी द्रव्यकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। द्रव्योंका विभाजित न होनेवाला अंश परमाणु है। आधुनिकोंका ऐटम (अणु) जो विभाज्य है, परमाणु नहीं। सत्वादि तीनों गुण जिसमें समान हों, ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म द्रववत् एकीभूत परमाणुओंके सर्वत्र व्यापक सृष्टिरूप समूहको ही 'प्रकृति' (Supreme nature) कहते हैं। जब इस प्रकृतिमें सत्वगुण अधिक बढ़ जाता है तब उसे महत्तत्व (Intellection) कहते हैं। और जब रजोगुण अधिक होता है तब उसे अहंकार (Egoism) कहते हैं। गुण और गुणीका अभेद सम्बन्ध मानकर अहंकार शब्दसे अहंकार गुणवाले परमाणु लिये गये हैं। इस प्रकार प्रकृति और महत्तत्व (बुद्धि), अहंकार और पंचतन्मात्रा गुणभेदसे आठ नाम परमाणुओं अर्थात् प्रकृतिके ही हैं। प्रकृतिका नाम अव्यक्त भी है। यह

जगत्का कारण है। इन पञ्चमहाभूतोंको तत्व भी कहते हैं। "तनोति इति तत्वं" तनु-विस्तारेके अनुसार जो अपने विस्तारसे तानलेवे वही तत्व है। ये पञ्चमहाभूत अपने रूपका विस्तार कर विश्वका ताना वाना किये हुए हैं, अतएव तत्व कहलाते हैं। पश्चिमी विज्ञान उसे तत्व कहता है, जिसकी रचनामें उसीके परमाणु हों, अन्यका मेल न हो। पूर्वी विज्ञान उनकी क्रियाशीलताका आदर करता है। आजकल तत्व (एलीमेगट) नामसे ६२ पदार्थ समझे जाते हैं और इन्हींके संयोगसे सजीव और निर्जीव सृष्टिका निर्माण स्वीकार करते हैं। इनमें एक जातिके ही परमाणु मिलनेसे ऐसा कहा गया है। इस दृष्टिसे पूर्वी और पश्चिमी विज्ञानके मूलसिद्धान्तोंमें विभेद दृष्टिगोचर होता है और इनका परस्पर मेल खाना कठिन समझा जा रहा है, किन्तु सम्भव है आगे चलकर यह स्थूल मान गम्भीर ज्ञान में परिणत होकर एकताके सूत्रमें बंध जाय। रसायन और किमिया पद्धतिसे ताम्रसे सोना बनाया जा सकता है। सम्भव है इससे इस मौलिकताके ज्ञानमें अधिक विचारकी आवश्यकता पड़े और पञ्चमहाभूतोंका सिद्धान्त ही अधिक युक्ति युक्त प्रतीत हो।

देह—क्षुद्र ब्रह्माण्ड और बाह्यजगत्-बृहत् ब्रह्माण्ड है। क्या क्षुद्र ब्रह्माण्ड क्या बृहत् ब्रह्माण्ड सभी पाञ्चभौतिक हैं। पश्चिमी विज्ञान भी मानता है कि आरम्भमें 'निहारिकाओं' (Nebula) के भीतर जो सूक्ष्म ज्योतिर्मय तरल पदार्थ दिखाई देता है उसीसे निहारिकाओंका आरम्भ होता है। यह ज्योतिर्मय तरल पदार्थ अनन्त देशमें दूरतक फैला रहता है, फिर किसी अज्ञात कारणसे इस अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थके अन्दर आन्दोलन पैदा होता है, फिर बड़े वेगसे वह पदार्थ चक्कर काटने लगता है और घना होने लगता है, अनन्त देशमें फैले हुए इस भयानक चक्करसे अन्तमें कुण्डलीका आकार बनता है, यह विश्वकी बनावट की आदि अवस्था है। इसके पश्चात् सूर्यमण्डल, ग्रह, नक्षत्र आदि बनते हैं। विश्व बना रहता है और सूर्यमण्डल आदि बनते बिगड़ते रहते हैं। ईसाई मानते हैं कि आरम्भमें ईश्वरकी आत्मा नारापर बह रही थी। भारतीय पुराण भी नार या जलराशिमें नारायणका शयन और फिर उनकी 'एकोऽहं बहु स्याम्' इच्छाके अनुसार जल घनीभूत होकर सृष्टिकी उत्पत्ति हुई मानते हैं। इस प्रकार उस तेजोमय शक्तिको चाहे परमात्मा मानिये, चाहे निहारिका स्थित ज्योतिर्मय तरल पदार्थ मानिये, घुमा-फिराकर सृष्टिक्रममें बहुत अन्तर नहीं और अप्तत्व ही पञ्चभूतों और भौतिक पदार्थोंका आदिकारण ठहरता है। मनुने भी कहा है—"अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्"। भगवान् गीतामें कहते हैं कि सत्व, रज और तमोगुणवाली प्रकृति मेरी समीपतासे विषमताको प्राप्त होती है तभी सृष्टिका व्यापार प्रारंभ होता है। सृष्टिके तरंगके 'अहं' पर्यन्त पहुंचनेपर

जो चैतन्य 'अहं' अभिमान करके परिच्छिन्न सा हो जाता है वही 'जीव' है। परमात्मा सृष्टि रचनामें अधिष्ठान रूपसे प्रेरक है।

कालनिरूपण—

"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि" ॥

(वै० द० २-२-६)

अर्थ—अपरमें अपर ज्ञान तथा परमें पर ज्ञान, युगपत् ज्ञान, चिरज्ञान, क्षिप्रज्ञान ये सब कालके अनुमापक चिह्न हैं।

वक्तव्य—उपरोक्त सूत्रमें अपरसे कनिष्ठ, परसे ज्येष्ठ, युगपत् से समानकाल, चिरसे विलम्ब और क्षिप्रसे शीघ्रका निर्देश किया गया है। इस प्रकार कनिष्ठमें होनेवाला अपरज्ञान, ज्येष्ठमें होनेवाला परज्ञान, युगपत् ज्ञान, चिरज्ञान तथा क्षिप्रज्ञान ये पांचों ज्ञान जिसके द्वारा होते हैं उसे काल कहते हैं। अधिक सूर्य-क्रियाके सम्बन्धसे प्रतीत होनेवाले ज्येष्ठत्वका नाम परत्व है तथा अल्प सूर्य क्रियाके सम्बन्धसे प्रतीत होनेवाले कनिष्ठत्वका नाम अपरत्व है। इसीका नाम 'कालिकपरत्व' तथा कालिक अपरत्व भी है। ये दोनों कालकी सिद्धिमें लिङ्ग हैं। जैसे—जहाँ देवदत्तके दो पुत्रोंमें 'यह बड़ा है' 'यह छोटा है' इस प्रकारकी बुद्धि होती है, वहां दोनों भ्राताओंके मध्य ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व व्यवहारका प्रयोजक सूर्यकी अधिक न्यून क्रियाका सम्बन्ध है। परन्तु ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ पिण्डके साथ सूर्य क्रियाका साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता और बिना किसी सम्बन्धके ज्येष्ठमें परत्वज्ञान और कनिष्ठमें अपरत्व ज्ञान नहीं हो सकता इसीलिये पिण्ड तथा सूर्यक्रियाके सम्बन्धके घटक द्रव्यको 'काल' कहते हैं। जिस प्रकार परत्वज्ञान तथा अपरत्वज्ञान 'काल' की सिद्धिमें लिङ्ग है वैसे ही युगपत् ज्ञान, चिरज्ञान तथा क्षिप्रज्ञान भी कालके लिङ्ग हैं। अर्थात् 'युगपत् कुर्वन्ति' देवदत्त, यज्ञदत्त तथा विष्णुमित्र तीनों एक कालमें काम करते हैं। यह ज्ञान सूर्यकी एक क्रियासे मिली हुई देवदत्तादि कर्तृक अनेक क्रियाओंको निर्देश करता है, परन्तु सूर्यक्रिया तथा देवदत्त आदिकी क्रियाका परस्पर साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि सूर्य क्रिया सूर्यमें तथा देवदत्त आदिकी क्रिया देवदत्त आदिमें समवेत है और पृथिवी आदि परिच्छिन्न होनेके कारण उनकी क्रियाओंके परस्पर सम्बन्धका निमित्त नहीं हो सकते। इससे सिद्ध है कि जो द्रव्य 'संयुक्त समवाय' सम्बन्धसे उन दोनोंके साथ मिलकर उनकी क्रियाओंके परस्पर सम्बन्ध का निमित्त है वही 'काल' है। 'चिरं गच्छति देवदत्तः' अर्थात् देवदत्त विलम्ब से जाता है, यहां क्रमसे होने वाली सूर्यकी स्थूलभूत अनेक क्रियासहित देवदत्तकी गमनक्रिया चिरज्ञानका विषय और 'क्षिप्रं गच्छति यज्ञदत्तः' अर्थात् यज्ञदत्त शीघ्र

जाता है, यहां सूर्यकी सूक्ष्मभूत अनेक क्रिया सहित यज्ञदत्तकी गमन क्रिया क्षिप्रज्ञानका विषय है, परन्तु सूर्य क्रियाके साथ देवदत्त क्रिया तथा यज्ञदत्त क्रिया का कोई परस्पर साक्षात् सम्बन्ध न होनेसे जो उनके परस्पर उक्त सम्बन्ध द्वारा चिरज्ञान तथा क्षिप्रज्ञानका निमित्त द्रव्य है वही 'काल' है, इसलिये युगपत् ज्ञानकी भांति ये दोनों भी कालकी सिद्धिमें लिङ्ग हैं।

"जन्यानां जनकःकालो जगतामाश्रयो मतः।
परापरत्व धी हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ॥"

(मुक्तावली)

अर्थ—उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका जनक, जगत्‌का आश्रय तथा परत्व और अपरत्व बुद्धिका हेतु 'काल' है। यह काल एक होनेपर भी उपाधिभेदसे क्षण आदि नाम वाला होता है।

"कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनोऽत्र रस व्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, संकलयति वा भूतानि इति कालः ॥"

(सु० सू० ६-२)

"तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गति विशेषेण निमेष-काष्ठा-कला मुहूर्ताहोरात्र पक्षमासर्त्वयन संवत्सर युगप्रविभागं करोति ॥"

(सु० सू० ६-३)

अर्थ—काल समस्त ऐश्वर्ययुक्त है, किसीसे उत्पन्न हुआ नहीं है। आदि, मध्य और अन्त रहित है। (द्रव्याश्रित) रसोंकी व्यापत्ति और सम्पत्ति तथा प्राणियोंका जीवन और मरण उस कालके ही आधीन है। वह सूक्ष्म कला भर भी (गतिमान होनेके कारण) ठहरता नहीं है। या (संहार द्वारा) सर्व प्राणियोंका संकलन या ग्रहण करता है। इसीलिये उसे 'काल' कहते हैं। भगवान् सूर्य अपनी गति विशेषसे उस संवत्सरात्मक कालका निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग—इस प्रकार विभाग करते हैं।

वक्तव्य—कला शब्दका 'ककार' और 'आकार' तथा 'ली' धातुका लकार लेकर काल शब्द बनता है। ('कलाशब्दस्य ककाराकारौ लीधातोश्च लकार-मादाय कालशब्दनिष्पत्तिः') और भी 'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परि-कीर्तितः' अर्थात् समस्त जीव सृष्टिका संकलन करता है इसलिये इसे 'काल' कहते हैं।

भागवतमें लिखा है—'कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः। प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपालो यथा पशून्॥' काल सर्वमूर्तसंयोगी (विभु) होनेके कारण सूक्ष्म कलाका भी ग्रहण करता है, इसीलिये उसे काल कहते हैं। काल अनेक अर्थमें व्यवहृत होता है, यथा—"संहरणाद् राशीकरोति भूतानीति वा कालः, सुखदुखाभ्यां भूतानि योजयति इति वा कालः, कालयति संक्षिपतीति वा कालः, मृत्यु समीपं नयतीति वा कालः।" कालका निर्देश या ख्याल सर्वदा संवत्सरकी दृष्टिसे होनेके कारण उपरोक्त सत्रमें व्यवहारिक भाषामें 'संवत्सरात्मनः' लिखा गया है। ऊपरके सूत्रमें सूर्य उपलक्षणमात्र है अतः सूर्यके साथ चन्द्रका भी ग्रहण करना चाहिये—क्यों कि शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष चन्द्रकी गतिसे हुआ करता है। वास्तवमें यह सूर्यकी गति नहीं है, पृथ्वीकी है। पृथ्वीकी एक गति अपने अक्षके चारों ओर होती है जिससे दिन और रात्रि उत्पन्न होते हैं और दूसरी गति सूर्यके चारों ओर प्रक्रियाके स्वरूपकी होती है जिससे ऋतु, अयन और वर्ष उत्पन्न होते हैं।

यह काल एक (संख्या) परम तथा महत् परिमाण वाला (विभु) पृथक्त्व रूप (Individual in Character) संयोग विभाग गुण वाला है। "तस्य गुणाः संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग विभागाः" (प्रशस्तपाद)। परन्तु यह काल एक होनेपर भी क्षण आदि अर्थात् मिनिट, घंटा, दिन, रात, वर्ष आदिसे उपाधित होता है। कई एक नैयायिक कालका इस प्रकार लक्षण करते हैं कि "अतीतादि व्यवहार हेतुः कालः" अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान व्यवहारके निमित्त कारणको काल कहते हैं। परन्तु प्राचीन वैशेषिक इसे नित्य द्रव्य मानता है। वस्तुतः काल क्या है, इसकी परवाह हम व्यवहारमें नहीं करते परन्तु क्षणादि व्यवस्थामें हम कालको समझते या अनुभव करते हैं।

२ क्षण = १ लव
२ लव = १ निमेष
१५ निमेष = १ काष्ठा
३० काष्ठा = १ मुहूर्त
१५ दिनरात = १ पक्ष
२ पक्ष = १ मास
२ मास = १ ऋतु
३ ऋतु = १ अयन
२ अयन = १ वर्ष (मानुष)

यह मानुष वर्ष देवताओंका "दिव्य अहोरात्र" होता है। अर्थात् ६ मासका दिव्य दिन और ६ मासकी दिव्य रात्रि होती है। दिव्य दिनका नाम

'उत्तरायण' तथा रात्रिका नाम 'दक्षिणायन' है। दिव्य अहोरात्रसे मानुष पक्ष आदिकी भाँति 'दिव्य पक्ष' आदिकी कल्पना की जाती है। इसी प्रकार १२ हजार दिव्य वर्षोंकी एक चतुर्युगी और हजार चतुर्युगीका एक 'ब्रह्म दिन' होता है। और ब्रह्मदिनके समान ही 'ब्रह्मरात्रि' भी होती है। इसका अवान्तर नाम प्रलय है। इसी प्रकार पुनः ब्रह्मदिन रातसे 'ब्राह्मपक्ष' आदिकी कल्पना द्वारा महाप्रलय तक समयकी संख्या समझी जाती है। यह महाप्रलय सौ ब्राह्मवर्षके अनन्तर होती है।

सार यह निकला कि जैसे एक ही स्फटिक मणिमें नीलता आदि उपाधियोंके संसर्गसे नील, पीत आदिका व्यवहार होता है वैसे ही एक कालमें भी विलक्षण विलक्षण क्रियाओंके सम्बन्ध द्वारा क्षण, लव, निमेषादिका व्यवहार होता है। भेद केवल इतना है कि मणिमें नीलता आदि उपाधिका सम्बन्ध वास्तविक नहीं, परन्तु कालमें पाचक, पाठककी भांति क्रियाओंका वास्तविक सम्बन्ध है। इसी अभिप्रायसे प्रशस्तपाद मुनिने संग्रह ग्रन्थमें कहा है कि—"सर्वकार्याणामारम्भ क्रियाभिर्निवृत्ति स्थिति निरोध उपाधिभेदान्मणिवत् पाचक पाठकवद्वा नानात्वो-पचार इति" अर्थात् यद्यपि कार्यद्रव्योंमें परत्वादि ज्ञान समान पाये जानेसे तथा वास्तवभेद हेतुके उपलब्ध न होनेसे सत्ताकी भांति काल मुख्य रूपसे एक है तथापि कार्यद्रव्योंकी आरम्भादिक्रियारूप उपाधियोंके भेद द्वारा एक ही कालमें आरम्भकाल, उत्पत्तिकाल तथा विनाशकाल आदिभेदसे नानात्वका उपचार है. वास्तवमें नानात्व नहीं है।

दिङ् निरूपण—

"इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्" (वै० द० २-२-१०)

"दूरान्तिकादि धीहेतु-रेकानित्या दिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदेशभाक्॥"

(मुक्तावली)

अर्थ—(यतः) जिससे (इतः इदं इति) इसकी अपेक्षा यह-पर (दूर) है और यह अपर (समीप) है इस प्रकारका जो ज्ञान होता है वह दिक् है। यह दूर है तथा यह समीप है इस प्रकारके परत्वापरत्व ज्ञानके हेतुको दिक् कहते हैं। यह एक और नित्य है। यह एक होनेपर भी उपाधिभेदसे प्राची आदि नामसे कही जाती है।

वक्तव्य—यह इसकी अपेक्षा दूर है, इस ज्ञानका हेतु 'परत्व' तथा यह इसकी अपेक्षा समीप है, इस ज्ञानका हेतु 'अपरत्व' है। उक्त परत्वापरत्व दिके

सिद्धिमें लिङ्ग है, अर्थात् जो द्रव्य अधिक संयुक्त संयोगोंका आश्रय है उसको 'पर' तथा जो द्रव्य अल्प संयुक्त संयोगोंका आश्रय है उसको 'अपर' कहते हैं। ये संयुक्त संयोग साक्षात् द्रव्यके आश्रयमें नहीं रह सकते, अतः जिसके द्वारा ये द्रव्यके आश्रयमें रहते हैं उसे दिक् कहा जाता है। यहां 'पर' तथा 'दूरवर्ती' दोनों और 'परत्व' तथा 'दूरत्व' ये दोनों पर्याय शब्द हैं। इसीप्रकार 'अपर' तथा 'समीपवर्ती' ये दोनों और 'अपरत्व', 'अन्तिकत्व' और 'समीपत्व' ये तीनों पर्याय शब्द हैं।

एक मूर्त द्रव्यकी अपेक्षा अन्य मूर्त द्रव्यमें दूरत्व ज्ञान तथा अन्य मूर्तद्रव्यकी अपेक्षा अन्य मूर्त द्रव्यमें समीपत्व ज्ञान होता है, जैसा कि काशीनिवासी पुरुषको प्रयागकी अपेक्षा कुरुक्षेत्रमें दूरत्वज्ञान तथा कुरुक्षेत्रकी अपेक्षा प्रयागमें समीपत्व ज्ञान है, क्यों कि काशीसे लेकर अनेक उत्तरोत्तर संयुक्त द्रव्योंके बहुतर संयोगोंका आश्रय कुरुक्षेत्र तथा अनेक उत्तरोत्तर संयुक्त द्रव्योंके अल्पतर संयोगोंका आश्रय प्रयाग है। परन्तु विचारणीय अंश यह है कि जिस गुण आदिका जो समवायी द्रव्य है वही उसका समवाय सम्बन्धसे आश्रय होता है अन्य नहीं, इस नियमके अनुसार संयुक्त द्रव्योंके संयोगका आश्रय तत्तद्भूत प्रदेश है अथात् मूर्तद्रव्य जिस पृथिवीदेशके साथ संयुक्त है, वह-वह देश उनके संयोगका आश्रय है, क्योंकि उस संयोगका समवाय उसी देशके साथ है, न्अयत्र नहीं। निष्कर्ष यह निकला कि जैसे संयुक्त द्रव्यों-में संयोगका साक्षात् समवाय सम्बन्ध है, वैसे अल्प वा अल्पतर अधिक किंवा अधिकतर संयोगका कुरुक्षेत्र वा प्रयागके साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं और उसके न होनेसे कुरुक्षेत्रमें दूरताकी तथा प्रयागमें समीपताकी प्रतीतका होना सर्वथा असम्भव है, परन्तु प्रतीति होती है। इसलिये कुरुक्षेत्र तथा प्रयागमें मूर्त द्रव्य सम्बन्धी उक्त संयोगोंके सम्बन्धका निमित्तभूत कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये। परन्तु परिच्छन्न होनेके कारण पृथिवी आदि उक्त सम्बन्धके निमित्त नहीं हो सकते और आकाश भी सम्बन्धका अप्रयोजक तथा काल क्रियामात्रके संयोगका प्रयोजक होनेसे उक्त सम्बन्धका निमित्त नहीं और अचेतन द्रव्य अन्य द्रव्यवर्ती धर्मकी अन्यत्र प्राप्तिमें निमित्त देखा जाता है, जैसा कि काल परीक्षामें निरूपण किया गया है। इसलिये जो पृथिवी आदि आठ द्रव्योंसे अतिरिक्त द्रव्य 'स्वसमवायी संयुक्त संयोग' सम्बन्ध द्वारा काशीसे लेकर संयुक्त मूर्त द्रव्योंके अधिकतर संयोगोंकी कुरुक्षेत्रमें प्राप्तिका तथा कुरुक्षेत्रकी अपेक्षा अल्पतर संयोगोंकी प्रयागमें प्राप्तिका निमित्त है वही 'दिक्' है। दिक् तथा दिशा ये दोनों पर्याय शब्द हैं।

संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग और विभाग ये पाँच दिक्के गुण हैं। मेरुकी प्रदक्षिणा करनेवाले भगवान् सूर्यका जो संयोग विशेष है उसे इन्द्र आदि लोक-पालोंने दिक् कहा, वह एक होनेपर भी उपाधिभेदसे दस नामोंसे प्रसिद्ध है। जैसे—माहेन्द्री, वैश्वानरी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौबेरी, ऐशानी, ब्राह्मी और नागी। 'कार्य विशेषेण नानात्वम्' अर्थात् कार्य विशेषसे दिशा अनेक हैं। सूर्यसंयोगात्मक उपाधिविशेषका नाम कार्य विशेष है, उक्त उपाधिसे एक ही दिशामें प्राची, प्रतीची आदि भेदसे अनेकत्व व्यवहार होता है, वास्तव नहीं। अर्थात् जैसे पचनादि क्रियारूप उपाधिसे एक ही चैत्रमें पाचक, पाठक व्यवहारसे नानात्व औपाधिक है वैसे ही सूर्यके विलक्षण-विलक्षण संयोग-रूप उपाधिसे एक दिशामें नानात्व व्यवहार औपाधिक है, किन्तु वास्तविक नहीं। 'आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची' अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालमें होनेवाले सूर्यके संयोगसे दिशाकी 'प्राची' संज्ञा है। अर्थात् जिस ओर आदिसृष्टिमें सूर्य उदय होगा उसका नाम प्राची (पूर्वदिशा) है। "प्रागस्यामञ्चति सूर्यः इति प्राची" अर्थात् जिस दिशामें सूर्य उदय होता है, उसको प्राची कहते हैं, यह प्राची शब्दका वाच्य अर्थ है। "तथा दक्षिणा प्रतीच्युदीची च" (वै० द० २-२-१५)। अर्थात् जैसे सूर्यके संयोगसे दिशाकी प्राची संज्ञा है वैसे ही दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर संज्ञा भी है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालमें होनेवाले सूर्य संयोगसे दिशामें दक्षिणा, प्रतीची तथा उदीचीका व्यव-हार होता है अर्थात् पूर्वदिशाकी ओर सम्मुख स्थित पुरुषके दक्षिण हस्तकी ओर दिशामें सूर्यका पहले संयोग हुआ वा आगे होगा वा वर्तमानमें है, उसको 'दक्षिणा' अथवा 'अवाची' दिशा और पृष्ठ भागमें होनेवाली दिशाको 'प्रतीची' तथा वामहस्तकी ओर होनेवाली दिशाको 'उदीची' कहते हैं।

भाव यह है कि "अर्वागस्यामञ्चति सूर्य इति अवाची" अर्थात् जिस दिशामें सूर्यका नीचे होकर संयोग हो उसका नाम 'अवाची' तथा "प्रतीकूल्येनास्यामञ्चति सूर्य इति प्रतीची" तथा "उदगस्यामञ्चति सूर्य इति उदीची" अर्थात् जिस दिशामें सूर्य अस्त होता है वह 'प्रतीची' और जिस दिशामें सूर्यके ऊँचे होकर संयोग हो उसे उदीची कहते हैं। इसी प्रकार 'अधः' 'ऊर्ध्व' आदि भेद भी उक्त सूर्यके संयोग द्वारा ही जानना चाहिये। उक्त ६ के अतिरिक्त पूर्वदक्षिणा, दक्षिणपश्चिमा, पश्चिमोत्तरा, और उत्तरपूर्वा ये चार भेद भी दिशाके हैं। ये सब मिलकर १० (दस) दिशाएँ होती हैं। सार यह निकला कि सूर्योदयके समीपवर्ती दिशाको 'प्राची' तथा दूरवर्ती दिशाको 'प्रतीची' और पूर्वमुख पुरुषके वामहस्तमें होनेवाली दिशाको 'उदीची' तथा दक्षिणहस्तमें होनेवाली दिशाको 'दक्षिणा' कहते हैं। जिस दिशासे नीचेकी ओर किसी भारी वस्तुका पतन होता है उसका नाम 'ऊर्ध्वा'

तथा जिसमें पतन हो उसका नाम 'अधः' है। इसी प्रकार दक्षिणपूर्वा आदि भी समझना चाहिये।

काल और दिक्—उपरोक्त काल तथा दिक वर्णनसे यह स्पष्ट है कि दिक् किसी मूर्त विषयके सम्बन्धका संकेत करता है और काल पदार्थोंके उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशके सम्बन्धका द्योतक होता है। जैसे—सिद्धान्ताचार्यने कहा है—"थाम्यमात्रं क्रियामात्रं वा कालोपाधिः, मूर्तमात्रं दिगुपाधिः।" शङ्कर-मिश्रने कहा है कि कालका सम्बन्ध नित्य है परन्तु दिक्का सम्बन्ध अनित्य है। संसारके सभी पदार्थोंमें कालसे ही गति उत्पन्न होती है और दिक उनके परस्पर संयोगमें कारण होता है। इस प्रकार काल और दिकके द्वारा हम पदार्थोंके गति संयोगको अच्छी तरह समझ पाते हैं। काल और दिक् संसारके सभी पदार्थोंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण हैं।

आत्म निरूपण—

"आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्।
शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः॥
तथात्वं चेन्द्रियाणा-मुपघाते कथं स्मृतिः।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत्॥"

(मुक्तावली)

भावार्थ—आत्मा इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है क्योंकि कारणोंका कोई न कोई कर्ता (अधिष्ठाता) होता है। चेतनता शरीरका गुण नहीं है क्योंकि मरनेपर शरीरमें चेतनता नहीं देखी जाती। यदि चेतनाको इन्द्रियोंका गुण मानें तो इन्द्रियोंके उपघात होनेपर इन्द्रियों द्वारा गृहीत वस्तुओंका स्मरण कैसे होगा। इसी प्रकार मन भी चेतन नहीं है। मनको चेतन माननेसे मनके अन्दर रहने-वाले ज्ञान, सुख-दुख आदिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा क्योंकि वह स्वयं अणु-परिमाणवाला है।

वक्तव्य—आत्मा नित्य द्रव्य है जिसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्माधर्म, संस्कार आदि वक्ष्यमाण गुण निवास करते हैं। वह शरीर तथा इन्द्रियोंसे पृथक होकर एक स्वतन्त्र सत्ता धारण करने वाला द्रव्य है। आत्मा इन्द्रियोंसे सदा भिन्न है। कभी हम एक वस्तुको अपनी आखोंसे देखते हैं और रुचिकर होनेपर अपने हाथसे उसे छूते हैं। इस प्रक्रियामें हमारा ज्ञान यही रहता है कि वस्तु एक ही है। जिसे हम आँखोंसे देखते हैं उसे ही हम हाथ से छूते हैं। इन्द्रिय द्वय-साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रिय रूप ही होता

तो वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) कैसे सिद्ध की जाती। (न्या० सू० ३।१ १-३)। दाहिने हाथसे स्पृष्ट पदार्थको बायें हाथसे स्पर्श करने पर उसकी एकत्व भावनाका निरास नहीं होता (न्या० सू० ३।१।७)।

एक इन्द्रियका प्रभाव दूसरी इन्द्रियपर पड़ा करता है। वृक्षमें लटकते हुए पके आमोंको आखें देखती हैं पर उसका प्रभाव पड़ता है जीभ पर, क्योंकि जीभसे पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक ही होता तो जीभसे पानी टपकनेको हम किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। पानी टपकनेका कारण यही हो सकता है कि पके आमको देखने वाले व्यक्तिको पूर्वकालमें आस्वादित आमके स्वादका स्मरण हो आता है (न्या० सू० ३।१।१२)। अतः फलोंके द्रष्टा तथा स्वादके स्मरणकर्त्ताको एक होना न्यायसंगत है। पर इन्द्रियमें चैतन्य माननेसे इस घटना की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि अन्य दृष्ट वस्तुको दूसरा स्मरण नहीं करता। इन्द्रियको आत्मा स्वीकार करने पर उनके उपघात होनेपर स्मृति की व्यवस्था हो नहीं सकती। अनुभव तथा स्मरण समानाधिकरणरूप ही विद्यमान रहते हैं। जो अनुभवका कर्त्ता है, स्मरणका भी कर्त्ता वही हो सकता है। ऐसी वस्तुस्थितिमें चाक्षुष प्रत्यक्षके द्वारा अनुभूत पदार्थका चक्षुके द्वारा नाश होनेपर स्मरण न होना चाहिये। पर लोकानुभव नितान्त इसके विपरीत होता है। अतः इन्द्रियोंको आत्मा मानना नितान्त असिद्ध है। कर्ता तथा करणकी भिन्नता अनुभव सिद्ध है। लेखनका साधन (लेखनी) तथा लेखन का कर्त्ता (लेखक) दोनों भिन्न २ व्यक्ति हैं। इसी प्रकार अनुभवके कर्त्ता (आत्मा) तथा अनुभवके साधन (इन्द्रियों) की भिन्नता ही प्रमाणसिद्ध है; अभिन्नता नहीं।

नित्य 'मन' को भी आत्मा माननेमें विप्रतिपत्ति है। अणुरूप होनेके कारण मनका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्षमें महत्त्व कारण माना जाता है। ऐसी दशामें मनको यदि आत्मा मान लिया जायगा तो उसमें विद्यमान सुख, दुख इच्छा आदि की भी अप्रत्यक्षता होने लगेगी। पर अनुभवके विरुद्ध होनेसे इसे सिद्धान्त मानना अन्याय होगा। इस प्रकार शरीर इन्द्रिय तथा मन इन तीनों से पृथक चैतन्याधिष्ठित द्रव्यकी ही 'आत्मा' संज्ञा है।

"इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्यहेतुः" (वै. द. ३-१-२) अर्थात् इन्द्रिय तथा उनके गन्धादि विषयोंमें 'यह घ्राण है' 'यह गन्ध है' इस प्रकार का ज्ञान इन्द्रिय तथा विषयसे भिन्न प्रकारकी सिद्धिमें हेतु है। जैसे छेदन क्रियाके साधनमूल कुठारादिकोंका प्रयोक्ता उससे भिन्न होता है वैसे ही ज्ञानके साधनमूल घ्राणादि इन्द्रियोंका प्रेरक उससे भिन्न है, क्योंकि जो प्रेरक है वह

साधनोंसे भिन्न होता है यह नियम है। इस नियमके अनुसार जो घ्राणादि इन्द्रियोंको गन्धादि विषयोंमें प्रेरणा करने वाला उससे भिन्न पदार्थ है वही 'आत्मा' है और जो गुण है वह द्रव्यके आश्रित होता है। 'द्रव्यको छोड़कर गुण कदापि नहीं रहता' इस नियमके अनुसार 'अयं घटः' 'इदं रूपं' इत्यादि ज्ञानोंका आश्रय भी पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये। क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्य तथा उनके कार्यभूत शरीर आदि उक्त ज्ञानके आश्रय नहीं हो सकते, इसलिये जो उक्त ज्ञानका आश्रय द्रव्य है वही 'आत्मा' है। इससे आत्माका यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि "समवायेन ज्ञानाधिकरणमात्मा" अर्थात् जो समवाय सम्बन्धसे ज्ञानका अधिकरण है उसको 'आत्मा' कहते हैं। विषयता सम्बधसे घटपटादि द्रव्य भी ज्ञानके अधिकरण हैं अतः इनमें आत्मलक्षणकी अति व्याप्तिके निवारणार्थ समवायेन पद का निवेश किया है, यद्यपि घटपटादि विषय भी ज्ञानके अधिकरण हैं, तथापि समवाय सम्बन्धसे नहीं अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती। वस्तुतः आत्मत्वजातिमान् आत्मा' अर्थात जो आत्मत्व * जातिवाला है उसका नाम 'आत्मा' है अथवा "आत्मत्वभिसम्बन्धादात्मा" (प्रशस्तपाद) ये लक्षण आत्माके समीचीन हैं।

यह आत्मा इन्द्रियों तथा शरीरका चैतन्य सम्पादक होनेसे अधिष्ठाता कहलाता है। यदि नास्तिकोंके समान शरीरमें कर्तृत्व तथा चैतन्य मानलें तो मृतकमें इसका व्यभिचार होता है, अर्थात मृतकमें कर्तृत्व तथा चैतन्यका अभाव होता है, अतः शरीरमें तथा चैतन्य प्रमाणाभाव से सिद्ध नहीं हो सकता। यदि 'शरीर चेतन है ऐसा कहें तो शरीर के अवयवोंका सदा उपचय तथा अपचय होते रहनेसे तथा उसके अन्दर सदा उत्पति और विनाश होते रहनेके कारण बाल्यावस्थामें देखे हुएका बुढ़ापेमें स्मरण नहीं होगा, क्योंकि बाल्यस्थामें जो शरीर था वह बुढ़ापेमें नहीं रहा, परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः चेतनता शरीरका स्वाभाविक धर्म है। यदि चक्षुरादि इन्द्रियोंको ही ज्ञानादिके प्रति कर्तृत्व मान लें तो 'साधकके अभावसे साध्यका अभाव होता है' इस नियमके अनुसार चक्षुरादिके अभावमें पूर्वदृष्ट पदार्थोंके स्मरणका भी अभाव हो जायेगा, परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियोंसे साक्षात किये हुए पदार्थोंका उनके अभावमें भी स्मरण होता है। दूसरा कारण यह है कि मन भी इन्द्रियोंके समान करण है, करणसे अतिरिक्त कर्त्ता होता है अतः मन चेतन नहीं है।

यहां स्मरण रहे कि जीव तथा ईश्वरके भेदसे आत्मा दो प्रकारका है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों वाला नित्य ज्ञान का अधिकरण "ईश्वर" तथा सुख दुख आदि ज्ञानका समवाय संबन्धसे अधिकरण, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति

* आत्मत्वका अभिप्राय है कि—"आत्मत्वं समवायेन ज्ञानसुखाधिष्ठानत्वम्।"

वाला तथा कर्मफलका भोक्ता जीव है। निष्कर्ष यह है कि अनित्य ज्ञान इच्छा आदिका समवायि कारण 'जीव' तथा नित्यज्ञान इच्छा आदिका अधिकरण 'ईश्वर' है।

परमात्मा का निरूपण—

"निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूत गुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्या द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥"

(च० सू० १-५५)

"शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीना माश्रयो मतः" अर्थात् शरीर और मन रोगों के आश्रय हैं। और इन रोगों का ही फल सुख दुख है। धातुवैषम्य रूप विकार ही व्याधि है इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि ये विकार तथा इस विकार का फल सुख दुख सभी शरीर तथा मन को ही होते हैं, परमात्मा तो विकार रहित हैं। यह आत्मा सत्व और शरीर से परे है अतः इसे परत्मा कहते हैं। यह परमात्मा सत्व (मन) भूतगुण (पञ्चमहाभूतों के नैसर्गिक गुण शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) तथा इन्द्रियों (पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों) से संयुक्त होने पर (राशि-पुरुष में) चैतन्य उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा चेतन है पर इसके चेतन का प्रकाश तभी होता है जब वह मन, इन्द्रियों, तथा इन्द्रियों के अर्थ या भूतगुण शब्दादि से संयुक्त होता है। इसीसे चरक शारीर प्रथम अध्याय में कहा है कि "आत्मा ज्ञः करणै र्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते" अर्थात् आत्मा ज्ञ है पर इसका ज्ञान इन्द्रियों के सम्पर्क से ही प्रकाशित होता है।

चेतन के भाव को चेतना या चैतन्य कहते हैं। चेतना स्वयं प्रकाशरूपा पर-प्रकाशिनी है। सत्वादि के योग से आत्मगत चेतना प्रकाशित होती है जैसे-राशिपुरुषमें प्राणोन्मेषनिमेषादि आत्मलक्षण हम तभी देखते हैं जब वह राशिपुरुष गत आत्मा मन, इन्द्रिय तथा भूतगुण शब्दादि विषयों के सम्पर्क में होता है। यह परमात्मा नित्य है, द्रष्टा है अतः जगत् के सभी कार्यों को देखता रहता है। यह परत्मा सत्व तथा शरीर से परे होने पर भी सत्व तथा शरीर के सम्पर्क में आता है और राशिपुरुष में चैतन्य का कारण बनता है अतः यह परमात्मा जीवात्मा ही है। इस प्रकार आत्माश्रित इन्द्रियों द्वारा विषय के संबन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञानसे भिन्न है। क्योंकि इस ज्ञानमें प्रथम आत्मा का मनके साथ संयोग होता है उसके अनन्तर आत्मसंयुक्त मनका इन्द्रियोंके साथ और मनःसंयुक्त इन्द्रियका विषयके साथ संबन्ध होने से ज्ञान होता है। यह ज्ञानकी उत्पत्ति का क्रम है। ये मन आदि सब जड़ होने के कारण स्वयं विषयों में प्रवृत्त नहीं होसकते किन्तु

आत्मा के प्रयत्न से प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार आत्मा द्वारा विषयों में प्रेरित हुए मन, इन्द्रियादि को "आत्माधिष्ठित" या "आत्माश्रित" कहते हैं। आत्माश्रित हुए प्रत्येक घ्राणादि इन्द्रियों का प्रत्येक गन्धादि विषयों के साथ संयुक्त, संयुक्त समवाय आदि सन्निकर्षसे जो विषय का अनुभव (ज्ञान प्रत्यगात्मा) विषय साक्षी जीवात्मा में समवाय सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न होता है। वह जन्य होने के कारण जीवात्मा के स्वरूप ज्ञान से भिन्न है। अर्थात् कूटस्थ नित्य जीवात्मा का स्वरूप भूत ज्ञान इन्द्रिय जन्यज्ञानसे भिन्न है और जन्य ज्ञान वाला होने के कारण जीवात्मा चेतन नहीं किन्तु चिद्रूप होने से चेतन और जन्यज्ञान का साक्षी या द्रष्टा है। इस अभिप्रायसे उपयुक्त श्लोक में आत्मा को द्रष्टा तथा सब क्रियाओंको देखनेवाला कहा गया है।

वाचस्पति मिश्र ने भी योगसमाधिपाद सूत्र ४ के भाष्य का विवरण करते हुए कहा है कि—"चैतन्यन्तु पुरुषस्य स्वभावो न तु ख्यातेः" अर्थात् जीवात्मा का स्वरूप भूतज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान से भिन्न है अर्थात् वृत्ति ज्ञानजन्य होनेके कारण जीवात्मा का स्वरूप कदापि नहीं हो सकता और उसका स्वरूप न होने से वह आधुनिक नैयायिकोंके मतनुसार पाषाण समान जड़ भी नहीं, क्योंकि चिद्रूप होने से वह स्वतः प्रकाश है। केवल मन आदि के संबन्ध से उसमें इन्द्रियजन्य ज्ञान का व्यवहार होता है अर्थात् "ज्ञानाधि करण मात्मा" आत्मा इन्द्रिय जन्य ज्ञान का अधिकरण है, इस प्रकार का व्यवहार पाया जाता है; वस्तुतः वह उस ज्ञान का साक्षो (स्वयं प्रकाश चिद्रूप) है, इसी से चैतन्य पुरुष का स्वरूप है, ऐसा कहा गया है।

"चैतन्यस्वभावता हि स्वयं प्रकाशता" अर्थात् चैतन्य स्वरूप हो स्वयं प्रकाश होता है। जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप सूर्यादि तैजस पदार्थोंमें प्रभा तथा प्रकाश-वान्का व्यवहार होता है इसी प्रकार चित्स्वरूप आत्मामें भी चैतन्य अर्थात् ज्ञानका गुण गुणीभाव व्यवहार औपचारिक है, वस्तुतः वह चैतन्यस्वरूप है। महर्षि कणादके इस सिद्धान्तको न समझकर नव्यन्यायवाले केवल मनके सम्बन्ध से आत्मामें ज्ञान मानते हैं और सुषुप्ति आदि अवस्थामें उसका अभाव होनेसे आत्माको पाषाण समान कथन करते हैं। इसी अभिप्रायसे श्रीभाष्याचार्य कहते हैं कि "तस्मात्स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिद्ध्यन्न जडोऽहमर्थ एवात्मा" अर्थात् परप्रकाश्य अनात्म पदार्थोंकी भाँति प्रकाश्यरूप न होनेके कारण स्वसत्तासे ही अस्तित्ववाला 'अहम्' पदका वाच्यार्थ आत्मा जड़ नहीं किन्तु चिद्रूप है और इसी अभिप्रायसे महर्षि कपिलने "जड़ व्यावृत्तो जड़ं प्रकाशयति चिद्रूपः" (सां० ६-५०) में स्पष्ट किया है कि प्रकृति तथा प्रकृतिके विकार दोनोंसे भिन्न उनका प्रकाशक पुरुष चिद्रूप है।

केवल दर्शनोंके अनुयायी लोगोंका ही यह सिद्धान्त नहीं है अपितु औपनिषद वाक्योंमें भी आत्माका चिद्रूप होना प्रतिपादन किया गया है। जैसे—"अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति न विज्ञातुर्विज्ञाने विपरिलोपो विद्यते, अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा, कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, एष हि द्रष्टा श्रोता, रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" अर्थात् जीवात्मा सुषुप्ति आदि अवस्थामें स्वयं ज्योति-प्रकाशरूप होता है। उसके स्वरूप भूत ज्ञानका कदापि लोप नहीं होता। जो गन्धादि विषयोंके ज्ञानवाला है वही 'आत्मा' है और वह प्राणादिके मध्य विज्ञानस्वरूप हृदय-स्थायी अन्त-ज्योंति कहलाता है और जब आत्मा रूपादि विषयोंको जानता है तब उसको द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, घ्राता, मन्ता, बोद्धा तथा कर्ता कहते हैं। वस्तुतः वह विज्ञानस्वरूप कूटस्था है। इससे सिद्ध है कि स्वयं प्रकाश आत्मा ही सबका साक्षी होनेसे ज्ञाता है।

भाव यह है कि यद्यपि वैदिक सिद्धान्तमें जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है ज्ञानगुणवाला नहीं, तथापि उसमें मोक्ष पर्यन्त मनका सम्बन्ध बने रहनेसे 'गन्धोऽयं' 'रसोऽयं' 'गन्धमनुभवामि' इत्यादि व्यवहारका प्रयोजक इच्छादिके समान सूर्यमें प्रभाकी तरह ज्ञान गुण भी विद्यमान रहता है, जिसमें उसकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं होती। जैसे कि—"इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थे-भ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः" इस सूत्रकी व्याख्यामें स्पष्ट किया गया है। उक्त रीतिसे कणाद, गौतम आदिके अनुयायी आत्मामें ज्ञान गुणको स्वीकार करते हैं और कपिलादि दर्शनकार अयस्कान्त मणिको सन्निधिसे लोहमें क्रियाकी भाँति ,आत्मा की सन्निधिसे अन्तकरणमें ज्ञानको उत्पत्ति मानकर आत्मामें उसका औपाधिक व्यवहार कथन करते हैं। कणाद आदि ऋषियोंका यह अभिप्राय है कि आत्मा की समीपता होनेपर भी मनमें ज्ञानकी योग्यता न होनेसे मन संयुक्त आत्मामें ही "अयं घटः', घटमहं जानामि" इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होता है और जैसे अपनी आत्माकी सिद्धिमें प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों लिङ्ग हैं वैसे ही अन्य शरीरवर्ती आत्मा की सिद्धिमें भी लिङ्ग है। "प्रवृत्ति निवृत्ति च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम्"

(वै० द० ३, १, २०)

चिकित्साशास्त्रोपयुक्त पुरुष, जीवात्मा, संयोगपुरुष, कर्मपुरुष, राशिपुरुष, सगुण आत्मा आदिको निरूपण—

चिकित्स्य पुरुष—

"सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगा त्तत्रसर्वं प्रतिष्ठितम्॥

स पुमांश्चेतनं तस्य तस्याधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥
(च० सू० १।४५-४६)

"खाद्यश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।"
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥
(च० शा० १।१४-१५)

"बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परम्।
चतुर्विंशक इत्येष राशिपुरुष संज्ञकः॥"
(च० शा० १-३३)

"अस्मिंस्तु शास्त्र पञ्चमहाभूत शरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्" (सु० सू० १-२२)

"न चायुर्वेद शास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च, असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति॥" "आयुर्वेद-शास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेहेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं, त एतेऽनुमानाग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वताः लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं-पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति। स एषः कर्मपुरुषश्चिकित्सा-धिकृतः॥ (सु० शा० १-१६-१७)

अर्थ—सत्व (मन) आत्मा (चेतना धातु) और शरीर (पञ्चभौतिक) इन तीनोंके संयोगसे त्रिदण्डके समान यह लोक (पुरुष) स्थित है। उसीको पुमान् (पुरुष) चेतन और अधिकरण कहा गया है। उसी पुरुष (चिकित्स्य) के लिये वेदका यह उपवेद (आयुर्वेद) प्रकाशित किया गया है, (च० सू० १-४५-४६)। खादि अर्थात् आकाश, पवन, दहन, तोय और पृथिवी तथा छठवां चेतना धातु। मिलकर 'पुरुष' कहलाता है। पुनः वह (पुरुष) धातु भेदसे चतुर्विंशतिक (२४ वाला) कहा गया है। जिसमें मन, दशेन्द्रियाँ, अर्थ (पञ्चमहाभूत) तथा अव्यक्त, महान्, अहंकार और पञ्चसूक्ष्मभूत (तन्मात्रायें) ये आठ प्रकृतियाँ (सब मिलकर २४) हैं। बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन और अर्थ तथा इनके योगको धारण करनेवाला

दूसरा आत्मा इस प्रकार जो २४ तत्त्ववाला यह है वह 'राशिपुरुष' कहलाता है। (च० शा० १)।

इस (आयुर्वेद) शास्त्रमें पञ्चमहाभूत और शरीरि (आत्मा) इन ६ तत्वोंके समवायको 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुषको चिकित्सा कीजाती है। और यही पुरुष चिकित्सा कर्मफलका आश्रय है,(सु० सू० १)। आयुर्वेद शास्त्रमें क्षेत्रज्ञ सर्वगत नहीं कहे जाते हैं, परन्तु नित्य (कहे जाते) हैं, और असर्वगत क्षेत्रज्ञोंमें ही (आयुर्वेदके ऋषि) पुरुष—नित्यता दर्शक हेतु बतलाते हैं। आयुर्वेद के सिद्धान्तमें अणुरूप (असर्वगत) और नित्य पुरुष (क्षेत्रज्ञ) धर्माधर्मके कारण तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि और दैवयोनिमें सञ्चार करते हैं। ये अनुभवग्राह्य, अत्यन्त सूक्ष्म, सचेतन और नित्य पुरुष शुक्रशोणित संयोगमें प्रकट होते हैं। इसीलिये पहले कहा है कि पञ्चमहाभूत और आत्माके संयोगको ही पुरुष कहते हैं और यही 'कर्मपुरुष' चिकित्साका अधिकरण होता है।

वक्तव्य—आयुर्वेदमें सांख्यशास्त्रानुसार क्षेत्रज्ञ सर्वगत न होनेपर भी नित्य कहा गया है और सर्वगत पुरुषको तरह ही उसके नित्यत्वका प्रतिपादन किया गया है। सांख्यशास्त्रमें पुरुष विभु, अनेक और नित्य माना गया है। पुरुषके नित्यत्वका जहाँ तक सम्बन्ध है योगादि शास्त्र भी (अन्यदर्शन भी) एकमत हैं। परन्तु अनेकत्व और विभुत्व ये लक्षण परस्पर विरोधी होनेके कारण सब दर्शनों का इनके सम्बन्धमें एकमत्य नहीं है। यदि पुरुषको विभु माने तो उसमें उत्क्रान्ति, गति, आगति इत्यादि गमन कार्य नहीं हो सकते। इसलिये विभु पुरुष एक ही होगा। यदि पुरुष विभु और अनेक हो तो प्रत्येक शरीरमें अनेक पुरुष स्थित होंगे और प्रत्येक जीवको संसारके जितने जीव हैं उनके अनुभव होने लगेंगे। परन्तु इस प्रकारका ज्ञान या अनुभव नहीं होता, इसलिये पुरुष या तो विभु और एक है या अविभु और अनेक है। इसी विरोधको दूर करनेके लिये अन्य दर्शनोंमें उक्त दोनों गुणोंमें किसी एकको हटा देते हैं। वेदान्त पुरुष को विभु और एक मानता है और उसके अनेकत्वको घटाकाश, मठाकाशवत् औपाधिक मानता है। "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥" "एकस्तथा भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव" (उपनिषद्)। इत्यादि वर्णन मिलता है।

महर्षि सुश्रुत पुरुषका 'अनेकत्व' प्रतिपादन करते हैं अतः 'असर्वगता' ऐसा विशेषण दिया है। चरकाचार्य पुरुषको एक और विभु मानते हैं। जैसे—"अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः। विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्॥" (च० शा० १)। आत्मा विभु माननेके कारण समस्त संसारमें क्या हो रहा है इसका ज्ञान तथा प्रत्येक जीवके

सुख दुःखका अनुभव प्रत्येक जीवको होना चाहिये, यह आक्षेप उत्पन्न होता है। इसका समाधान यों करते हैं कि यद्यपि पुरुष विभु है तथापि इसको इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानकी उपलब्धि होती है। "आत्माज्ञःकारणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न प्रवर्तते॥ देही सर्वगतो ह्यात्मा स्वे-स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये। सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नाऽऽत्मातो वेत्ति वेदना॥ नित्या-नुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना। सर्वयोनिगतं विद्यात् एकयोनावपि स्थितम्।"

(च० शा० १)

पुरुष का परिमाण—मध्यम, विभु और अणु ये तीन परिमाण हो सकते हैं। (१) मध्यम परिमाणका अर्थ है कि जिस शरीरमें पुरुष रहता है वह उसे पूर्ण व्याप्त करता है अतः वह शरीर परिमाण भी कहलाता है। जैन दार्शनिक इस मतका प्रतिपादन करते हैं परन्तु इसके माननेमें यह आपत्ति उत्पन्न होती है कि 'पुरुष' ऐसी अवस्थामें भिन्न २ योनियोंमें, कैसे भ्रमण कर सकता है अर्थात् कर्मफलके अनुसार मनुष्यसे हाथीमें, हाथीसे चींटीमें इत्यादि। इसलिये आत्मा का परिमाण मध्यम नहीं माना जा सकता। इसीसे ब्रह्मसूत्रमें लिखा है "एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्" (ब्र० सू० १-२-३४) इसके भाष्यमें श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—"शरीराणां चानवस्थित परिमाणत्वान्मानुष्यजीवो मनुष्य शरीर-परिमाणो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्ति शरीरं व्याप्नुयात्। पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरेसंमीयेत। समान एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थविरेषु दोषः॥" (२) विभु परिमाण पुरुषमें पूर्वदेह परित्याग, अपरदेह गमन, परलोक गमन इत्यादि गति-वाचक कर्म प्रयुक्त होते हैं। अतः वह विभु नहीं हो सकता। "उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्" (ब्र० सू० २-३-१९) इस सूत्रके भाष्यमें शङ्कर लिखते हैं—उत्क्रान्ति गत्यागति श्रवणानितु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। आसां उत्क्रान्ति गत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नास्तावज्जीव इति प्राप्नोति। न हि विभोश्चलनमव-कल्प्यत इति॥" सुश्रुतमें इसी कारणसे पुरुषको असर्वगत (अविभु) कहा गया है। (३) अणुपरिमाण—जब पुरुष मध्यम तथा विभु परिमाण नहीं है तो अणु-परिमाण होना चाहिये। इसके समर्थनमें निम्न वाक्य मिलते हैं—"बालाग्रशत-भागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।" (श्वेताश्वतरोपनिषद)। तथा—"सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हत परीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते॥" (ब्र० सू० शङ्कर भाष्य)

आत्माके अणुत्व और नित्यत्वके हेतु—आयुर्वेद शास्त्रमें जो सिद्धान्त ग्रहण किये गये हैं उनके अनुसार यहां पर जो योनियोंके तीन प्रकार प्रदर्शित किये हैं (तिर्यग्योनिमानुष देवेषु) उनमें सम्पूर्ण भौतिक सृष्टिका समावेश हो

जाता है। इनमें पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप और स्थावर करके तिर्यग्योनि पाँच तरहकी होती है। ब्राह्म प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस और पैशाच करके देवयोनि आठ तरहकी होती है। मनुष्ययोनि केवल एक तरहकी होती है। "अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः" (सा० का० ५३)। इस सञ्चरणमें तीन प्रकारकी गतियाँ होती हैं। (१) उत्क्रान्ति—एक देहका त्याग, (२) गति—परलोक गमन, (३) आगति—दूसरे जन्ममें प्रवेश। ये तीनों गतियाँ एक पुरुषके सम्बन्धमें होती हैं, जिससे इसका नित्यत्व सिद्ध होकर विभुत्व नष्ट होता है। एक जन्मसे दूसरे जन्ममें प्रवेश करते समय पुरुष अपने साथ पूर्वजन्मके संस्कारोंको ले जाता है, जिनके कारण बालक जन्म होते ही स्तनपानकी अभिलाषा करता है, कुछ लोग बुद्धिमान् होते हैं, कुछ मन्द बुद्धि होते हैं, कुछ धार्मिक होते हैं, और कुछ लोभी, तामसी इत्यादि होते हैं। न्याय दर्शनमें पुरुष नित्यत्वकी सिद्धि इन उदाहरणोंसे की गई है—"पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः" (३१-१-१९)। "प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्" (३-१-१२)। "वीतरागजन्मादर्शनात्" (३-१-२५)। धर्माधर्मनिमित्तम्—शुभ, पुण्य या सात्विक कर्मोंके द्वारा देवयोनिमें, अशुभ, पाप या तामस कर्मोंके द्वारा तिर्यक्योनिमें, और संमिश्र कर्मोंके द्वारा मनुष्य योनिमें पुरुषको जन्म मिलता है।

धर्मसे जिनमें पुण्य कर्मकी अधिकता हो ऐसे कर्म, अधर्मसे जिनमें पाप कर्मोंकी अधिकता हो ऐसे कर्म और धर्माधर्मसे जिनमें दोनों प्रकारके कर्मोंकी प्रायः तुल्यता हो ऐसे कर्म समझें। भगवद्गीता तथा मनुस्मृतिमें भी इस तरहके वर्णन मिलते हैं—"यदासत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोका-नमलान्प्रतिपद्यते॥ (भगवद्गीता १४-१४)। "रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ देवत्वं सात्विकाः यान्ति मनुष्यत्वं तु राजसाः। तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमेषा त्रिविधा-गतिः" (मनु० १२-४०)। अनुमान ग्राह्यः—पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म अणु प्रमाण होनेके कारण प्रत्यक्ष चर्मचक्षुओंसे ग्रहण नहीं हो सकता परन्तु उनके और लक्षणोंसे अप्रत्यक्षतया उसकी उपलब्धि होती है। इसीसे सांख्यकारिकामें कहा है कि "सौक्ष्म्यादनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः" (सा० का० ८)। परमसूक्ष्मा—श्वेताश्वतरोपनिषद्के वाक्योंसे पुरुषके सूक्ष्मत्वका प्रतिपादन कर चुके हैं। "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः॥"

सगुण आत्माका निरूपण—

"तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्व रजस्त-

मोमया भवन्ति, तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्ति इत्येके भाषन्ते ॥" (सु॰ शा॰ १-९)

अर्थ—कारणानुरूप कार्य हुआ करता है इस न्यायके अनुसार ये सम्पूर्ण विशेष त्रिगुणात्मक होते हैं। तदञ्जन और तन्मय होनेके कारण पुरुष त्रिगुणात्मक ही होते हैं, ऐसा कई आचार्य कहते हैं।

वक्तव्य—सांख्य दर्शनके सत्कार्यवादके सिद्धान्तानुसार कारणके अनुरूप ही कार्य हुआ करते हैं। विशेष-इसका सामान्य अर्थ पञ्चमहाभूत है। "तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृताः विशेषाः शान्ता मूढाश्च घोराश्च ॥" (सां॰ का॰ ३८)। परन्तु यहाँ पर महदादि विशेषभूतपर्यन्त सब तत्व इसमें अभिप्रेत है। कारण यह है कि जैसे आकाशादि पञ्चमहाभूत त्रिगुणात्मक हैं। वैसे ही बुद्धि, अहंकार और एकादश इन्द्रियाँ भी त्रिगुणात्मक हैं। संक्षेप में विशेष शब्द यहाँपर 'व्यक्त'का पर्याय है। 'तद्गुणा एव पुरुषाः'–पुरुष निर्गुण है इसका उल्लेख सर्वत्र मिलता है। परन्तु वह भी तद्गुण अर्थात् प्रकृतिगुणयुक्त त्रिगुणात्मक हो जाता है, ऐसा कुछ आचार्योंका मत है। इस मत के समर्थनमें वे दो कारण बतलाते हैं। (१) 'तदञ्जनत्वात्' अर्थात् प्रकृतिसे लिप्त होनेके कारण। अञ्जनका अर्थ है लेप या अपद्रव्यकी मिलावट। पुरुष स्वयं त्रिगुणातीत होनेपर भी प्रकृतिसे लिप्त होनेके कारण त्रिगुणात्मक हो जाता है। जैसे आदर्श स्वच्छ होते हुए भी लालफूलकी सन्निधिसे लाल हो जाता है तथा मुख स्वयं स्वच्छ होते हुए भी मलिन आदर्शके कारण मलिन दिखाई देता है। इसीलिये सांख्य सूत्रमें लिखा है—"न नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते:" (७-१९)। इस सूत्रके प्रवचनमें विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—"यथा स्वभाव शुद्धस्य स्फटिकस्य रागयोगो न जपायोगं विना घटते, तथैव नित्य शुद्धादि स्वभावस्य पुरुषस्योपाधि संयोगं विना दुखसंयोगो न घटते।" इसी दृष्टिसे उपाधिविरहित अर्थात् प्रकृतिविरहित पुरुष या आत्मा निरञ्जन कहलाता है। "अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तः निरञ्जनो विभुरित्यादि।" (श्रुति)। "निष्फलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्" (श्वेताश्वतरोपनिषद्)। परन्तु केवल संयोग या उपाधि पुरुषमें त्रिगुणात्मकता प्राप्त होनेके लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि तत्वाभास से जब पुरुषको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह पूर्ववत् त्रिगुणातीत होनेपर भी प्रकृतिकी उपाधिमें शरोर नाश होनेतक रहता है। (देखो-सां॰ का॰ ६४-६७)

पुरुषको त्रिगुणात्मक बनानेके लिये केवल उपाधि पर्याप्त नहीं होती, इसलिये दूसरा हेतु [illegible] बतलाया गया है "[illegible]"—तद्रूप होना, समरस होना, [illegible] अपनेको भूल जाना अर्थात् आसक्ति आदिकी तन्मयता

कहते हैं, जैसे कामी पुरुष स्त्रीके साथ तन्मय हो कर अपने पुरुषत्वको भूल जाता है, उसी प्रकार पुरुष बुद्ध्यादिके साथ तन्मय हो कर अपने त्रिगुणत्वादिको भूल जाता है और त्रिगुणातीत होनेपर भी त्रिगुणात्मक हो जाता है। पुरुष तन्मयत्व से यहाँ बुद्ध्यादिमयत्व समझना चाहिये। बुद्धि, अहंकार आदिमें तन्मयता होनेसे पुरुष अपनेको ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, इत्यादि मानता है, यद्यपि वास्तवमें वह इससे विपरीत है—"न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधि धर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्व भोक्तृत्वादि लक्षणं संसारिकत्वम् कर्तरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सतः आत्मनः" (शङ्करभाष्य)। "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ प्रकृते गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।" (भगवद्गीता)। यह बुद्ध्यादिमयत्व पुरुषमें प्रतिबिम्बरूपेण होता है वास्तवमें नहीं।

राशिपुरुषका निरूपण—

बुद्धि, दशेन्द्रियां, मन अर्थ एवं पञ्चमहाभूतके संयोगको शरीर कहते हैं और इस शरीरको धारण करनेवाला परम योगधर अर्थात् अव्यक्त आत्मा है, जो शरीरसे अतिरिक्त है। इस प्रकार महत्तत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, दशेन्द्रियां, मन तथा अव्यक्तसंज्ञिक आत्मा ये चौबीस तत्ववाला पुरुष 'राशि-पुरुष' कहलाता है। इसीको धातुभेदसे 'चतुर्विंशतिक पुरुष' कहा गया है। जिसमें मन, दशेन्द्रियां तथा पंचमहाभूत ये षोडश विकार हैं और अव्यक्त, महान्, अहंकार तथा पंचतन्मात्राएं ये आठ प्रकृतियां हैं। इन (षोडश विकार तथा अष्ट प्रकृति मिलाकर) २४ तत्वों वाला पुरुष 'चतुर्विंशतिक पुरुष' तथा 'राशिपुरुष' कहलाता है। यह राशिपुरुष अनित्य है क्योंकि यह हेतुज है—"पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः" अर्थात् राशिसंज्ञक पुरुष तो मोह, इच्छा द्वेषसे उत्पन्न हुआ कर्मज है। तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्मकृत शुभाशुभसंस्कारों-को लेकर जो आत्मा तिर्यग्, मानुष तथा देवयोनियोंमें उत्पन्न होता है, उस आत्मा को 'राशिपुरुष' कहते हैं। इसीका प्रतिपादन न्यायदर्शनमें "पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः" (न्या० द० ३।२।६४)। इस सूत्रसे किया गया है। इच्छा, द्वेष और मोह ये तीन प्रवर्तनालक्षण दोष कहलाते हैं। "तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहा-र्थान्तर भावात्" (न्या० द० ४।१।३) अर्थात् इन दोषोंके तीन राशियां या तीन पक्ष हैं। जैसे—(१) रागपक्ष-काम-मोह-मत्सर-स्पृहा-तृष्णा और लोभ। (२) द्वेषपक्ष—क्रोध-ईर्ष्या-असूया-द्रोह और अमर्ष। (३) मोहपक्ष—मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा-मान और प्रमाद, (वात्स्यायन)। इस प्रकार पूर्वजन्ममें कृत उक्त राग, द्वेष और मोहके कारण देव, मानुष, तिर्यग्योनिमें जो आत्मा जन्म लेता है

(सञ्चरण करता है) वह कर्मज आत्मा 'राशिपुरुष' कहलाता है। इस स्थूल शरीरके नष्ट होनेके बाद यह आत्मा (राशिपुरुष) अपने पूर्व कर्मोंके अनुसार लिङ्ग शरीरसे युक्त विविध योनियोंमें भ्रमण करता है। "अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः। न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकार दोषैः।" (च० शा० २-३६)। अर्थात् आत्मा मोक्ष प्राप्तिके पूर्व अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्मरूप, उन भूतोंसे कभी भी वियुक्त नहीं होता। साथ ही अपने पूर्वकृतकर्मों मन, बुद्धि एवं अहकारके विकारोंसे भी विमुक्त नहीं होता। इस प्रकार उक्त अनुबन्धोंके कारण ही आत्मा इस आवागमनके फेरमें पड़ा रहता है। "गतिप्रवृत्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोष बलवच्च कर्म।"

(च० शा० २-३७)

देहातिरिक्त आत्माके सद्भावका निरूपण—

"करणान्यान्यता दृष्टा कर्ता भोक्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्त कारणं सर्वकर्मणाम् ॥"
अहंकारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ॥

(च० शा० १)

निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानां च पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥
मतंतत्वविदामेतद् यस्मात् तस्मात् स कारणम्।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥

(च० शा० १)

उपस्कार टीका—देहव्यतिरिक्तचेतनाभ्युपगमे तु सर्वमुपपद्यते तदेव दर्शयितुमाह—कर्तुः करणानां अन्यान्यता दृष्टा। लोके एकस्य कर्तुरनेकानिकरणानि दृश्यन्ते। यथा एकस्य सूत्रधरस्य वाद्यादीनि अनेकान्यस्त्राणि। कर्ता तु स एव। न तु भिद्यते। स एकः कर्ता करणैरनेकैर्युक्तः सन् काष्ठपाटनलौह घटनादि नाना कर्म करोति। करणानां परिणामितया भिद्यमानत्वेऽपि आत्मा पुनः अपरिणामि एकः। स विविधैः करणैरिन्द्रियादिभिर्युक्तः सन् दर्शन स्पर्शनादि नानाकर्म करोति।

यस्मात् देहव्यतिरिक्त चेतनाभ्युपगमे कृतकर्मणः फलभोक्तृत्वं बाल्ये दृष्टस्य यौवने स्मरणं सव्य दृष्टस्य इतरेण प्रत्यभिज्ञानं च इत्यादि सर्वत्रमुपपद्यते। तत्र करणभेदेऽपि कर्तुरभिन्नत्वात्

तदेवाह—निमेषकालादिति। कालः भावानां अत्यये नाशे। यावता कालेन संयुक्तयोरक्षिपक्ष्मणोः विभागः स्यात् स निमेषकालः। तस्मादपि शीघ्रतरः। भावाः निमेषकालादपि शीघ्रतरं परिणमन्ते। भग्नानां करचरणादीनां पुनर्भावः पुनः संरोहणं। अन्येन कृतं कर्म न अन्यं उपैति शुभाशुभफलैः अन्यं योजयति। यः करोति स एव तत्फलं भुंक्ते इति नियमः। यस्मात् एतत् सर्वं तत्वविदां मतं। अयमाशयः—भूतानां परिणामितया प्रतिमुहूर्तभेदात् भूतसङ्घातमको देहोऽपि न पूर्वपरयोरेकः देह व्यतिरिक्तचेतनाभ्युपगमे अन्यकृतस्य फलं अन्यस्तत्सदृशः भुङ्क्ते। इत्थं च कर्मफलेन कर्तुरसंबन्धात् अकर्तुश्च संबन्धात् कृतहानमकृताभ्युपगमश्च प्रसज्येत। अभ्युपगमे तु नैव दोषः स्यात्। किंच जीवनं कार्यं वृद्धिक्षतसंरोहणादिकं अचेतनेष्वदृष्टं दाहादन्यं चेतनमनुमापयति। यस्मात् भग्नानां पुनर्भावः अन्यकृतं न अन्यमुपैति इति नियमः। तस्मात भूतानां क्रियोपभोगे कारणं कृतकर्मणः फलभोक्ता। स देहव्यतिरिक्तः नित्यः पुरुषसंज्ञकः चेतनोऽस्ति।

देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावमुपपादयति—अहंकार इति। भूतानां देहमन्तरा अन्तरेण देहादन्यस्मिन कारणे आत्माख्ये सति अहंकारादिकं विद्यते संभवति। अहं जानामि अहं पश्यामि इत्यादि प्रयोगात् आत्मा हि अहंकारास्पदं। गौरोऽहं स्थूलोऽहं इत्यादि प्रयोगस्तु औपचारिकः। कर्म कर्मानुष्ठानं। लोकः फलमभिसंधाय कर्म करोति। देहात्मवादे अन्यस्य फलभोक्तृत्वात् कर्तुः कर्मानुष्ठाने प्रवृत्तिरेव न स्यात। फलं कृतकर्मणः फलभोगो न संभवति। कर्तृभोक्तोर्भिन्नत्वात्। देहान्तरगतिः देहात् देहान्तरगमनं। स्मृतिरिति। देहात्मवादे बाल्यदशायामनुभूतस्य यौवने स्मरणं न स्यात्। बाल्ययौवनयोः शरीरभेदात्। नान्यं दृष्टं अन्यः स्मरति। तदुक्तं 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति। देहव्यतिरिक्त चेतनाभ्युपगमे हि तत् सर्वमुपपद्येत।

अर्थ—इन्द्रियोंकी अन्यान्यता स्पष्ट है अर्थात् ज्ञानके द्वार-इन्द्रियाँ अनेक हैं, यह प्रत्यक्ष है। परन्तु कर्ता तथा भोक्ता वही एक (आत्मा) है। इस प्रकार सब कर्मोंका कारण ९ इन्द्रियों (करणों) से युक्त कर्ता (आत्मा) ही है। भावोंके नाशमें निमेषकालसे भी शीघ्रतर काल कारण है। भग्न स्थानों-का पुनः संरोहण हो जाता है, दूसरेके किये हुए कर्मका फल दूसरा नहीं भोगता। इन सब कारणोंसे तत्वविद् पुरुषोंका मत है कि वह (आत्मा) ही उक्त भूतोंके क्रियोपभोगमें कारण है। वह आत्मा नित्य और पुरुष संज्ञक है। अहंकार, कर्म, कर्मफल, देहान्तरगमन, स्मृति इत्यादि देहव्यतिरिक्त चेतना (आत्मा) के कारण ही होते हैं। अतः आत्मा देहसे अतिरिक्त है यह सिद्ध है।

वक्तव्य—यह स्पष्ट है कि एक ही मनुष्यके अनेक इन्द्रियाँ हैं और वह उन इन्द्रियों द्वारा शब्द स्पर्शादि विषयोंका ग्रहण करता है। जिस प्रकार एक योद्धा अपने अनेक अस्त्रोंसे अनेक कार्योंको सिद्ध करता है तथा एक मजदूर (कर्ता) अपने अनेक हथियारोंसे काठ काटना, वस्त्र फाड़ना, लोहेको मोड़ना आदि अनेक कार्योंका सम्पादन करता है उसी प्रकार एक कर्ता (आत्मा) अपने विविध इन्द्रियोंसे शब्दस्पर्शादि विषयोंका ग्रहण करता है। जिस प्रकार अस्त्र भिन्न भिन्न कार्योंको सिद्ध करनेके लिये बदलते रहते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी भिन्न भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये भिन्न २ हैं, अर्थात् परिणामी हैं। परन्तु कार्यकर्त्ता एक ही अपरिणामी (नहीं बदलने वाला) है। अतः करणों (साधनों तथा इन्द्रियों) के अनेक भेद होने पर भी आत्मा एक और अपरिणामी है। यही आत्मा सब कर्मोंको करनेके कारण कर्ता और कृतकर्मोंका फल भोगनेके कारण भोक्ता कहलाता है। जितने समयमें हमारी आँखोंकी पलकें परस्पर संयुक्त हो सकती हैं उसको निमेष कहते हैं। काल नित्यग है। भावोंके नाशमें यह काल उक्त निमेषसे भी शीघ्रतर है अर्थात् भावोंका परिणाम निमेषसे भी शीघ्रतर होता है। भग्न हुए कर-चरण आदि अवयवोंका पुनः संधान तथा संरोहण होजाता है।। अन्यके किये हुए कर्मोंका फल अन्य नहीं भोगता। ये सब घटनाएं तत्वज्ञानियोंको संकेत करती हैं कि भूतोंके क्रियो-पभोगमें देहातिरिक्त कोई कारण है। यह कारण वह नित्यपुरुषसंज्ञक आत्मा है।

परमात्मा अनादि और अनित्य हैं—

"प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।"

(च० शा० १-५२)

"अनादिपुरुषोनित्यः विपरीतस्तु हेतुजः।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा॥
(च० शा० १-५८)

अर्थात्—परमात्मनः न हि प्रभवः कारणं विद्यते। कस्मात्? अनादित्वात्। राशिपुरुषस्य तु विद्यते ×××××× । अनादिः अकारणवान्। पुरुषः परमात्मा नित्यः। हेतुजः कारणजन्यः। मोहेच्छाद्वेषकर्मजः पुरुषो राशिसंज्ञकः, विपरीतः तद्विपरीतः अर्थात् अनित्यः। नित्यानित्ययोर्लक्षणमाह—सदिति। यत् सत् अकारणवच्च तत् नित्यं दृष्टं नित्यमाख्यायते। न कारणवत् अकारणवत्। अनेन कारणजन्यघटपटादीनां व्यवच्छेदः। तथापि प्रागभावे अतिव्याप्ति स्यादिति? अत आह सदिति। सत् सत्तायोगी त्रिविधसमयेऽपि प्रमाणगम्याभावरूपं। तेन प्रागभावस्य अकारणवतोऽपि अभावरूपतया अनित्यत्वं न व्यभिचारकम्। एतदुक्तं कणादेनापि—"सदकारणवन्नित्यं" इति (वै० द० ४।१।१)। यत् हेतुजं कारणजन्यं तत् अन्यथा अर्थात् अनित्यं। अकारणत्वात् परमात्मनो नित्यत्वं। राशिपुरुषस्य च अनित्यत्वं कारणजन्यत्वात्। राशिपुरुषस्य यदनित्यत्वमुच्यते तत् आत्मवर्ज्यानां तद् घटपटपदार्थानामिति बोद्धव्यम्।
(उपस्कार)

अर्थ—परमात्मा अनादि है अतः इसका प्रभाव या कारण (उत्पन्न करनेवाला) कोई नहीं है। यह अनादि और कारणरहित परमात्मा नित्य है। जो हेतुज अर्थात् मोहेच्छाद्वेष आदि कर्मोंके कारण उत्पन्न होता है वह परमात्मासे विपरीत धर्मवाला होनेके कारण सादि और अनित्य है। जो सत् और कारण रहित होता है वह नित्य होता है और जो इसके विपरीत असत् और कारणवान् होता है वह अनित्य होता है जैसे घटपटादि। इस प्रकार मोहेच्छा द्वेषसे उत्पन्न होनेवाला जीवात्मा (राशिपुरुष) हेतुज होनेके कारण अनित्य और सादि है। महर्षि कणादने भी कहा है—भावरूप कारणसे रहित जो नित्य पदार्थ है वही जगतका मूलकारण है।

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोकोंमें परमात्माका अनादित्व और नित्यत्व तथा कर्मपुरुष या राशिपुरुषका सादित्व और अनित्यत्व सिद्ध किया गया है। इस सम्बन्धमें महर्षि कणादका मत भी है कि जिसकी उत्पत्तिका कारण न हो, जो सबका मूलकारण हो, उसका नाम 'अकारणवत्' है, जो भावरूप, अकारणवत्

तथा परिणामी-नित्य है वही जगत्का मूलकारण है और उसीका नाम 'प्रकृति' है। इसी भावको "मूलेमूलाभावादमूलं मूलम्" इस कारिका द्वारा कपिल मुनिने (सां १।६७) प्रतिपादन किया है। जिसका कोई मूल कारण नहीं और जो सबका मूलकारण (उपादान कारण) अनादि भावरूप है वही महत्तत्त्वादि सब कार्यों (पदार्थों) का परम कारण 'प्रकृति' है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी आदि पदार्थोंके मध्य जो अनादि भावरूप सब कार्यद्रव्योंका परम सूक्ष्म समवायि कारण है उसको 'प्रकृति' कहते हैं और वह यद्यपि अनादि है तथापि जड़ होनेके कारण आत्मा तथा ईश्वर (परमात्मा) से भिन्न है, उसका कोई कारण नहीं, प्रत्युत वह सब पृथ्वी आदि कार्यद्रव्योंका मूलकारण होनेसे 'अकारणवत्' तथा अभावसे भिन्न होनेके कारण 'सत्' और एक रूपको त्यागकर दूसरा रूप धारण करनेके कारण तथा सर्वथा स्वरूपसे प्रच्युत होनेके कारण परिणामी नित्य है।

इस उद्धरणमें परमात्माके अकारणवत्' होनेसे अनादित्व और अनादि होनेसे उसका नित्यत्व प्रतिपादन किया गया है। प्रकृति 'अकारणवत्' तथा 'नित्या' होनेपर भी परिणामी है, परन्तु परमात्मा अकारणवत्, नित्य और अपरिणामी है। प्रकृति जड़ है और परमात्मा चेतन है (इसका अधिक विवेचन प्रकृति-पुरुष विवेचनमें देखें)। इस प्रकार परमात्माका अनादित्व और नित्यत्व सिद्ध है। इसके विपरीत जो मोह, इच्छा, द्वेष आदि कर्मोंके फलस्वरूप जीवात्मा या कर्मपुरुष भिन्न भिन्न योनियोंमें जन्म लेता रहता है वह हेतुज होनेसे सादि तथा अनित्य है। इस कर्मपुरुषका प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके अतिरिक्त छुटकारा नहीं होता। पराशरने कहा है—शरीरारम्भकं कर्म योगिनोऽयोगिनोऽपि च। विना फलोपभोगेन नैव नश्यत्यसंशयम्॥ वर्तमानशरीरेण सम्पन्नं कर्मदेहिनः। इह वाऽमुत्रवाऽशस्य ददाति स्वफलं शुके॥ प्रारब्धशेषं विच्छिन्नं पुनर्देहान्तरेण तु। भुङ्क्ते देही ततो भुङ्क्ते तल्लंघयति कः पुमान्॥" कभी वह कर्मफल एक जन्ममें समाप्त होता है, कभी अनेक जन्मोंकी आवश्यकता होती है। "अवश्य-मनुभोक्तव्यं प्रारब्धस्य फलं जनैः। देहेनैकेन वाऽन्येन युगपद्वाक्रमेण वा॥" (पराशर)। इस पौर्वदेहिक कर्मके कारण आत्मा (जीवात्मा या कर्मपुरुष) सदा बंधनमें पड़ा रहता है और एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जन्म लेता (गमन करता) रहता है। इस पूर्व कर्मकी कल्पना अब आधुनिक भी मानने लगे हैं—

"The individual never being other than what he has made himself in the course of his evolution by the immense series of representatives, he has gone through, it follows that every thing that is within his field of consciousness is his own doing, the fruit of his own efforts, his own

sufferings and his own joys. Every act even every desire and inclination, has an inevitable reaction in one or other of his existence"

(G. Gabg- from the unconsciousness to consciousness.)

आत्माके लक्षण और गुण—

"प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिस्स्वप्ने पञ्चत्व ग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः ।
बुद्धि स्मृत्यहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥"

(च० शा० १)

"तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौबुद्धिर्मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिविज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥"

(सु० शा० १)

"इच्छाद्वेषप्रयत्न सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥"

(न्या० द० १।१।१०)

"प्राणापाननिमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुख-दुःखेच्छा प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि । (वै० द० ३।२।४)

उपस्कार—प्राणापानौ इत्यादि । प्राणापानादीनि परस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः लिङ्गानि । प्राणापानादिभिः देहव्यतिरिक्तश्चेतनोऽनुमीयते । तथा च शरीरान्तश्चारिणि समीरणे प्राणापानलक्षणे ऊर्ध्वाधोगती प्रयत्नं बिना अनुपपद्यमाने यस्य प्रयत्नात् भवतः स नूनमात्मा । निमेषाद्या इति । आद्यशब्देन उन्मेषादीनां ग्रहणं । निमेषः अक्षिपक्ष्मणोः संयोगजनकं कर्म । विभागजनकं च उन्मेषः । निमेषोन्मेषौ निरन्तरमुपपद्यमानौ प्रयत्नं बिना नोपपद्यते । यथा दारुपुत्रनर्तनं कस्यचित् प्रयत्नेन तथा अक्षिपक्ष्मवर्तनमपि । निमिषोन्मेषाभ्यां प्रयत्नवान् कश्चित्

अनुमीयते। स च आत्मा। जीवनपदेन तत्कार्यं वृद्धिक्षत भग्नसंरोहणादिकं लक्ष्यते। यथा गृहपतिर्भग्नस्य गृहस्य निर्माणं करोति। क्षुद्रं गृहं वा बर्धयति। तथा देहस्य अधिष्ठाता आहारादिना देहस्य उपचयं करोति, भेषजादिना भग्नं क्षतं वा करचरणादिकं संरोहयति। एवं हि गृहपतिरिव देहस्याप्यधिष्ठाता सिध्यति। वृद्धिक्षतसंरोहणादेः जीवच्छरीरे दर्शनात् मृतशरीरे चादर्शनात्। जीवितमरणयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः गमकत्वम्। मनसः गतिः अभिमतविषये गमनं। इन्द्रियान्तरसंचारः। एकमिन्द्रियं परित्यज्य अन्यस्मिन् संचरणं मनसः। प्रेरणं इन्द्रियाणां विषयेषु। धारणं देहस्य उपष्टम्भः। इन्द्रियान्तरसंचार इत्यत्र कणादवचने इन्द्रियान्तरविकार इति पाठः। एवमेवाह गौतमोऽपि "इन्द्रियान्तरविकारात्" इति (न्या० द० ३।१।१२)

कस्यचिदम्लरसस्य फलस्य रूपे गन्धे वा चक्षुषा घ्राणेन वा गृह्यमाणे इन्द्रियान्तरस्य रसनस्य विकारो भवति। तद्रसस्मरणाद्दन्तोदक संप्लवो जायते। इन्द्रिय चैतन्ये शरीरे चैतन्ये वा नाऽयमिन्द्रियान्तरविकार उपपद्यते। नान्यदृष्टमन्यः स्मरति। तेन देहव्यतिरिक्तश्चेतनः अनुमीयते। स्वप्ने देशान्तरगतिः देशान्तरगमनं। पञ्चत्वग्रहणं मरणं। दक्षिणेन अक्ष्णा चक्षुषा दृष्टस्य सव्येन वामेन अक्ष्णा अवगमः प्रत्यभिज्ञा। यमद्राक्षं तमेतर्हि पश्यामीति। इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिजानाति इति प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः। अस्ति तु इदं प्रत्यभिज्ञानं। तेन देहव्यतिरिक्तश्चेतनः सिध्यति। गौतमेनाप्युक्तं "सव्यदृष्टस्य इतरेण प्रत्यभिज्ञानात्" इति (न्या० द० ३।१।७)। इच्छा स्वार्थं परार्थं वा प्राप्तुं प्रार्थना। द्वेषः आत्मनः प्रज्वलितत्वमिति। सुखःदुखे आत्मनः अनुकूल प्रतिकूलवेदनीये। प्रयत्नः संरम्भः-उत्साहः। चेतना-चैतन्यं। धृति-धैर्यम्। बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। स्मृतिः—"अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः" इति (पातञ्जलि समाधि–११) इन्द्रियाणां देहस्य वा चैतन्ये न स्मृतिः उपपद्यते। नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः इति। सत्यात्मनि तूपपद्यते तदुपदर्शितं प्राक्। प्राणापानादीनि आत्मनो लिङ्गानि। तदुक्तं कणादेनापि।

अर्थ—प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर संचार या विकार, प्रेरण, धारण, स्वप्नमें देशान्तरगमन, मरण, दायें आंखसे देखे हुएका बाईं आँखसे ग्रहण या ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्न, चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, मनः संकल्प, विचारणा, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि ये सब पुरुषके गुण और लिङ्ग हैं।

वक्तव्य—मुख तथा नासिका द्वारा (श्वासके द्वारा) फुफ्फुसके भीतर जानेवाली वायु (Inspiration) का नाम प्राण और मलमूत्रको नीचेकी ओर ले जानेवाली वायुका नाम अपान है। प्राणके विरुद्ध बाहर जानेवाली वायुको (Expiration) चक्रपाणिदत्त अपान वायु कहते हैं—"प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ।" गीतामें भी इस अर्थका समर्थन किया गया है—"प्राणापानौ समौ-कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ" (भगवद्गीता ५।२७।)। दोनों नेत्रोंके पक्ष्मोंके संयोगके हेतु व्यापारका नाम 'निमेष' और विभागहेतुक्रियाका नाम 'उन्मेष' है अर्थात् आंखोंके पलक बन्द करने और खोलनेके कर्मको निमेष और उन्मेष कहते हैं। शरीरके वृद्धि, ह्रास तथा व्रणरोपणादिके जीवनहेतु क्रियाका नाम 'जीवन' है। और तत्तत् इन्द्रिय प्रदेशमें ज्ञान हेतु सम्बन्धके प्रयोजक मनो व्यापारका नाम 'मनोगति' है। एक इन्द्रियको छोड़कर दूसरी इन्द्रियमें मनके संचारको 'इन्द्रियान्तरसंचार' और नारंगी आदि फलोंको देखकर उनके पूर्वानुभूत रसकी स्मृतिसे मुखमें होनेवाले लालास्राव रूप रसनाके विकारका नाम 'इन्द्रियान्तर विकार' है। इन्द्रियोंको उनके विषयोंमें प्रेरित करनेको 'प्रेरण' कहा है। शरीर का धारण करनेसे 'धारण' है। स्वप्नमें भिन्न-भिन्न देशोंमें गमन करना तथा पञ्चत्व अर्थात् मृत्युका ग्रहण ये सब देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वके लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि दाईं आंखसे देखे हुए पदार्थका बांई आंखसे ज्ञान हो जाता है। यह भी देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वका लक्षण है। धर्म-जन्य अनुकूल ज्ञानके विषयका नाम 'सुख' और अधर्मजन्य प्रतिकूल ज्ञानके विषय का नाम 'दुःख' है।

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये संकल्पका नाम 'इच्छा' और क्रोधका नाम 'द्वेष' है। योगसूत्रमें—"सुखानुशयी रागः", "दुखानुशयो द्वेषः' अर्थात् सुख दुखके पीछे पड़नेसे ही इच्छा और द्वेष उत्पन्न होते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करनेकी प्रवृत्तिको 'प्रयत्न' कहते हैं। चैतन्यको चेतना कहते हैं। धैर्य, बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान ये पर्याय शब्द हैं। इन्द्रियोंके द्वारा भूतकालमें हुए ज्ञानका पुनः उदय होना 'स्मृति' है। 'मैं हूं' इत्यादि अहंभावका होना अहंकार है। संकल्पात्मक मानसिक कार्य मनः संकल्प है। कोई वस्तु इस प्रकारकी है, इस कार्यको इस प्रकार करना चाहिये, इस प्रकारके

विचारको संकल्प कहते हैं। ऊहापोहात्मक वस्तुविमर्श अर्थात् युक्तायुक्त प्रमाणों के द्वारा परीक्षण करना 'विचारणा' है। यही काम करना चाहिये इस प्रकार का निश्चय 'अध्यवसाय' कहलाता है। इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियार्थोंका ज्ञान होना 'विषयोपलब्धि' है। उपरोक्त सभी देहातिरिक्त पुरुषके लक्षण और गुण हैं। सुश्रुतमें पुरुषके सोलह गुण बताये गये हैं। जैसे—सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मनःसंकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि। चरकने पुरुषके २२ लक्षण बताये हैं। उपरोक्त सोलह तथा बाईस गुण या लक्षण जब किसी शरीरमें मिलते हैं, तब उस शरीरको 'सजीव' और जब नहीं मिलते तब मृत कहते हैं। यह सजीव और मृत अवस्था पुरुषके शरीरमें अधिष्ठान होने और न होनेपर होती है। इसलिये ये पुरुषके गुण और लक्षण कहे जाते हैं। भाव यह है कि उक्त प्राण आदि कर्म या लक्षण किसी प्राणीके अन्दर तभी देखे जाते हैं जब उसके अन्दर आत्मा होता है। आत्मविहीन पदार्थोंके अन्दर तथा आत्मरहित मानव-शरीरमें भी (मृतकमें) ये लक्षण नहीं दीख पड़ते अतः ये लक्षण देहके अतिरिक्त आत्माके ही हैं।

आत्माका सत्व, मन, बुद्धि और दशेन्द्रियोंके योगसे ज्ञानकी प्रवृत्ति—

> आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते।
> करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न प्रवर्तते॥
> पश्यतोऽपि यथादर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।
> यद्वज्जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा॥
>
> (च० शा० १)

उपस्कार—आत्मा ज्ञः। करणैः योगात्। करणानि इह मनोबुद्धीन्द्रियाणि। तस्य ज्ञानं प्रवर्तते। ननु यद्ययमात्मा ज्ञः तत् किमिति अस्य सर्वदा ज्ञानं न भवति? इत्याह—करणानामिति। करणानां अवैमल्यात् अनिर्मलत्वात् दुष्टियुक्तत्वात् अयोगाद्वा ज्ञानं न प्रवर्तते। तदेव सोदाहरणमाह—पश्यतोऽपि चक्षुष्मतोऽपि संक्लिष्टे मलिने आदर्शे दर्पणे यथा दर्शनं नास्ति। यद्वत् कलुषे जले दर्शनं नास्ति। तथा चेतसि उपहते। चेतसि इति करणानामुपलक्ष्यं। ते चक्षुरादावप्युपहते न प्रवर्तते।

अर्थ—आत्मा ज्ञ है। करणोंके संयोगसे उसे ज्ञान होता है। यहाँ करण शब्दसे मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंका ग्रहण है। यदि आत्मा ज्ञ है, तो उसे

सर्वदा ज्ञान क्यों नहीं होता ? इसके समाधानके लिये कहा गया है कि करणों के निर्मल न होनेसे तथा उनका सम्पर्क न होनेसे ज्ञान नहीं होता। जैसे मलिन दर्पणमें देखनेपर भी रूपका दर्शन नहीं होता, तथा कलुषित जलमें प्रतिबिम्ब नहीं दृष्टिगोचर होता, उसी प्रकार मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंके विकृत होनेसे तथा अयोगसे आत्माको ज्ञान नहीं होता।

वक्तव्य—सुश्रुत शारीर स्थान चतुर्थ अध्यायमें स्वप्नका वर्णन करते हुए कहा गया है कि—"करणानां तु वैकल्पे तमसाऽभिप्रवर्धते। अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते॥" अर्थात् तम द्वारा इन्द्रियोंकी विकलता होनेपर न सोता हुआ भी जीवात्मा सोया हुआ सा कहा जाता है। आत्मा स्वयं निर्विकार होनेके कारण उसके ऊपर न तमका प्रभाव पड़ता है न उसमें निद्राकी विकृति उत्पन्न हो सकती है। परन्तु व्यवहारमें आत्मा सोता है ऐसा कहते हैं। ऐसा कहना इसलिये ठीक है, कि आत्मा जब शरीरमें बद्ध होता है, तब उसका ज्ञान तथा बोध इन्द्रियोंके ऊपर निर्भर करता है। जब इन्द्रियां नहीं होतीं तब आत्माको ज्ञान नहीं होता। जब इन्द्रियाँ विकृत होती हैं तब ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार जब मन तथा इन्द्रियाँ तम द्वारा आवृत होती हैं तब आत्मा प्रसुप्त हो जाता है। न्याय भाष्यमें इसका सुन्दर वर्णन इस प्रकार है कि—"आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानम्।"

मनोनिरूपण—

"लक्षणं मनसो ज्ञानस्यभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते॥

(च० शा० १)

"आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्यभावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।"
(वै० द० ३।२।१)

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।" (न्या० द० १।१।१६)

"आत्मनः करणाधीनोमिन्द्रियाणां शब्दादिविषयाणां च सद्भावेऽपि-कदाचित् कुत्रचिद्विषये ज्ञानं भवति न भवति चेति दृश्यते, तेन इमौ ज्ञानस्य भावाभावौ कारणान्तरं सूचयतः यच्च तदेव मनः।"

अर्थ—आत्मा श्रोत्रादि इन्द्रियों और शब्दादि विषयोंके सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषयका ज्ञान होता है और कभी नहीं होता है। यह ज्ञानका होना और न होना किसी कारणान्तरको सूचित करते हैं। यही कारणान्तर

मन है। यह मन जब इन्द्रियोंके साथ संयुक्त होता है तो इन्द्रियाँ अपने अर्थों को ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं। अर्थात् मनः सान्निध्यसे ज्ञान होता है और असान्निध्यसे ज्ञान नहीं होता।

वक्तव्य—'मन्-ज्ञाने' धातुसे मन शब्द बना हुआ है, (मन्-बोधे, दिवा, आत्म, सकर्मक अनिट्। मन्यते ज्ञायते अनेन इति मनः) ज्ञानका न होना अथवा होना ही मनके अस्तित्वका लक्षण है। यह तो नित्यका अनुभव है कि जब अपना चित्त किसी गम्भीर विचारमें मग्न रहता है तब पास रखी हुई घड़ी की टिक-टिक सुनाई नहीं देती और न इस बातका ही ज्ञान होता है कि सामनेसे गुजरता हुआ व्यक्ति कौन है। वास्तवमें देखा जाय तो घड़ीकी आवाजकी लहरें उस समय भी श्रवणेन्द्रिय तक पहुंचती रहती हैं और सामनेसे गुजरनेवाले व्यक्तिका प्रतिबिम्ब भी नेत्रगत आदर्श पटलपर पड़ता रहता है और आत्माका सान्निध्य भी रहता ही है। फिर भी उस समय उन इन्द्रियोंमें चित्तवृत्तिका अभाव होने (मनका सान्निध्य न होने) के कारण न तो टिक-टिक सुनाई देता है, न गुजरते हुए व्यक्तिका ही ज्ञान होता है। किन्तु जब मनका सान्निध्य (मनकी वृत्तियाँ ज्ञानेन्द्रियोंमें संचार करती हैं) होता है तब ज्ञान होता है।

एककालमें होनेवाले सम्बन्धका नाम युगपत् सम्बन्ध है। जब आत्माके प्रयत्नसे घ्राणादि इन्द्रियोंका गन्धादि विषयोंमें युगपत् सम्बन्ध होता है तब किसी एक विषय काज्ञान होनेपर भी अन्य विषयका ज्ञान नहीं होता अर्थात् गन्धज्ञान कालमें रसज्ञान तथा रसज्ञान कालमें गन्धज्ञानका अभाव होता है। इस प्रकार आत्माका सब इन्द्रियोंके साथ और इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी, जिसके सम्बन्धसे ज्ञान होता है, तथा न होनेसे नहीं होता है वही द्रव्य ज्ञानके हेतु सम्बन्धका प्रयोजक 'मन' है।

भाव यह है कि आत्मा तथा मन आदिका परस्पर सम्बन्ध होनेसे ही ज्ञान होता है, इसीलिये कहा है कि—"अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषम्" अर्थात् मेरा मन अन्य विषयमें लगा हुआ था इसलिये आपके वचनको नहीं सुना। इस प्रकारका अनुभव प्रतिदिन होता रहता है। बृहदा-रण्यकोपनिषद्में कहा है—"अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषमिति, मनसा ह्येष पश्यति मनसा शृणोति॥" इत्यादि। इसीलिये चरकमें कहा है—"मनः पुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। तत् (मनः) अर्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्यय भूतमिन्द्रियाणाम्" (च० सू० ८)। अर्थात् मनके साथ सम्बद्ध होनेपर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंको ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं। इस मनको क्रिया भी अर्थसम्पत्में आयत्त रहती है और यह मन इन्द्रियोंकी चेष्टामें कारण है। महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है कि—

"चक्षुः पश्यतिरूपाणि मनसा न च चक्षुषा। मनसः व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति॥ यथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते। न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति।" (महा० भा०शान्ति०) इन सब उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि आत्माका सब इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी एक कालमें एक विषयका ज्ञान होना तथा दूसरे विषयका न होना मनकी सिद्धिमें लिङ्ग है।

सार यह निकला कि मन वह द्रव्य है जिसके कारण इन्द्रिय सम्बन्धसे आत्मामें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंमें क्रम उत्पन्न होता है। जैसे तन्तु आदि कारणोंके होनेपर भी तुरी वेमादिके न होनेसे पटकी उत्पत्ति नहीं होती इसी प्रकार आत्मा-इन्द्रिय और अर्थ इनके सम्बन्ध होनेपर भी जिसके न होनेसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता उसे मन कहते हैं। "आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षः कार्योत्पत्तौ कारणान्तर सापेक्षः सत्यपि तस्मिन् कार्यानुत्पादात् तन्त्वादिवत्, अत्र यदपेक्षणीयं करणान्तरं तन्मनः॥" तथा—"सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थ सान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूतोत्पत्ति दर्शनात् करणान्तरमनुमीयते। श्रोत्राद्य व्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाह्येन्द्रियैरग्रहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तः करणम्" (प्रशस्तपाद) जिस प्रकार बाह्य विषयोंके ज्ञानके लिये कर्ता-आत्मा, बाह्यकरणकी अपेक्षा रखता है उसी प्रकार स्मृत्यादि अन्तः कार्योंके लिये कर्ता-आत्माको अन्तकरण—'मन'की अपेक्षा होती है।

"सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनं मनः" अर्थात् जो सुख दुःख आदिके साक्षात्कार या उपलब्धिका साधन है वह मन है। "उभयात्मकं मनः" (सु० शा० १)। सुश्रुतमें मनकी गणना इन्द्रियोंके अन्दर करते हुए इसे उभयात्मक अर्थात् कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय दोनोंमें गिना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय है और दोनों प्रकारकी है। अन्य इन्द्रियोंके साथ सात्विक (उत्कट सत्वप्रधान) अहंकारसे इसकी उत्पत्ति सांख्यमें बताई गई है अतः मन इन्द्रिय कहलाता है। "इन्द्रियं च साधर्म्यात्" (सां० का० २७) इस कारिकाकी टीकामें वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—"इन्द्रियान्तरैः सात्विकाहङ्कारोपादानत्वं च साधर्म्यं, न त्विन्द्रलिङ्गत्वम्, महदहंकारयोरपि आत्मलिङ्गत्वेनेन्द्रियप्रसंगात्, तस्मात् व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वं नतु प्रवृत्तिनिमित्तम्"॥ कई स्थानोंपर मनका बुद्धि इन्द्रियोंके साथ वर्णन मिलता है। जैसे—"षडिन्द्रियप्रसादनः" (च० सू० २६)। "तत्र मधुरो रसः षडिन्द्रियप्रसादनः (सु० सू० २६)। "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति" (भगवद्गीता १६-७)। इस प्रकार मनको बुद्धि इन्द्रियोंके साथ गिना गया है तथा कई स्थलोंपर उसे छठा इन्द्रिय कहा गया है। इसका कारण यह है, कि ज्ञानेन्द्रियोंके साथ इसका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अर्थको तभी ग्रहण करती हैं, जब वे

मनसे अधिष्ठित होती हैं। "मनो व्याकरणात्मकं" (महाभारत)। बुद्धि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञानसे सम्बन्धमें वकीलकी तरह अमुक ऐसा है (संकल्प) और अमुक ऐसा नहीं है (विकल्प) इत्यादि सारासार विचार बुद्धिके सामने कार्याकार्य निर्णयके लिये व्यवस्थित रूपसे रखनेका काम मनका है और बुद्धिके द्वारा निर्णय प्राप्त होनेपर उसके अनुसार कर्मेन्द्रियोंके द्वारा काम करानेका कार्य मन ही करता है। इस तरह विस्तार और व्यवस्था करनेका कार्य व्याकरण कहलाता है और यह कार्य मन द्वारा सम्पन्न होता है। इसीलिये मनको व्याकरणात्मक कहा है।

वाचस्पति मिश्रने इसका समर्थन इस प्रकार किया है कि—"बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोधिष्ठातानामेव स्व-स्व विषयेषु प्रवित्तेः"। चरकमें उपर्युक्त विचार परम्परा संक्षेपमें निम्नप्रकारसे वर्णित है—"इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते। कल्प्यतेमनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा॥ जायते विषयेतत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका। व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्॥" (च० शा० १)। न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायन मुनिने स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न और ऊहा (तर्क वितर्क) की शक्ति वाले द्रव्यको मन बतलाया है, परन्तु अक्षपाद स्वयं इस विवरणमें न जाकर—"एक समय अनेक ज्ञानोंका उत्पन्न न होना" मनकी सत्ताका लिङ्ग बतलाते हैं।

मनकास्वरूप—स्वभावसे मन प्रभास्वर (निर्विकार) है, (उसमें पाये जानेवाले) मल आगन्तुक (आकाशमें अन्धकार कुहरा आदिकी भांति अपनेसे भिन्न) है। (प्रमाण वार्तिक)।

मनका अणुत्व तथा एकत्व—

"अणुत्वमथचैकत्वं द्वौगुणौ मनसः स्मृतौ"।

(च० शा० १)

उपस्कार—अणुत्वमिति। मनसः द्वौ गुणौ। अणुत्व एकत्वं च। ज्ञानस्यभावाभावाभ्यां अनुमितं तच्च अणु। प्रतिशरीरं एकं च। मनसो महत्वे एकदा सर्वेन्द्रियव्यापनात् नानात्वे च अनेकैरिन्द्रियैः सन्निकर्षाद् युगपज्ज्ञानानि उत्पद्येरन्। तच्च न भवति। तस्मात् मनः एकं अणु च। ज्ञानायौगपद्यात् मनसः एकत्वं अणुत्वं च सिध्यति। उक्तं च गौतमेन—"ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः" इति (न्या० द० ३।२।६०)। वैशेषिकेऽपि—"प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकं इति (वै० द० ३।२।३)।

"अयौगपद्याज्ज्ञानान्तं तस्याणुत्वमिहेष्यते" इति (विश्वनाथकारिका ३८५)। न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानेन्द्रियज्ञानात् ज्ञानयौगपद्यमिति वाच्यम्। तत्राऽपि क्रमोऽस्ति। स च विद्यमानोऽपि मनसः आशु-संचारात् उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् न गृह्यते। तत्र यौगपद्यप्रत्ययस्तु भ्रान्त एव।

अर्थ—मन अणुपरिमाण तथा एक है। अतः अणुत्व तथा एकत्व ये मनके दो गुण कहे गये हैं। यह मन प्रतिशरीरमें एक और अणु परिमाण होता है। यदि मनको महत् और अनेक मानें तो व्यापक तथा अनेक इन्द्रियोंसे एक साथ सम्पर्क होनेके कारण एक समयमें अनेक ज्ञान होने लगेंगे। परन्तु ऐसा नहीं होता अतः मन एक और अणु परिमाण है। महर्षि गौतमने भी एक समयमें एक ही ज्ञान होनेके कारण मनको एक माना है और इसीका समर्थन कणादने भी किया है। एक समयमें एक ही प्रयत्न तथा ज्ञान होनेसे अर्थात् प्रयत्न तथा ज्ञानके अयौगपद्यसे मनको एक माना है। विश्वनाथने कारिकावलीमें ज्ञानोंके एक कालिक न होनेके कारण मनको अणु परिमाण कहा है। कभी-कभी एक समयमें ही दीर्घशष्कुली भक्षणमें गन्धादि अनेक विषयोंका ज्ञान होनेकी जो भ्रान्ति होती है वह मनके शीघ्र संचारके कारण होती है। जैसे एक सूआ सौ कमलपत्रोंको यद्यपि क्रमशः भेदन करता है पर ऐसा मालूम पड़ता है कि उसने एक समयमें ही भेदन किया है।

वक्तव्य—सब अवयवोंमें प्रयत्न तथा सब विषयोंमें ज्ञान समान कालमें नहीं होते किन्तु भिन्न-भिन्न कालमें होते हैं। यदि प्रत्येक शरीरमें मन अनेक होते तो उनका प्रत्येक अवयव तथा प्रत्येक इन्द्रियके साथ संयोग होनेसे एक कालमें ही अनेक प्रयत्न तथा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते, परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि मन प्रतिशरीरमें एक है, अनेक नहीं, अर्थात् एक कार्यमें व्याप्त पुरुषकी क्रियाका अन्य कार्यमें अभाव और पहले कार्यको समाप्त करके दूसरे कार्यमें क्रियाका सद्भाव होता है। इसी प्रकार एक विषयके ज्ञान कालमें अन्य विषयक ज्ञानका अभाव तथा पहले ज्ञानके समाप्त होनेसे अन्य विषयमें ज्ञानान्तर का सद्भाव पाया जाता है। यदि प्रत्येक शरीरमें मन अनेक होते तो ऐसा न होता। इससे स्पष्ट है कि वह प्रतिशरीरमें एक है अनेक नहीं।

यहमनआत्माके सदृश महान् अर्थात् सर्वदेहव्यापक नहीं है,अपितु 'अणु' है। अणु होनेके कारण वह एक ही समयमें समस्त इन्द्रियोंमें संचार नहीं कर सकता जैसाकि उक्त उदाहरणोंसे भी सिद्ध होता है। यदि इसमें यह कहा जाय कि 'किसी कलको खानेके समय उसके स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, कुरमुर शब्द आदिका जो

ज्ञान होता है यह उसके महान् अथवा अनेक होनेका परिचायक है, तो उसका उत्तर यह है कि मन अणु और एक होते हुये भी बड़ा चंचल है। उसकी चपलताके कारण ही उक्त सब प्रकारका ज्ञान एक ही कालमें होनेका भास होता है। वस्तुतः उक्त ज्ञान एकके बाद दूसरे क्रमशः होते हैं पर उनके कालका व्यवधान इतना सूक्ष्म होता है कि भ्रमवश उनके एक साथ ही होनेकी प्रतीति होती है। जैसे १०० कमलके पत्तोंको यदि किसी सूएसे वेधन किया जाय तो स्थूल दृष्टया देखनेसे ऐसा प्रतीत होगा कि यह एक ही बार सबको छेदकर निकल आया है पर ऐसा नहीं होता। एक पत्रके छेदनके अन्तर ही दूसरे पत्रका छेदन होता है। इस छेदन कालमें इतना सूक्ष्म अन्तर होता है कि साधरणतया उसका भान नहीं होता।

मनके विषय तथा कर्म—

"चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयंसंकल्पमेवच।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥"

(च० शा० १)

उपस्कार—मनसो विषयमाह। चिन्त्यमिति। चिन्त्यं यत् मनो नानाविषयगतं चिन्तयति। विचार्यं गुणतो दोषतो वा यत् विवेच्यते। ऊह्यं तर्क्यं। ध्येयं यत् एकाग्रेण मनसा भाव्यते। संकल्प्यं मनसा यत् सम्यक् कल्प्यते कर्तव्याकर्तव्यत्वेन अवधार्यते। अनुक्तसंग्रहार्थमाह यत्किंचिदिति। एवं अन्यत् यत्किंचित् मनसो ज्ञेयं मनसा ग्राह्यं सुखदुःखेच्छाद्वेषादिकं तत्सर्वं अर्थसंज्ञकम्। सर्व एव ते मनसोऽर्थाः उच्यन्ते। मनसोविषयमुक्त्वा कर्म आह—इन्द्रियेति। इन्द्रियाणां अभिग्रहः यथास्वं विषयेषु प्रेरणं। तथा अस्य मनसः निग्रहः अहितात् नियमनम्। ऊहः शास्त्रेणाचोदितार्थस्य युक्त्या विमृश्यास्थापनम्। विचारः। चकारात् ध्यानसंकल्पादीनां संग्रहः। एतत् सर्वं मनसः कर्म। ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते। बुद्धिरिहमनोबुद्धिः।"

अर्थ—चिन्ता, गुणागुणका विचार, तर्क, ध्यान, संकल्प तथा मनके द्वारा अन्य ज्ञेय सुखदुःखादि ये सब मनके विषय हैं। इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयों

में प्रेरित करना तथा अहित विषयोंसे उनको रोकना, किसी विषयमें तर्क करना, हिताहितका विचार करना ये सब मनके कर्म हैं।

वक्तव्य—"उभयात्मकं मनः" मन उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों हैं—ऐसा पहले कह आये हैं और इसे उभयात्मक क्यों कहा गया है, इसका कारण भी स्पष्ट कर आये हैं। मनके विषय उक्त ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनोंके विषयों तक ही सीमित नहीं, अपितु इनके अतिरिक्त इनका और भी चिन्त्यादि विषय हैं जैसे कि ऊपरके श्लोकमें कहा है। इसीलिये मनको अतीन्द्रिय भी कहा गया है। इन्द्रियोंके विषय नियत हैं। "प्रतिनियतविषयैकाणीन्द्रियाणि" अर्थात् जिस इन्द्रियका जो विषय है उसीका ग्रहण उस इन्द्रियके द्वारा होता है, अन्यका नहीं। जैसे श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा शब्द का ही ग्रहण होगा स्पर्शादिका नहीं। परन्तु मन सभी इन्द्रियोंके साथ सबके विषयोंका ग्रहण करता है। यहीं तक नहीं, इनके अतिरिक्त चिन्ता, विचार, ऊहा, ध्यान, संकल्प तथा सुख-दुखादि भी मनके ही विषय हैं। इसीसे इसे 'अतीन्द्रिय' अर्थात् 'इन्द्रियमतिक्राम्य वर्तते' ऐसा कहा गया है। (चिन्ता, स्त्री, चिति अ-। प्रागनुभूतज्ञानजन्ये संस्कारोद्बोधे पूर्वदृष्टपदार्थ स्मरणे) मन सदा नाना विषयोंकी चिन्ता करता रहता है अर्थात् किसी प्रागनुभूत ज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कारका उद्बोधन तथा पूर्वदृष्ट पदार्थका पुनः स्मरण आदि मनके द्वारा होते हैं। अतः मनको चित्त भी कहते हैं (चित्यते ज्ञायते अनेन—चित् क्त) चित्तकी वृत्ति सदा अनुसन्धानात्मक होती है। मनको अन्तःकरण भी कहते हैं।

("अन्तरभ्यन्तरं तद्वृत्तिपदार्थानां ज्ञानादीनां या करणं अन्तःकरणम् ज्ञानसुखादिसाधने अभ्यन्तरे मनोबुद्धिचित्तादिपदाभिलभ्यमाने")।

(शब्दस्तोम महा०)

अर्थात् सुख दुःखादि आभ्यन्तर ज्ञानका साधक होनेके कारण इसे 'अन्तः करण, कहा गया है। 'विचार'—तत्व निर्णयको कहते हैं (वि+चिर+घञ्—पुं तत्वनिर्णये, तद्गुणे वाक्यस्तोमे च) किसी विषयके गुण दोषका ज्ञान करना विचार कहलाता है (ऊहा—स्त्री—ऊह् घञ् टाप्—वितर्के) शास्त्रानुकूल तर्कोंके द्वारा किसी विषयके संशय, पूर्वपक्ष आदिका निवारण और उत्तरपक्षका स्थापनादि निर्णयके लिये परीक्षणको ऊहा कहते हैं। एकाग्र मनसे किसी विषयके चिन्तनको ध्यान कहते हैं। (ध्यान—नं. ध्यै+ल्युट् चिन्तने चिन्तस्यैकतान-प्रवाहे) वेदान्तमें ध्यानकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—"ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः। ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी" और भी कहा है—"ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातु श्चिन्तातत्वेन निश्चला। एतद्

ध्यानमिह प्रोक्तम्" ॥ कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय कर अभीष्ट सिद्धिके लिये यही करना है, ऐसे निर्णयको संकल्प कहते हैं, (संकल्प—पुं सम्+कृप्+घञ्) । "अभीष्ट सिद्धये "इदमित्थमेवं कार्यम्" इत्येवं रूपे मनसो व्यापारभेदे । कर्मसाधनाय अभिलाषवाक्ये, "संकल्पेन विना राजन् यत्किंचित् कुरुते नरः । इति पुराणम्) अनुकूल वेदनीयं सुखं, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् । ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियोंको अपने अपने विषयको ग्रहण करनेमें प्रयोजित करना, अहित विषयोंसे उन्हें रोकना मनका कार्य है । इसके अतिरिक्त किसी गृहीत विषयके सम्बन्धमें तर्क-वितर्क करना भी मनका ही कर्म है । इसीसे कहा है—"इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते । कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चियात्मिका । व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धि पूर्वकम्" (च० शा० १) । अर्थात् मनोऽधिष्ठित श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा पहले शब्दादि विषय ग्रहण किये जाते हैं । इस प्रकार गृहीत निर्विकल्पक ज्ञानको पुनः मन उनके गुण दोषका विचार कर, वह विषय उपादेय है या हेय है यह निश्चय करता है । यह निश्चय मनोबुद्धिके द्वारा होता है । इसके बाद जो निश्चयात्मिका मनोबुद्धि उत्पन्न होती है उसके द्वारा हम किसी बातको कहते तथा किसी कार्यको करने लगते हैं । इसीसे कहा है कि—"संमुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग् गृह्णन्त्यविकल्पितम् । तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः ॥" पहले इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत विषय बाद मनके द्वारा विवेचित होनेपर अध्यवसायात्मिका मनोबुद्धि उत्पन्न होती है । "अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम् ॥ ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया । बुद्ध्यावसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन संमता ॥" इति । बादमें यह ऐसा है, ऐसा नहीं है, यह हमारे करने योग्य है यह नहीं है इत्यादि ऊहापोहके बाद निर्णय करते हैं कि हमें ऐसा करना है । यहां अहंकार व्यापार अनुक्त होनेपर भी बुद्धि व्यापारके द्वारा सूचित हो जाता है । अथवा ऊपरके श्लोकमें जो "बुद्धिपूर्वकम्" ऐसा पद आया है उसके द्वारा भी "कार्यकारणयोरभेदात्" इस नियमसे बुद्धि शब्दसे ही अहंकारका ग्रहण हो जाता है ।

मन तथा चेतनाका स्थान—

"सत्वादिधाम हृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम् ।"

(अष्टांगहृदय शा० ४)

हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् ।

(सु० शा० ३)

"षडङ्गमङ्गविज्ञान - मिन्द्रियाण्यर्थ पंचकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतः सर्वं च हृदि संस्थितम् ॥"
(चरक सू० ३०)

"हृदयं चेतना स्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्"।
(सु० शा० ४)

अर्थ—सत्व आदिका स्थान हृदय है जो स्तन और उरः कोष्ठके मध्यमें है, (अ० हृ०)। बुद्धि और मनका स्थान होनेसे गर्भमें पहले हृदय बनता है यह कृतवीर्यने कहा, (सु०)। छओं अङ्ग, अङ्गविज्ञान इन्द्रियां और उनके पांचो अर्थ, सगुण आत्मा और चित्त (मन) ये सब हृदयमें स्थित हैं, (चरक)। शरीर-धारियोंका हृदय चेतनाका स्थान कहा गया है, (सुश्रुत)

वक्तव्य—हृदयमें मनका स्थान है यह उपर्युक्त सुश्रुत आदिके वाक्योंसे सिद्ध हो जाता है। कुछ लोग इसके अर्थको विचित्र ढंगसे करके उसे आधुनिक मनोविज्ञानोक्त मनका स्थान मस्तिष्क, हृदयका अर्थ करने लगते हैं जो पूर्वापर वाक्योंसे मेल नहीं खाता जैसा कि प्रत्यक्षशारीरमें परम आदरणीय दिवंगत आयुर्वेद जगत्के प्रसिद्ध विद्वान् कविराज श्री गणनाथसेनजीने अपने प्रत्यक्षशारीर नामक ग्रन्थमें लिखा है कि—"यत्तु वैद्यके-बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य" इत्यादि विरुद्धप्रायं वचनं तन्मस्तिष्कमूलस्थिताऽऽज्ञाचक्रांशभूत ब्रह्महृदयाभिप्रायेण। योगिनो हि षट्चक्रनिरूपणे मस्तिष्कमूलस्थमाज्ञाचक्रमुपक्रम्य "एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं" इति स्पष्टमाहुः। न मनोविरहिता बुद्धिरस्ति श्रुतिश्च—"य एषोऽन्तर्हृदयं आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः" इति (तैत्तिरीयोपनिषद्) यच्च सुश्रुतोद्धृतं 'हृदयं चेतनास्थानमित्यादि' प्राचीनवचनं तदपि एतदभिप्रायिकमेव। न च मांसमयमेव हृद्यंत्रं तदभिवाच्यम्। तद्धि न कथमपि तादृशलक्षणाभिधेयं भवितुमर्हति, असंभवात्।" यह कहकर आगे कहते हैं कि—"यत्तु हृदस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च" इति सौश्रुतः पाठ स्तत्र लिपिकर प्रमाद एव दरीदृश्यते।" इत्यादि। परन्तु प्रमाद कहीं एक दो स्थानमें हो सकता है। आयुर्वेद ही नहीं प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सर्वत्र मन तथा चेतनाका स्थान हृदय प्रतिपादित मिलता है और उस हृदयकी स्थिति स्पष्ट शब्दोंमें मांसमय हृदय (Heart) के सदृश निर्दिष्ट मिलता है जैसाकि उपर्युक्त चरकादि ऋषियोंके वाक्यसे स्पष्ट है। अतः इस कथनमें क्या तथ्य है यह विचारना सभी विवेकशील जिज्ञासुओंका कर्त्तव्य हो जाता है।

मस्तिष्क भी मनका स्थान है ऐसा वर्णन यत्र तत्र भारतीय वाङ्मयमें भी मिलताहै, जैसे भेलसंहितामें—"शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रिय परं मनः। तत्रस्

तद्धि। विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्॥ समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति तन्मनः प्रभवश्चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम्॥ कारणं सर्व बुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम्। क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम्। (भेल संहिता—उन्माद चिकित्सा)। परन्तु यह वर्णन चरकादिके विरुद्ध नहीं है। चरकमें शिर सर्वेन्द्रियोंका अधिष्ठान माना गया है। मन भी एक इन्द्रिय है और विशेष करके बुद्धीन्द्रिय है। "प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥" (च० सू० १७)। "शिरः पूर्वमभिनिवर्तते कुक्षाविति कुमारशिरः भरद्वाजः, पश्यति सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति कृत्वा (चरक० शा० ६)। "शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रिय प्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि" (च० सिद्धि ९)। "गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवति इत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वात् प्रधानेन्द्रियाणाम्॥" (सु० शा० ३)। "सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणाः येन च संस्थिताः। तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामाहतो भवेत्॥ (अ० सं० अ० २९)। परन्तु मस्तिष्क या मस्तुलुङ्ग (Brain) का स्पष्ट वर्णन पृथक् कहीं नहीं उपलब्ध होता, जैसा कि आधुनिक शरीर शास्त्रमें मिलता है। "मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः" (च० शा० ७) इसकी टीकामें चक्रपाणि लिखते हैं—"मस्तिष्कं शिरस्थो मज्जा। मस्तिष्कः शिरस्थः स्नेहः।" तथा—"अत्यावाक् शिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गेऽवतिष्ठते।" (चरक)। "मस्तुलुङ्गाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषोदत्वा ततो निबध्नीयात् सप्ताहं च पिबेद् घृतम्॥" (सु० चि० ३)। इस प्रकार चरक तथा सुश्रुतमें कई स्थलोंपर मस्तिष्क तथा मस्तुलुङ्ग शब्द व्यवहृत मिलता है। परन्तु इस मस्तिष्क तथा मस्तुलुङ्गमें मनका स्थान है ऐसा वर्णन कहीं नहीं मिलता।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह प्रतीत होता है कि हृदय तथा शिर (मस्तिष्क) दोनों ही मनके स्थान हैं पर दोनों स्थानोंके निर्देशमें दृष्टिकोणका अन्तर है। शरीरमें ज्ञानप्राप्तिका सबसे बड़ा केन्द्र शिरमें है, क्योंकि वहांपर सब इन्द्रियां केन्द्रित और उपस्थित रहती हैं। इसलिये मन भी वहांपर अधिक उपस्थित रहता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, और इसी दृष्टिसे मनका स्थान शिर बताया गया है। संक्षेपमें मनका मूलस्थान हृदय और उसके कार्य करनेका मुख्य कार्यालय शिर और कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। हृदयमें रहकर मन अपना कार्य नहीं कर सकता। वह वहांसे मनोवह स्रोतोंके द्वारा शिरमें तथा समस्त शरीरमें जाकर हृदयस्थ आत्माको इन्द्रियार्थोंका ज्ञान कराता है। जब मनुष्य इन्द्रियार्थोंके ज्ञानसे परावृत्त होना चाहता है तब मनको हृदयमें रोकनेकी आवश्यकता होती है। इसी भावको गीतामें इस प्रकार प्रकट किया है कि—"सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदिनिरुध्य च। मूर्द्धन्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम्॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥" (भगवद्गीता ८-१३)। इस विस्तृत विवरणका तात्पर्य यह है कि हृदयमें आत्माका निवास होनेके कारण आयुर्वेद हृदयको ही मन और बुद्धि-का स्थान मानता है और हृदयसे निकले हुए संज्ञावह, चेतनावह और मनोवह स्रोतसोंके द्वारा समस्त शरीरको चैतन्य प्राप्त होता है तथा दोषोंके द्वारा हृदय तथा संज्ञावह स्रोतसोंकी दुष्टि होनेसे संज्ञा, मन तथा चेतनाके विकार उत्पन्न होते हैं। आधुनिक कल्पनाके साथ मिलनेवाली तथा वक्षस्थ और शिरस्थ दो हृदय माननेवाली कल्पना आयुर्वेद सम्मत नहीं प्रतीत होती। आयुर्वेदमें केवल एक वक्षस्थ हृदय होता है और वहीं मन बुद्धि तथा चेतनाका स्थान माना गया है।

मनोविज्ञान—

मन तथा मनकी विविध वृत्तियोंके सम्बन्धमें विचार करनेवाले शास्त्रको मनोविज्ञान (Psychology) कहते हैं। भारतीय साहित्यमें सभी विज्ञान दर्शनके अन्दर ही वर्णित है। आजकल जिस प्रकार विज्ञान और दर्शनका बटवारा हो गया है पहले इस प्रकारका बटवारा नहीं हुआ था। अतः मन सम्बन्धी वर्णन भी विविध भारतीय दर्शनोंके अन्दर ही उपलब्ध होता है। भारतीय दर्शनोंमें योगदर्शन इस विषयका अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा अधिक विवेचन करता है। योगवाशिष्ठमें तो मनको संसारका 'नाभि' कहा है। "चित्तं नाभि किलास्येह मायाचक्रस्य सर्वतः।" हम इसे योगवाशिष्ठ दर्शनका 'नाभि' भी कह सकते हैं, क्योंकि योगवाशिष्ठके अध्ययनसे ऐसा अनुभव होता है कि सभी विचारोंका मूल 'मन' है। यदि इस दर्शनको हम किसी खास विषयका प्रति-पादन करनेवाला कहना चाहें तो हम कह सकते हैं कि यह मनके सम्बन्धमें विचार करनेवाला दर्शन है अर्थात् 'मनोविज्ञान'का दर्शन है। योगवाशिष्ठके अनुसार संसारकी सभी वस्तु,सभी विचार तथा सभी प्रपञ्च मनकी लीलामात्र है।

मनका क्रमिक उदय सृष्टिका क्रमिक विकास (Evolution) है और मनका क्रमिक अस्त सृष्टिका क्रमिक विनाश (Involution) या लय है। मनकी पवित्रता से स्वातन्त्र्य तथा मनकी अपवित्रतासे ही बन्धन होता है। मनकी परिस्थिति पर ही हमारे सभी आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विचार निर्भर करते हैं। इस प्रकारके वर्णनोंसे योगवाशिष्ठ परिपूर्ण है। अतः योगवाशिष्ठका प्रधान प्रतिपाद्य विषय मन है, यह कहनेमें हमें तनिक सङ्कोच नहीं होता। इसलिये मनके सम्बन्धमें योगवाशिष्ठके कुछ उद्धारणोंके साथ हम आधुनिक 'मनोविज्ञान'का वर्णन संक्षेपतः इस प्रकरणमें करनेका प्रयत्न करेंगे। मनोविज्ञान अपने आपमें एक विस्तृत विषय है और उसका तुलनात्मक विवेचन तो और भी गहन एवं

विस्तृत हो जायगा। अतः इस पुस्तक प्रणयनके मूल उद्देश्यको दृष्टिमें रखते हुए इस विषयका आभासमात्र वर्णन ही यहाँ सम्भव है।

योगवाशिष्ठ 'मन'को सर्वशक्तिमान् विराट् मन चेतना (All powerful absolute consciousness) का एक निश्चित रूप मानता है, जो उसकी इच्छा के अनुसार उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वशक्तिमान् परमात्माके संकल्पशक्तिसे रचित जो रूप है वही 'मन' है। "अनन्तस्यात्मतत्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः। संकल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः॥" मन शुद्ध चेतनाका स्फुरणमात्र (Vibration of pure consciousness) है, जो किसी विषयके सम्पर्कसे मलिन तथा परिवर्तित होता रहता है। यह चेतनाका स्पन्दनशील तथा परिवर्तनशील रूप है, जो ज्ञान तथा कर्म दोनोंके सम्पर्कमें आता रहता है। मन शुद्ध चेतनाका कर्मविषयताकी ओर झुकावमात्र है।

"संपन्ना कलनानाम्नी संकल्पानुविधायिनी।
संकल्पनं मनोबुद्धिः संकल्पात्तन्न भिद्यते॥
परस्य पुंसः संकल्प मयत्वं चित्तमुच्यते।
चित्तिः स्पन्दो हि मलिनः कलङ्कविकलान्तरम्॥
मन इत्युच्यते राम न जड़ं न चिन्मयम्।
जड़ाजड़दृशोर्मध्ये दोलारूपंस्वकल्पनम्॥
चर्चितो ज्ञानरूपिण्या – स्तदेतन्मनउच्यते।
चितो यच्चेत्यकलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम्।
मनो हि भावनामात्रं भावनास्पन्दधर्मिणी॥

उपर्युक्त सभी वर्णन एक ही तथ्यकी ओर संकेत करते हैं कि 'मन' परमात्मा के अन्दर कल्पनाका केन्द्र है, जिसके द्वारा इस संसारका भान होता है। अर्थात किसी विषयका ज्ञान 'मन'के द्वारा ही होता है और साधक मनकी स्थितिसे ही उसके साध्य संसारकी स्थिति है। सदा मनन करते रहनेके कारण वह 'मन' और चिन्तन करते रहनेके कारण चित्त कहलाता है। मन भावानात्मक है और भावना स्पन्दन धर्मवाली होती है। अतः मन उस विराट्, अनन्त एवं अगाध चैतन्यके सृजन कर्मका एक निश्चित स्पन्दन (Definite wave) के समान है। बौद्ध सम्प्रदायमें भी (महायान-सुजुकी) मनको अनन्त और नित्य मानस समुद्रका प्रारम्भिक और विशिष्ट चैतन्यस्पन्दनका संकेत करनेवाला कहा है।

Rational mysticism नामक पुस्तकमें Kingsland ने मनके सम्बन्धमें इस प्रकारका वर्णन किया है कि—"The mind is, as it were, a definite centre in which the self which in itself is universal and absolute can centre itself so as to particularise a world." अर्थात् मन एक निश्चित केन्द्र है जिसमें आत्मा अपनेको इस संसारको निर्देश करनेके लिये केन्द्रित कर सकता है। उपर्युक्त वर्णनोंके बाद मनका पूर्ण चेतन (आत्मा) से कैसे भेद कर सकते हैं यह प्रश्न उठता है, क्योंकि मन अन्ततोगत्वा आत्मासे भिन्न है यह तो दिखाना ही है। अतः योगवाशिष्ठ इस शङ्काको दूर करनेके लिये कहता है कि—"यथा कटककेयूरैर्भेदो हेम्नो विलक्षणः। तथाऽऽत्मनश्रितो रूपं भावयन्त्याः स्वमांशिकम्॥ किञ्चिदामृष्टरूपं यद् ब्रह्म तच्च स्थिरं मनः। चेत्येन रहिता येषा चित्तब्रह्मसनातनम्॥ चेत्येन सहिता चैषा चित्सेयं कलनोच्यते॥ वातस्य वातस्पन्दनस्य यथा भेदो न विद्यते। शून्यत्वखत्वोपमेयश्चिन्मात्राहं त्वयोस्तथा॥" अर्थात् जैसे सोनेके बने हुए कटककेयूरादि भूषण सोनेसे भिन्न न होने पर भी पृथक् समझे जाते हैं, उसी प्रकार मन भी आत्माका एक निश्चित अंश समझा जाता है। विषय वासनासे रहित चेतनको मन या चित्त कहते हैं। जिस प्रकार वात तथा वातस्पन्दन (Air & wind) शून्य तथा आकाशमें कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार मन तथा शुद्ध चेतन (ब्रह्म) में वस्तुतः कोई भेद नहीं होता है। मनके सम्बन्धमें अश्वघोषके विचार भी योगवाशिष्ठसे मिलते जुलते हैं। वह अपने महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्रमें लिखते हैं कि—"स्वत्वसंज्ञक मन (विराट् मन) नित्य शुद्ध तथा दोषरहित होता है। परन्तु अविद्या का प्रभाव उसे संकुचित बना देता है। अविद्याके कारण संकुचित मन (Defiled mind) के होने पर भी मन अपने आपमें शुद्ध, स्वच्छ, नित्य तथा अपरिणामी है। यद्यपि वह स्वयं अविशेष (Free from portionlarisation) तथा अपरिणामी है तथापि सर्वत्र परिस्थितिवश भिन्न-भिन्न रूपोंको धारण कर लेता है" (Suzuki-Awakening of faith) वशिष्ठके अनुसार मन शुद्ध परम चेतन स्वरूप है जो सृजनकर्ताके रूपमें (Creative agent) अपनेको व्यक्त करता है। यह पूर्णब्रह्मसे भिन्न नहीं होता, परन्तु यह पूर्णब्रह्म भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे देखा जाता है। वशिष्ठने इसे बहुधा 'चिदणु' (An atom of consciousness or monad) कहा है। यह वर्णन आधुनिक परमाणु वर्णनसे बहुत कुछ साम्य रखता है (Kingsland) का यह कथन है कि—"The real atom, instead of being the smallest of the small, is the largest of large, for every so called atom is nothing less in substance than the one substance-which is the only thing in the universe which cannot be devided

or cut--"(Rational mysticism) अर्थात् वास्तविक अणु (परमाणु) सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेके बदले महान् से भी महान् है, क्योंकि प्रत्येक तथाकथित परमाणु द्रव्यत्वरूपेण उस द्रव्यसे किसी प्रकार न्यून नहीं है, जो विश्वमें एक ही वस्तुके रूपमें वर्तमान है और जिसका कोई विभाग नहीं हो सकता। यहीं तक नहीं (Sir Oliver lodge) जैसे प्रौढ़ वैज्ञानिक भी अब यह विचार प्रदर्शन करने लगे हैं कि—परमाणुमें अनन्त शक्तिका संचय है। उनका कहना है कि इथेरिक स्पेसके प्रत्येक (Cubic milimeter) में इतनी शक्ति (energy)का संचय है कि करोड़ों अश्वबल पुञ्ज (Horse Power) चालीस कोटि वर्ष तक उससे सतत कार्य कर सकते हैं। "In every-cūbic miilmeter of etheric space there is so much energy as to furnish a million horse power working continually for forty million years," *(Lodge-Elber of space Page 45)*

बाह्य तथा आभ्यन्तर जगत्की विविधता जो ऊपर कह आये हैं वह वशिष्ठके अनुसार 'मन' के विविधरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह वही एक मन है जो किसी व्यक्ति विशेषमें अपनी लीलाके अनुसार विभिन्न रूप और नामको धारण करता है। आभ्यन्तर जगत्की विविधशक्तियाँ (Faculties) उस मनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो भिन्न २ मार्गों में कार्य करती है और भिन्न २ नाम धारण करती हैं, जैसे—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, अशुचि (मल), माया, प्रकृति, जीव, कर्त्ता, रक्षक आदि। इन्द्रियां, भौतिक शरीर तथा सूक्ष्म शरीर एवं विषय ये सब उस मनके ही भिन्न २ कार्यों के रूप तथा नाम हैं। जिस प्रकार एक नर्तक नाट्यशालामें भिन्न २ रूप और नाम धारण करता है, वैसे ही मन अपने भिन्न २ कार्यों के अनुसार रूप तथा नाम धारण करता है।

यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्यलं तथैव हि।
मनोनामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजत्॥
चित्राधिकारवशतो विचित्राः विकृताभिधाः।
यथा याति नरः कर्म-वशाद्याति तथा मनः॥
गतेव सकलङ्कत्वं कदाचित्कम्पनात्मकम्।
उन्मेषरूपिणि नाना तदैव हि मनः स्थिता॥
भावानामनुसन्धानं यदा निश्चित्य संस्थिता।
तदैषा प्रोच्यते बुद्धि - रियत्ताग्रहणक्षमा॥

अस्मीतिप्रत्ययादन्त–रहंकारश्च कथ्यते ।
यदा मिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयतिस्वयम् ॥
अहंकाराभिमानेन प्रोच्यते भवबन्धनी ।
इदमित्थमिति स्पष्ट बोधाद् बुद्धिरिहोच्यते ॥
इदंत्यक्त्वेदमायाति बालवत्पेलवा यदा ।
विचारं संपरित्यज्य तदा सा चित्तमुच्यते ॥
यदा स्पन्दैकधर्मत्वात्कर्तुर्या शून्यशंसिनि ।
आधावति स्पन्दफलं तदाकर्मेत्युदाहृता ॥
काकतालीय योगेन त्यक्त्वैकधननिश्चयम् ।
यदेहितं कल्पयति भावं तेनेह कल्पना ॥
पूर्वदृष्टमदृष्टं वा प्रागदृष्टमिति निश्चयैः ।
यदैवेहां विद्यन्ते ऽन्तस्तदा स्मृतिसदाहृताः ॥
यदा पदार्थशक्तीनां संयुक्तानामिवाम्बरे ।
वसत्यस्तमितान्येहा वासनेति तदोच्यते ॥
बोधादविद्यमानत्वाद विद्येत्युच्यते बुधैः ।
स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम् ॥
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्प्यते ।
सदसत्तां नयत्याशु सत्तां वा सत्वमज्जसा ॥
सत्तासता विकल्पोऽयं तेन मायेति कथ्यते ।
सर्वस्य विश्वजालस्य परमात्मन्य लक्षिते ॥
प्रकृतत्वेन भावानां लोके प्रकृतिरुच्यते ।
जीवनात् चेतनाज्जीवो जीव इत्येव कथ्यते ॥
प्रौढ़संकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम् ।
अतिवाहिकदेहोवत्या समुदाह्रियते बुधैः ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वाघ्रात्वा विमृश्य च।
इन्द्रमानन्दयत्येषा तेनेन्द्रियमिति स्मृतम् ॥
देहभावनया देहो घटभावनया घटः ।
कैश्चिद् ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कैश्चिद्विराडिति ॥
कैश्चित्सनातनाभिख्यः कैश्चिन्नारायणाभिधः ।
कैश्चिदीश इति ख्यातः कैश्चिदुक्तः प्रजापतिः ॥
चितेश्चेत्यानुयातिन्या गतायाः सकलङ्कताम् ।
प्रस्फुरद्रूपधर्मिण्याः एताःपर्याय वृत्तयः ॥

अर्थात्—जिस प्रकार एक ही व्यक्तिका भिन्न भिन्न कार्य करनेके कारण भिन्न-भिन्न कार्यालयमें भिन्न-भिन्न रूप और नाम होता है, उसी प्रकार मनका भी भिन्न-भिन्न कार्यों तथा स्थानोंके कार्य करनेसे भिन्न-भिन्न रूप और नाम पड़ता है। जब परम चैतन्यका संकल्प नामक कार्य विविधरूपोंमें होता है, तब उसका नाम मनन करनेसे 'मन' होता है और जब वह किसी निर्णयपर पहुंचता है तब उसे 'बुद्धि' कहते हैं। इसके अन्दर जब अहंभाव आता है तब उसका नाम 'अहंकार' पड़ता है और जब वह बिना किसी कारणके एक विषयसे दूसरे विषयकी ओर चिन्तन करता है तो उसे चित्त कहते हैं। जब वह अपने अन्दर किसी कमीका अनुभव करता हुआ उसकी पूर्तिके लिये किसी विषयकी ओर दौड़ता है तब उसका नाम 'कर्म' होता है। और जब वह विचलित होकर किसी खास विषयके ध्यानमें लगता है तो उसे कल्पना कहते हैं। जब किसी पूर्वानुभूत विषयका ध्यान करता है तो उसे 'स्मृति' कहते हैं और जब वह अन्य कर्मोंको भूलकर किसी खास विषयकी इच्छा करता है तो उसे 'वासना' कहते हैं। ज्ञान हो जानेके बाद इसके अस्तित्वका लोप हो जाता है अतः इसे 'अविद्या' कहते हैं। चूंकि आत्म विनाशके लिये ही इसकी स्फूरणा होती है और इसकी विद्यमानता परमतत्वको तिरोहित करती है इसलिये इसको 'मल' कहते हैं। यह परमतत्व अर्थात् ब्रह्मको अपनी स्थितिसे आवृत करता है अतः इसे 'माया' कहते हैं। संसारके सभी अनुभव तथा ज्ञानके प्रति यह कारण है अतः इसे 'प्रकृति' कहते हैं। इसे 'जीव' कहते हैं क्योंकि यह जीता है और चैतन्य है। यह 'पुर्यष्टक' कहलाता है क्योंकि यह मन, बुद्धि, अहंकार तथा पंचेन्द्रियाँ—इन आठोंसे बना हुआ सूक्ष्म शरीरमें है। यह बिना किसी प्रभावके दूरसे दूर तक जा सकता है अतः इसे 'अतिवाहिक शरीर' (Body of thought) कहते हैं। यह अपने श्रवण दर्शन स्पर्शनादि कर्मोंसे आत्माको प्रसन्न करता है इसलिये इसे 'इन्द्रिय' कहते

हैं। यह अपनी दुनिया अपने आप बनाता है अतः इसे कोई 'ब्रह्म' कहते हैं, कोई 'विराट्' कोई 'सनातन' तथा कोई 'नारायण' एवं कोई 'ईश' कहते हैं। ये सभी नाम विषयोंके सम्पर्कमें आये हुए या कर्ममें फँसे हुए उस परम चैतन्यका ही होता है। महायान बौद्ध सम्प्रदायमें भी इस विचारसे बहुत कुछ मिलता-जुलता विचार प्रदर्शित किया जाता है। जैसे—अश्वघोषने 'अहंकार'के उसकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके अनुसार पाँच नाम दिये हैं। "Five different names says Ashva ghose , are given to the ego (according to its different modes of operation" (Suzuki-Awakening of faith) लङ्कावतार सूत्रमें भी कहा है कि—

The sea-water and the waves,
One varies notfrom the other.
It is even so with the mind and its activities,
Chilta is Karma-accumulating,
Manas reflects an objective world,
Mano-Vijnan is the faculty of judgement,
The five Vijnan are the differentiating senses."

(Lankawatar Sutra-quoted in Suzuki Mahajan-Budhisism)

अर्थात्—समुद्र, जल और उसका तरङ्ग एक दूसरेसे पृथक् नहीं होता। इसी प्रकार मन तथा उसके कर्म परस्पर भिन्न नहीं होते, चित्त कर्म संचयमात्र है, मन विषय-वासनायुक्त संसारका ज्ञापक है और मनोविज्ञान निर्णय या न्याय करनेवाली संस्था है।

स्थूल दृष्टिसे मनके व्यक्तावस्थाको तीन श्रेणीमें विभक्त कर सकते हैं। १—जीव (monad), २—अहंकार (ego) और ३—देह (Body)। जीव मनकी वह अवस्था है, जब वह परम चैतन्यसे रश्मिकी भाँति निकलता है और परम सूक्ष्म रहता है। अहंकार जीवकी वह स्थूलाभिव्यक्ति है जब उसका अधिक सीमितरूप हो जाता है अर्थात् विषयोंके फेरमें पड़ जाता है। जीव किस प्रकार अहंकारका रूप धारण कर लेता है, इसका वर्णन योगवाशिष्ठमें बड़े सुन्दर ढङ्गसे किया है। जैसे—"तदेव घन संवित्या यात्यहंतामनुक्रमात्। वह्न्यणुः स्वेन्धनाधिक्यात्स्वां प्रकाशकतामिव॥" अर्थात् जीव क्रमशः विषयोंकी ओर अधिक झुकाव होनेसे अहंकार का रूप धारण करता है, जिस प्रकार अग्निका स्फुलिङ्ग (Spark) ईन्धनकी वृद्धि से वृद्धिको प्राप्त होता है और अधिक प्रकाश करता है। तथा—"स्वैयतया घनतया नीलिमानमिवाम्बरम्। स्वयं संकल्प वशतो वातस्पन्द इव स्फुरन्॥" अर्थात् जिस प्रकार घनताको प्राप्त हो कर आकाश नीला दिखाई पड़ता है और वायु बवण्डरका रूप धारण कर लेता है, जीव जब विविध कल्पनात्मक क्रियाओं

के कारण अपनेको समझने लगता है कि "मैं यह हूँ" और अपने रूपकी तारा-कारादि कल्पना करने लगता है जो बादमें शरीरका रूप धारण कर लेता है, जब उसे देखनेकी इच्छा होती है तो वह देखनेका प्रयत्न करता है, तो शीघ्र ही उसके सम्मुख दो छिद्र उपस्थित होते हैं जिसके साथ वह एकात्मता धारण कर लेता है, पुनः इन छिद्रोंको जिनसे देखनेकी क्रिया जीव सम्पन्न करता है, नेत्र कहने लगते हैं। इसी प्रकार जिसके द्वारा वह स्पर्श क्रिया सम्पन्न करता है उसे त्वचा और जिसके द्वारा श्रवणकी क्रिया सम्पन्न करता है उसे श्रोत्र कहते हैं। जिससे वह गन्ध लेनेकी क्रिया सम्पन्न करता है उसे घ्राण और जिससे स्वाद लेनेकी क्रिया सम्पन्न करता है उसे रसना कहते हैं। इसी प्रकार जब उसका झुकाव कर्मकी ओर होता है, तब वह अपनी इच्छाके अनुसार कर्मोंको करने लगता है और जिन अवयवोंके द्वारा उन कर्मोंको सम्पन्न करता है, उन अवयवोंसे उसकी एकात्मता हो जाती है और कर्म तथा अवयवके अनुसार हम उस (कर्मेन्द्रिय) का नाम लेने लगते हैं। इस प्रकार जीव अपनी इच्छा शक्तिसे विषयोंकी कल्पना करता है तथा ग्रहण करता है। यह जीव उक्त परिस्थितिमें मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओंका चोंगा पहनकर विश्वके सामने उपस्थित होता है, तब हम उसे (आठ लक्षणोंवाले शरीर) पुर्यष्टक तथा अतिवाहिक देहके नामसे संज्ञित करते हैं। यही सूक्ष्म शरीर क्रमशः अपनी कल्पनाओंके अनुसार गर्भाशयके अन्दर भौतिक शरीरको धारण करता है। इस प्रकार यह जीव रेशमके कीड़ेके समान स्वयं सीमाके अन्दर आबद्ध होता है और स्वयं भौतिक शरीरको धारण करता है। यह स्वयं शरीरकी कल्पना करता है, और उसे प्राप्त करता है तथा उसमें आबद्ध हो पुनः पश्चात्ताप करता है। यह अपनी ही कल्पनाओंसे अपनेको पाश-बद्ध करता है और बादमें पिंजरेमें पड़े हुए शेरको तरह निःसहाय अनुभव करता है।

"यथाभावितमत्रार्थं भाविताद्विश्व रूपतः।
स एव स्वात्मा सततोऽप्ययं सोऽमिति स्वयम्॥
चित्तात्प्रत्ययमाधत्ते स्वप्ने स्वामिव पान्थताम्।
ताराकारमाकारं भाविदेहाभिधं तथा॥
भावयत्येतितद्भावं चित्तं चेत्यार्थतामिव।
प्रेक्षोऽहमिति भावेन द्रष्टुं प्रसरतीव खे॥
ततोरन्ध्रद्वयेनैव भावि बाह्याभिधं पुनः।
येन पश्यति तन्नेत्रयुगं नाम्ना भविष्यति॥

येन स्पृशति सा वै त्वग्यच्छृणोति श्रुतिस्तु सा ।
येन जिघ्रति तद् घ्राणं स स्वमात्मनि पश्यति ॥
तत्तस्य स्वदनं यश्चाद्रसना चोल्लसिष्यति ।
स्थितो यस्मिन्भवतीति तावदहश्चादितास्थिता ॥
स्पन्दते यत्स तद्वायुश्चेष्टा कर्मेन्द्रियव्रजम् ।
रूपालोकमनस्कार जातमित्यपि भावत् ॥
अतिवाहिक देहात्मा तिष्ठत्यम्बरमम्बरे ।
मनोबुद्धिरहंकार स्तथातन्मात्रपञ्चकम् ॥
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ।
आतिवाहिक देहात्मा चित्तदेहाम्बराकृतिः ॥
स्वकल्पनान्न आकारमणुसंस्थं प्रपश्यति ।
कोशकाकार क्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धताम् ॥
स्वसंकल्पानुसंधाना न्पाशैरिवनयन्वपुः ।
कष्टमस्मिन् स्वयं बन्ध-मेत्यात्मा परितप्यते ॥
स्वसंकल्पिततन्मात्र जालाभ्यन्तरवर्ति च ।
परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्ध सिंहवत् ॥

(योग वाशिष्ठ)

योग वाशिष्ठके उपर्युक्त उद्धरणोंसे हम देखते हैं कि संसारमें जीव या मनकी संख्याकी कोई सीमा नहीं, क्योंकि संसारके प्रत्येक पदार्थमें उसके सम्बन्धमें कल्पना या चिन्तन करनेका केन्द्र वर्तमान है। यह विश्व मन या जीवसे परिव्याप्त है। विराट मन (Cosimic mind) से लाखों और करोड़ोंकी संख्या में जीव या मन निकलता है। "जिस प्रकार जलप्रपात (झरने) से असंख्य जलबूंदोंकी उत्पत्ति हुई, होती है, और होगी उसी प्रकार उस विराट् मनसे असंख्य मनकी उत्पत्ति हुई, होती है और होगी, जलके बुलबुलेके समान प्रत्येक निशमें प्रत्येक स्थलपर असंख्य मन उत्पन्न और विनष्ट होते हैं।"

"एवं जीवाश्रितो भावा भवभावनयोर्हिताः ।
ब्रह्मणः कल्पिताकाराल्लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ॥
असंख्याताः पुराजाता जायन्ते चाऽथनेकशः ।
उत्पत्तिष्यन्ति चैवाम्बु कणौघा इव निर्झरात् ॥
अनारतं प्रतिदिशं देशे देशे जले स्थले ।
जायन्ते वा म्रियन्ते वा बुद्बुदा इव वारिणो ॥

योग वशिष्ठके ये उद्धरण 'लीब्नीज' के निम्न वाक्यों का स्मरण कराते हैं कि There is a world of created things, of living things of animals, of entilechies, of souls, in the minute particles of matter. Every portion of matter can be conceived as like a garden full of plants, and like a pond full of fish. But every branch of plant, every member of an animal, and every drops of fluid within it is also such a garden or such a pond. And although the ground and the air which lie between the plants and the garden, and the water which is between the fish in the pond, are not themselves plant or fish, they nevertheless contain these usually so small, however, as were impreceptible to us." *(Monadology Paragraph 66-98.)*

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मनकी संख्याका इस विश्वमें कोई अन्त नहीं । फिर भी कार्यकारण सम्बन्ध विभागके सिद्धान्तानुसार हम इन्हें कुछ समुदायों तथा श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं । इनके अतिरिक्त भी विभाजनके आधार मिल सकते हैं । वशिष्ठने तीन आधारोंपर इनके तीन विभाग किये हैं । जो निम्न प्रकार हैं—
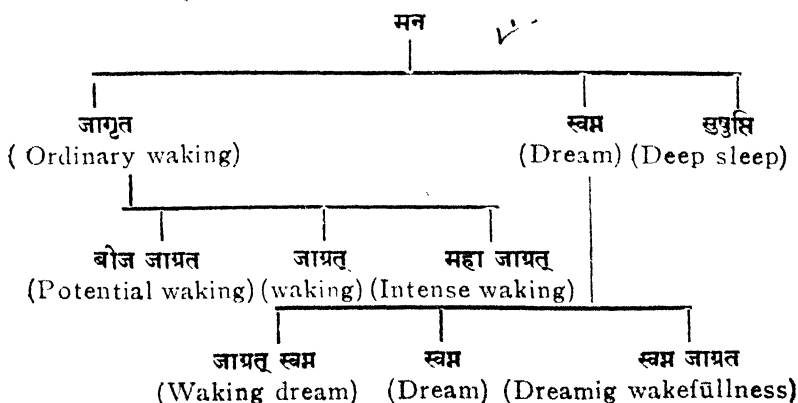
यह विभाजन और भी बुद्धिगम्य हो जाता है, जब हम इन (जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति) को मनकी भिन्न भिन्न श्रेणियोंके रूपमें समझने लगते हैं, जिसके द्वारा बाह्य जगत् (Objective world) एक स्थिर तथा पूर्णरूपसे भौतिक प्रतीत होता है। सुषुप्ति (Sleep) सम्भवतः विषयकल्पनाकी वह अवस्था है जब वह अनिश्चित तथा विभिन्न एवं अप्रतिहत वेग Contineum) के रूपमें आती है, जिसमें कोई निश्चित स्वरूप कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वप्न इसकी दूसरी अवस्थाका नाम है, जब उक्त अप्रतिहत वेगमें विभाजनका अनुभव होने लगता है, परन्तु इतनेपर भी उसका रूप बहुत सूक्ष्म तथा अस्पष्ट होता है। इस प्रकार बाह्य जगत्के अनुभवके इन विभिन्न स्वरूपोंमें जब निश्चयता, स्थिरता, तथा भौतिकताकी प्रचण्डताका अनुभव होने लगता है, तब मनके ऐसे अनुभवकी अवस्थाको जाग्रत् कहते हैं। वशिष्टने उक्त मनकी तीनों अवस्थाओंको उनके तरतमांशसे पुनः सात विभागोंमें विभक्त किया है जैसा कि ऊपर चित्रण किया जा चुका है।

वशिष्ठका मन सम्बन्धी विचार यहीं समाप्त नहीं होता, अपितु वह एक विराट् मन (Cosmic mind) का भी वर्णन करते हैं। इस विराट् मनकी स्थापनाके बाद उपरोक्त मन भी उसी दायरेमें आ जाता है, जिसमें मनकी विभिन्न अवस्थाएँ आई हैं। अर्थात् जिस प्रकार क्षुद्र मन अपनी विभिन्न अवस्थाओंमें (सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत) बाह्य जगतका अनुभव करता है, उसी प्रकार यह विराट् मन भी ब्रह्माण्डके सभी पदार्थोंका अपनी विभिन्न अवस्थाओंमें अनुभव करता है। इस स्थापनाके आधारपर बशिष्ट इस मनका दूसरा विभाजन करते हैं। मन सात प्रकारके होते हैं। जैसे—

मन

स्वप्नजागरः संकल्पजागरः केवलजागरः चिरजागरः घनजागरः जाग्रतस्वप्नः क्षीणजागरः

इसके अतिरिक्त भी अनेक भेद मनके वशिष्ठने किये हैं जो विभिन्न दृष्टिकोणों से हैं। परन्तु ब्रह्माण्डके अन्दरके ये सभी मनके प्रकार वशिष्ठके अनुसार उस विराट् मन या ब्रह्मसे उसी प्रकार निकले हुए हैं जिसप्रकार क्षुद्र मनके स्वप्नावस्थामें संसारके सभी प्राणी निकले हुए प्रतीत होते हैं।

सर्वा एताः समायान्ति ब्रह्मणो भूतजातयः।
किंचित् प्रचलिताः भोगात् पयोराशेरिवोर्मयः॥
स्वतेजः स्पन्दिताभोगाद्दीपादिव मरीचयः।
स्वमरीचिबलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव॥

अर्थात्—सब प्रकारके मन उस विराट मन या ब्रह्मसे ही निकले हुए हैं वस्तुतः सभी पदार्थ उस विराट मन (ब्रह्म) से ही आविर्भूत होते हैं—जिस प्रकार समुद्रसे लहरें, जलते दीपसे स्फुलिङ्ग, सूर्यसे किरणें, चन्द्रसे चन्द्रिका, वृक्षसे पुष्प स्वर्णसे आभूषण, जलप्रपातसे जलधारा और अनन्ताकाशसे विशिष्टाकाश इत्यादि निकलते हैं। यही विचार फौसेटके "डिवाइन इमैजिनिङ्ग" नामक पुस्तकमें भी उपलब्ध होता है। "Finite sentiments while enjoying truly free creative initiative and being, accordingly relatively independent presuppose, nevertheless, the universal concering (Brahma of Vashishtha) as their source.

उत्पत्ति और विनाश तथा विनाश और लयका जो नियम विराट् मन(ब्रह्म) से लेकर मन तक लागू होता है, वही नियम ब्रह्मसे कीट तक लागू होता है— "यथा सम्पद्यते ब्रह्मा कीटः सम्पद्यते तथा। आब्रह्माकीट संवित्तेः सम्यक्संवेद-नात्क्षयः॥" अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म (विराट् मन) से ब्रह्मा (मन) निकलता है, उसी प्रकार ब्रह्मसे कीट भी उत्पन्न होते हैं। सभी जीव (मन) (ब्रह्मासे लेकर कीट तक) उस परम सत्य (Absolute Reality) में सम्यक् ज्ञानके द्वारा लीन हो जाते हैं। योग वाशिष्ठका अध्ययन इस विचारको सुदृढ़ कर देता है कि वशिष्ठ पूर्ण मनोवैज्ञानिक (Pan-psychist) थे। उनका विश्वास था कि विश्वके सभी पदार्थोंकी उत्पत्तिमें सूक्ष्म मन (Suble mird) का हाथ रहता है।

"एतच्चित्तशरीरत्वं विद्धि सर्वगतोदयम्।
वसति त्रसरेण्वन्तर्ध्रीयते गगनोदरे।
लीयतेऽङ्कुर कोशेषु रसीभवति पल्लवे।
उल्लसन्त्यम्बु वीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे॥
प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयावतिष्ठते।
यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा॥
तथान्तः संस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना॥"

अर्थात्—विश्वके सभी पदार्थोंका चित्त शरीर (mental aspect) होता है। यहाँ तक कि त्रसरेणु (धूलके कण) के अन्दर भी मन है, जिससे यह सारा गगन भरा पड़ा है। यह प्रत्येक अङ्कुरकोशमें अङ्कुरित होता है और कोमल पत्तोंमें रसका रूप धारण करता है। जलतरङ्गोंमें यह उल्लसित होता है और पहाड़ोंपर नाचता है। बूंद हो कर बरसता है और एक पत्थरके टुकड़ेमें छिपा

रहता है। जिस प्रकार बीजके अन्दर पुष्प आदि और मिट्टीके ढेरके अन्दर घट आदि अविकसितावस्थामें (Inert) रहते हैं, उसी प्रकार यह मन संसारके सभी पदार्थोंमें स्थित रहता है। ये सभी उद्धरण वशिष्ठके पूर्ण मनोवैज्ञानिक (Pan-Psychist) होनेके स्पष्ट प्रमाण हैं। फौसेटके World as imagination का निम्नवर्णन ठीक वशिष्ठके उक्त वर्णनसे मिलता है, जैसे—"Nature is aglow wilt psychical life in every quarter and cranny. It is of one tissue welt the psychical reality noticed in ourselvies" (Page 162) रायसीने भी अपने "The world and the Individual" नामक पुस्तकमें ऐसा ही विचार प्रकट किया है। वशिष्ठ तो यहाँ तक कहते हैं कि हम अभ्याससे और आत्मासे भी साक्षात्कार कर सकते हैं।

Imagination (कल्पना)—कल्पना उस मानसिक शक्तिका नाम है, जिसके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये अनुभवका ज्ञान हमें उस अनुभवकी अनुपस्थितिमें होता है। विलियम जेम्सके अनुसार जब हमें कोई भी इन्द्रियज्ञान होता है तो हमारे मस्तिष्ककी नाड़ियां इस प्रकार प्रभावित हो जाती हैं कि बाह्यपदार्थके अभावमें हम उस पदार्थका चिह्न देखने लगते हैं। हम अपने संस्कारोंके आधारपर ही पुराने अनुभवको मानस पटलपर चित्रित कर सकते हैं। काल्पनिक पदार्थ कई प्रकारके होते हैं। जिस इन्द्रिय द्वारा किसी प्रत्यक्ष ज्ञानका अनुभव होता है, उसी इन्द्रियज्ञानसे सम्बन्धित कल्पना-पदार्थ भी होता है। किन्तु साधारणतः हमारी कल्पनामें अनेक इन्द्रियज्ञानका सम्मिश्रण होता है। जो हम देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं, और सूंघते हैं अथवा जो ज्ञान हम किसी पदार्थको इधर उधर हिला-डुलाकर, उठाकर या छूकर प्राप्त करते हैं, वह सब ज्ञान एक दूसरेमें सम्मिश्रित होकर ही पदार्थज्ञान होता है। जब हम इस प्रकारके पदार्थज्ञानकी कल्पना करते हैं तो उस कल्पनामें सब प्रकारका ज्ञान सम्मिश्रित रहता है, किन्तु किसी विशेष प्रकारके ज्ञानकी प्रधानता रहती है। कभी-कभी यह भी होता है कि हमें किसी विशेष पदार्थकी एक प्रकारकी कल्पना तो होती है किन्तु दूसरे प्रकारकी नहीं। यदि हमारी किसी इन्द्रियमें दोष हो तो हम उस इन्द्रियके द्वारा होनेवाले पदार्थ ज्ञानको कल्पना न कर सकेंगे। अन्धे को किसी पदार्थके रूप रंगकी कल्पना तथा बहरेको शब्दकी कल्पना नहीं हो सकती।

मनोविकाशमें कल्पनाका महत्व—प्रत्येक व्यक्तिके मानसिक विकासके लिये कल्पनाकी वृद्धि होना आवश्यक है। मनुष्यों और पशुओंमें एक मुख्य भेद यह है कि पशुओंमें कल्पनाशक्तिका प्रायः अभाव होता है। पशु अपने भूतकालके अनुभवोंको थोड़ा बहुत अवश्य अपने मानसपटलपर चित्रित कर सकते

हैं, किन्तु उनका चित्रण अस्पष्ट होता है। इस कारण उनके जीवनमें इस कल्पनाका अधिक उपयोग नहीं होता। पशु भविष्यमें होनेवाली घटनाओंके विषयमें कुछ सोच ही नहीं सकता। भावी घटनाओंके बारेमें सोचनेके लिये कल्पनाशक्तिकी अभिवृद्धिकी आवश्यकता होती है। जो अपने पुराने अनुभवोंका भलीभांति उपयोग करना चाहता है, उसे मानसपटलपर उन्हें चित्रण करना पड़ता है, तभी उन अनुभवोंके आधारपर नई सृष्टि कर सकता है। मनुष्यकी कल्पनाशक्ति उसको नई बातके सीखनेमें अधिक सहायता देती है। पशुओंका सीखना प्रयत्न और भूलके तरीकेसे ही होता है। पशुको यदि किसी नई परिस्थितिमें रखा जाय तो वह यह नहीं विचार कर सकता कि उसे क्या करना चाहिये। वह जब एक अन्धेके समान टटोल-टटोल कर अपना मार्ग नहीं खोज लेता, तबतक उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। किन्तु मनुष्य अपनी कल्पनाके आधारपर किसी क्रियाके भावी परिणामोंको चित्रित कर लेता है। इस तरह जिन क्रियाओंके परिणाम उसे हानिकर प्रतीत होते हैं, उन्हें वह नहीं करता। मनुष्य प्रयत्न और भूलोंके तरीकेसे ही नहीं सीखता अपितु विचार और कल्पना के द्वारा भी काम करना सीखता है और उन्हींके आधारपर उसे अधिक सफलताएं प्राप्त होती हैं। कल्पनाके आधारपर मनुष्य वर्षोंके बाद होनेवाली भावी घटनाओंका निश्चय कर लेता है। इञ्जिनियर बड़े बड़े मकान बनानेके पहले उन्हें अपनी कल्पनाके द्वारा मानसतटपर चित्रित कर लेता है। सामाजिक और राजनैतिक नेता कार्यके सुदूरभावी परिणामको पहलेसे ही कल्पनाके द्वारा चित्रित कर लेते हैं। वास्तवमें तीव्र कल्पनावाले सामाजिक तथा राजनैतिक नेताको ही हम दूरदर्शी नेता कहते हैं।

कल्पनाके आधारपर ही विचारोंका विकास होता है। जब मनुष्यमें पुराने अनुभवोंको कल्पना द्वारा मनमें चित्रित करनेकी शक्ति आ जाती है, तो उसमें उस अनुभवके मर्मको समझनेकी शक्तिका भी विकास होता है अर्थात् वह तर्क करने लगता है और पुराने अनुभवके आधारपर जीवनके कुछ मौलिक सिद्धान्त बनाता है। ये सिद्धान्त उसके दूसरे कार्योंको सफल बनानेमें सहायक होते हैं। जब २ हमारी चेतनाका विकास होता है तब-तब हमारे मनमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएं उठती रहती हैं। कल्पनाका आधार अतीत अनुभव होता है पर उसका लक्ष्य भविष्यकी सृष्टिका निर्माण होता है। कल्पना और स्मृतिमें यह भेद है कि जहाँ स्मृति पुराने अनुभवोंको ही मनमें दुहराती है, वहां कल्पना एक नवसृष्टिका निर्माण करती है। यदि इस निर्णय या रचनाका कोई लक्ष्य न हो तो अवश्य ही वह निर्मूल होगी। यह वास्तवमें हमारी मानसिक क्रियाएं लक्ष्यहीन नहीं होती कल्पनाका लक्ष्य या तो कल्पना-जगत्की सृष्टि ही करना

होता है अथवा कल्पनामें सृजन किये हुए जगत्‌को वास्तविकतामें परिणत करना होता है। अधिकतर हमारी कल्पना दूसरे ही प्रकारकी होती है। हां कुछ ऐसी कल्पनाएं अवश्य होती हैं, जिनका लक्ष्य वास्तविकतामें परिणत होनेपर भी उनको परिणत करनेका प्रयत्न नहीं किया जाता। पर इतना तो निश्चित है कि हम वास्तविक जगतमें ऐसी सृष्टि नहीं कर सकते, जिसकी हमने कल्पना न की हो।

श्रीमती बहन निवेदिताका कथन है कि जिस व्यक्तिने कल्पनामें महल नहीं बनाए, उसे वास्तविक महलकी उपलब्धि नहीं होती। इसी प्रकार एक विचारवान् अंग्रेज लेखकका कथन है कि वायुयानकी सृष्टि हमारे स्वप्नमें उड़नेके अनुभव से हुई। जब स्वप्नमें अनुभव किये हुए पदार्थमें इतनी शक्ति है कि वे वास्तविकतामें परिणत हो सकते हैं तो काल्पनिक पदार्थोंके वास्तविकतामें अवतीर्ण हो सकनेमें सन्देह ही क्यों होना चाहिये? कल्पनाकी क्रियाओंका एक प्राकृतिक नियम है कि साधारणतः मनुष्य निरर्थक कल्पना नहीं करता अर्थात् उसे इस प्रकारकी कल्पना प्रायः नहीं आती जो कि उसकी पहुंचके बिल्कुल ही बाहर हो। एक घसियारा यह नहीं कल्पना करता कि वह राजा बन जायगा। पर जिस राजाका राज्य छीन लिया जाता है, वह अपने राज्यको पुनः वापिस आ जानेकी सदा कल्पना करता है। जिस विद्यार्थीमें क्लासमें प्रथम होनेकी योग्यता नहीं होती, वह यह कल्पना नहीं करता कि मैं क्लासमें सर्वप्रथम आऊँगा।

जो कल्पना बहुत ही स्पष्ट, रोचक तथा स्वभावानुकूल होती है, वह मनुष्यको तदनुकूल कार्यमें भी लगा देती है। हमारे कितने कार्य ऐसे होते हैं कि जो विचारोंकी दृढ़ताके कारण अपने आप ही होने लगते हैं। वास्तवमें हर एक कल्पनामें कार्यान्वित होनेकी शक्ति निहित रहती है। उसकी यह शक्ति दूसरी भावनाओंके कारण कार्यान्वित होने नहीं पाती। यदि तत्परतासे कोई कल्पना हम अपने मनमें लावें तो कालान्तरमें देखेंगे कि हम वास्तविक जगतमें उसी प्रकार आचरण करने लगे हैं। हमारी कल्पना वास्तविकतामें परिणत हो जाती है। मनुष्यका भविष्य तथा उसकी महानता उसकी कल्पनाओंके अध्ययनसे ही जाना जाता है।

जिस प्रकार क्रियात्मक जगत्‌में कल्पनाका प्रमुख स्थान है, उसी प्रकार हमारे वास्तविक जगत्‌के ज्ञानमें भी कल्पनाकी भारी आवश्यकता है। मनोविज्ञानका कथन है कि प्रत्यक्ष ज्ञानमें नव-दशांश अनुमान होता है। हम जिन वस्तुओंको देखते हैं और उनके बारेमें हम जो धारणा करते हैं वह कल्पनाके आधार पर ही है। जिस तरह वर्तमान कालका ज्ञान भूत और भविष्यत्‌के आधारपर होता है उसी प्रकार हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान हमारी स्मृति और कल्पनाके

द्वारा ही होता है। अतएव इस कथनमें दृढ़ मनोवैज्ञानिक सत्य है, कि हम वस्तुओंको वैसा नहीं देखते हैं जैसी वे हैं वरन् जैसे हम हैं। हमारे काल्पनिक जगत् और वास्तविक जगत्में इतना सम्मिश्रण हो जाता है कि कल्पनाके भागको वास्तविक अनुभवसे पृथक् करना साधारण मनुष्यके लिये असम्भव है। जिन व्यक्तियोंकी काल्पनिक शक्ति प्रबल नहीं होती वे वास्तविक जगतका ज्ञान भली-भांति नहीं प्राप्त कर सकते।

कल्पनाके प्रकार—मनोवैज्ञानिकोंने कल्पनाको निम्नलिखित रीतिसे विभिन्न प्रकारोंमें विभाजित किया है:—
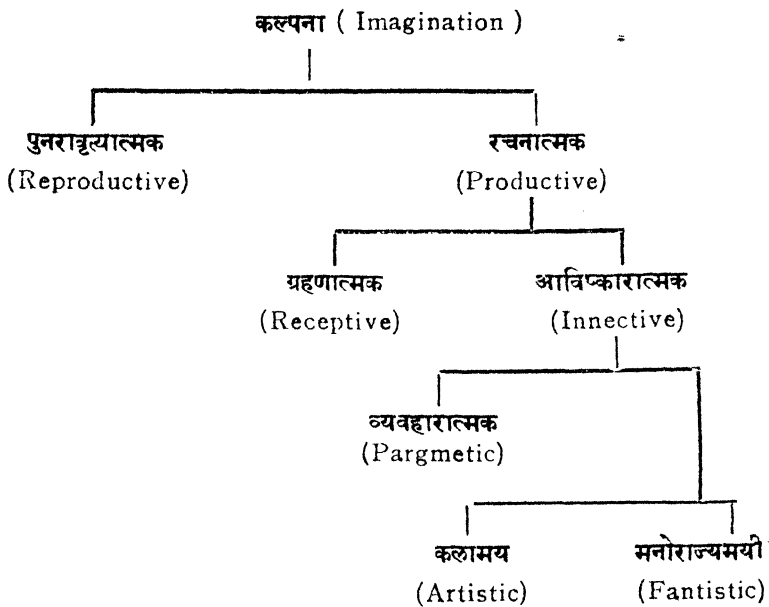
कल्पना शब्दसे हमें उस मानसिक क्रियाका बोध होता है जो प्रत्यक्ष पदार्थ-की अनुपस्थितिमें मनुष्यके मनमें हुआ करती है। अर्थात् किसीभी अनुभवका पुनः मानसपटलपर चित्रित होना कल्पना कहा जाता है। कल्पना शब्दसे बृहत् अर्थमें स्मृति और रचनात्मक कल्पना दोनोंका समावेश होता है, किन्तु संकुचित अर्थमें कल्पना शब्दसे उसी क्रियाका बोध होता है, जो पुराने अनुभवके आधारपर नवीन मानसिक रचनाके रूपमें की जाती है। ऊपर सभी प्रकारकी कल्पनाओंका संकेत लिया गया है।

कल्पना और स्वास्थ्य—कल्पना और स्वास्थ्यका घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ मनुष्यकी कल्पनाएं सुन्दर और आनन्दमयी होती हैं, अस्वस्थ मनुष्यकी कल्पनाएं वीभत्स और हृदयको पीड़ित करने वाली होती हैं। प्रत्येक पाठकको

.. कि अभद्र कल्पनाएं मनको घेरे रहती हैं। जब शरीर निर्बल रहता है तो मन भी निर्बल हो जाता है और जब मन दूषित होता है तो शरीर भी दूषित होता है। कल्पना मनका धर्म है अतः दूषित मनसे दुष्ट कल्पनाएं होती हैं जो शरीरको भी दूषित करती रहती हैं। कभी कभी आनेवाली बीमारी पहलेसे ही मनुष्यकी कल्पनामें आने लगती है। फिर एक बार जब बुरी कल्पना मनमें स्थान पा लेती है, तो उसको दूर करना असम्भव-सा होजाता है। इस तरह कल्पना वास्तविकतामें परिणत हो जाता है। इस प्रकार शरीरकी अस्वस्थताका प्रभाव मनपर और मनकी अस्वस्थताका प्रभाव शरीरपर पड़ता रहता है। यदि मनुष्यकी कल्पनाएं सुनियन्त्रित रहें तो वह सहस्रों शारीरिक रोगोंसे सरलतासे मुक्त हो जाय। उसके समीप रोग आवें ही नहीं। कितने लोग अपनी दुर्भावनाओंके कारण अनेक भयंकर रोगोंके शिकार बन जाते हैं और समयसे पूर्व अपनी जीवन यात्राको समाप्त कर देते हैं। अतएव सुन्दर कल्पनाओंका अभ्यास डालना जीवन प्रदान करना है। इस प्रकारकी कल्पनाओंसे शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षा होती है।

स्मृति का मनोविकासमें स्थान—मानवका जीवन विकास दो प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे होता है। एक तो आत्मप्रकाशनकी प्रवृत्तिसे और दूसरे अपने अनुभवोंको सञ्चित करनेकी प्रवृत्तिसे। मानवका पुराना अनुभव स्मृतिके रूपमें सञ्चित होता है। इस सञ्चित अनुभवके आधारपर ही वह संसारमें उन्नति करता है। मनुष्यके पुराने अनुभव आत्मप्रकाशनमें अनेक प्रकारसे सहायता पहुंचाते हैं। जो मनुष्य जितना ही अपनी स्मृतिसे लाभ उठा सकता है, वह उतना ही उन्नतिशील होता है। स्मृति ही कल्पना और विचारका आधार होती है। मनुष्य विचारशील प्राणी कहा गया है, किन्तु स्मृतिके अभावमें उसका विचार करना असम्भव है।

स्मृति का आधार—जब हम किसी पदार्थका अनुभव करते हैं तो वह अनुभव संस्कारके रूपमें हमारे मस्तिष्कमें स्थिर हो जाता है। इन संस्कारोंके आधार पर ही हम अनुभवोंके चित्र मानसपटलपर खींच सकते हैं। एक प्रकारसे देखा जाय तो प्रत्येक प्राणीमें कुछ न कुछ स्मरण करनेकी शक्ति रहती है। किन्तु मनुष्यमें यह विशेषता है कि उसकी स्मरणशक्ति दूसरे प्राणियोंसे बढ़ी-चढ़ी और स्पष्ट होती है। इसका एक कारण यह है कि मनुष्यकी कल्पना शक्ति प्रवीण होती है और वह अपनी कल्पनाको शब्दों द्वारा स्थिर कर सकता है। मनुष्यमें भाषाज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति दूसरे प्राणीसे अधिक है, जिसके कारण उसका सब प्रकारका ज्ञान बढ़ जाता है। किसी अनुभवके

स्मरण करनेके लिये हमें तीन बातोंकी आवश्यकता होती है—(१) अनुभवका मनमें स्थिर रहना (Retention) (२), उसका पुनः मानसपटलपर चित्रित होना (Recall) और (३) उसका अपने पुराने अनुभवके रूपमें पहचानमें आना (Recognition), अर्थात् धारणा, पुनश्चेतना और पहचान। यहां हम स्मृतिके इन्हीं तीन अङ्गोंपर संक्षेपमें प्रकाश डालनेकी चेष्टा करेंगे।

धारणा (Retention)—अनेक मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि मनुष्य की धारणा शक्ति उसकी मस्तिष्ककी बनावट पर निर्भर है। जिस प्रकार मनुष्योंके मस्तिककी बनावटमें भेद होता है, उसी प्रकार उनकी धारणा शक्तिमें भी भेद होता है। ये भेद जन्मसे ही होते हैं। इस जन्मजात धारणाशक्तिका बढ़ाया जाना सम्भव नहीं। मनुष्योंके मस्तिष्कमें ऐसे भेद भी हैं जिनके कारण वे किसी अनुभवको देर तक स्मरण किये रहते हैं अथवा तुरन्त भूल जाते हैं। कोई-कोई व्यक्ति किसी नई बातको शीघ्र याद कर लेते हैं किन्तु वे उतनी ही जल्दी भूल भी जाते हैं। और कई याद करनेमें देर लगाते हैं पर उनका याद किया हुआ विषय उनकी स्मृतिमें बहुत दिनोंतक बना रहता है, किसी भी संस्कारका स्मृतिमें स्थिर रहना निम्न चार बातोंपर निर्भर करता है (१) समीपता (Recency), (२) सघनता (Frequency), (३) रोचकता (Interest) और (४) सम्बन्ध (Association)।

पुनश्चेतना (Recall)—हमारी स्मृतिपर जो संस्कार अङ्कित हो जाते हैं उनका फिर चैतन्य मनमें आना पुनश्चेतना कहलाता है। वास्तवमें स्मृतिका यही प्रधान अङ्ग है। अतएव प्रायः इसे स्मरण भी कहा जाता है। संस्कारों के पुनश्चेतन होनेकी शक्ति धारणाशक्ति ही पर निर्भर है। जिस मनुष्यकी धारणाशक्ति जितनी बढ़ी चढ़ी होती है, उतना ही वह पुरानी बातको स्मरणमें ला सकता है। जिस संस्कारको हम एक बार अभ्यास करके, उसे कई दूसरे संस्कारोंसे सम्बद्ध करके मनमें दृढ़ कर लेते हैं, वही हमें शीघ्रताके साथ याद आते हैं। किन्तु मनमें स्थित सब संस्कारोंका पुनश्चेतन होना न सम्भव ही है और न आवश्यक ही है। मनकी कोई भी शक्ति अभ्याससे बढ़ती और घटती है। संस्कारोंकी पुनश्चेतना उनकी उत्तेजनापर निर्भर है। जो संस्कार जितना ही दूसरे संस्कारोंसे अधिक सम्बद्ध रहते हैं वे उतना ही सरलतासे उत्तेजित किये जा सकते हैं, स्मरण करते समय एक अनुभव यदि दूसरे अनुभवसे सम्बद्ध होता है, तो वह दूसरे अनुभवकी याद अपने आप दिला देता है। इसी तरह यह दूसरा अनुभव तीसरेको ले आता है और यह क्रम आगे चलता जाता है। हमें यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि यदि किसी प्रकार इन अनुभवोंका आपसमें सम्बन्ध टूट जाय तो फिर एक अनुभव दूसरेको याद नहीं करता। सम्बन्धोंको

स्थिर रखनेमें आत्मविश्वास बड़ा काम करता है। स्मरण करनेके लिये निर्विघ्नता आवश्यक है। संशय एक प्रकारका विघ्न है। जिस प्रकार संशय हमारी दूसरी शक्तियोंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार वह स्मरणशक्तिको भी नष्ट कर देता है।

पहचान (Recognition)—यह स्मृतिका तीसरा अङ्ग है। इसका आधार भी पुराने संस्कारोंका मनमें स्थिर रहना है। जो व्यक्ति हमारा दो तीन बारका देखा हुआ रहता है, उसे हम तुरन्त पहचान लेते हैं कि वह हमारा देखा हुआ व्यक्ति है। शिक्षक लोग साधारणतः कहा करते हैं कि मुझे पुराने विद्यार्थियोंके नाम स्मरण नहीं पर उन्हें देखने पर पहचान सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हमारी पहचाननेकी शक्ति स्मरणशक्तिसे कितनी अधिक है। जैसे डेढ़ वर्षके बालककी प्रयोग शब्दावली (Application Vocubulary) बीस शब्दोंके लगभग होती है, किन्तु उसकी बोध शब्दावली (Recognition Vocubulary) डेढ़ सौ शब्दोंके लगभग होती है। जैसे-जैसे मनुष्यकी पहचाननेकी शक्ति, जो अनुभवपर निर्भर है, बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसकी समझ में विकास होता जाता है। पहचाननेकी शक्ति और स्मरणशक्तिमें पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करनेकी चेष्टा कई मनोवैज्ञानिकोंने की है। दोनों ही स्मृतिके अङ्ग हैं। किन्तु पहचाननेमें पुराने संस्कारोंको उत्तेजित करनेवाला कोई प्रत्यक्ष पदार्थ होता है। स्मरणमें इस प्रकारकी सुविधा नहीं होती। अतएव किसी वस्तुका पहचानना उसके स्मरण करनेकी अपेक्षा अधिक सरल है। परन्तु साधारणतः जिस व्यक्तिकी जितनी अधिक पहचाननेकी शक्ति होती है, उतनी ही अधिक उसमें पुराने अनुभवोंको पूर्णतया स्मरण करनेकी भी शक्ति होती है। प्रयोगों द्वारा पता चला है कि किसी भी व्यक्तिको दोनों प्रकारकी योग्यताओंमें ८२ प्र० श० सहयोग सम्बन्ध (Coefficient) होता है।

ध्यान (Attention)—ज्ञानोत्पादनका सबसे महत्वका साधन ध्यान है। वास्तवमें ध्यान और चेतनाका क्षेत्र एक ही है, अतएव जो-जो कार्य चेतना करती है वे सब ध्यानके ही कार्य हैं। इस दृष्टिसे देखनेसे हम ध्यानको मनुष्यकी सब प्रकारकी क्रियाओं, संवेगों और ज्ञानका नियन्त्रक पावेंगे।

ध्यानका स्वरूप—ध्यान चित्तकी एकाग्रताको कहते हैं। जब हम किसी वस्तुके ऊपर ध्यान देते हैं, तब उससे सम्बन्ध न रखनेवाली दूसरी वस्तुओंसे उदासीन हो जाते हैं। वे हमारी चेतनाके भीतर नहीं रहतीं। जब हम किसी जगह बैठे रहते हैं तो अनेक प्रकारकी सम्वेदनाएं हमारी इन्द्रियोंको उत्तेजित करती हैं। इन उत्तेजक विषयोंमें वे सभी हमारे ध्यानको आकृष्ट नहीं करतीं। उन उत्तेजक पदार्थोंमेंसे किसी एकको हमारी चेतना चुन लेती है, जिसपर चित्त

की एकाग्रता हो जाती है। यह चित्तकी एकाग्रता उस पदार्थपर थोड़ी देरतक रहती है फिर उस पदार्थसे हटकर दूसरेपर चली जाती है। हमारा मन बड़ा चञ्चल है। जिस प्रकार मधुमक्खी मधुके लिये एक फूलसे दूसरे फूलपर हरदम जाया करती है, उसी प्रकार हमारा मन एक विषयसे दूसरे विषयपर हटता रहता है। जो मनुष्य जितनी देरतक एक वस्तुपर ध्यान लगा सकता है, वह उतना ही अपने विचारको विकसित कर सकता है और संसारके अनेक महत्वपूर्ण कार्य करनेमें सफल हो सकता है।

हमने ध्यानके विषयमें यह कहा कि उसका विषय हरदम बदलता रहता है, इससे यह न समझना चाहिये कि वह एक विषयपर देरतक ठहर ही नहीं सकता। यदि ऐसा हो तो विचारों और क्रियाओंका विकास ही असम्भव हो जाय। इसलिये किसी विषय या वस्तुपर ध्यानका टिकना उस विषय या वस्तुकी उपादेयतापर निर्भर है। जैसे घड़ीके टिक टिक शब्दपर हमारा ध्यान नहीं टिकता पर किसीके चरित्रपर तथा किसी देशकी उपज या वृद्धिपर टिकता है। वास्तवमें हमारे ध्यानका मुख्य कार्य अनेक कामोंमें एकता स्थापित करना है। जैसे हम किसी मनुष्यके चरित्रका विचार करते समय हम उसके भिन्न भिन्न पहलुओंपर दृष्टिपात करते हैं और उसके जीवनके सिद्धान्तों तथा उसकी क्रियाओंमें सम्बन्ध स्थापित करनेकी चेष्टा करते हैं। इस तरह हमें एक व्यक्तिके विषयमें हजारों बातें सोचनी पड़ती हैं, किन्तु ध्यानके इन हजारों विषयोंको हमारा एक लक्ष्य सूत्रीभूत करता है। ध्यानका वास्तवमें मुख्य कार्य यही अनेकतामें एकता स्थापित करना है। जो मनुष्य जितना ही इस प्रकारकी एकता स्थापित कर सकता है वह उतना ही मनस्वी कहा जा सकता है। ऐसी एकता स्थापित करनेके लिये मनुष्यको अपनी अनेक प्रवृत्तियोंको संयत करके रखना पड़ता है, मनको दूसरी ओर जानेसे रोकना पड़ता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने मनको क्षणिक प्रलोभनोंसे रोक लेता है और विवेकसे निश्चित किये हुए विषयपर उसे एकाग्र करनेकी सदा चेष्टा किया करता है।

ध्यानके प्रकार—मनोवैज्ञानिकोंने ध्यानको कई प्रकारसे विभक्त किया है:—
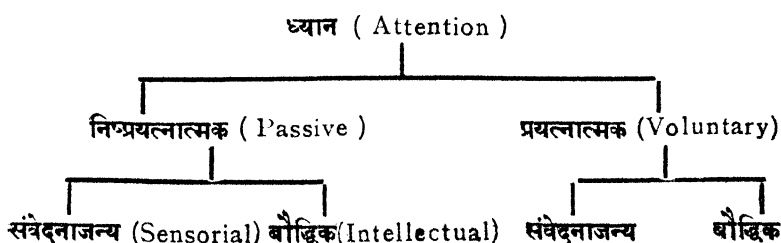
विचार (Thought)—विचार मनकी वह क्रिया है, जिसके द्वारा हम अपने पुराने अनुभवके आधारपर किसी नये निष्कर्षपर पहुंचते हैं। विचारके लिये दो बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। (१) प्रत्यय (Concept) तथा सम्बन्ध ज्ञान (Association of Idias) की वृद्धि और (२) रचनात्मक मानसिक क्रिया (Constructive mental activity)। पुराने अनुभवका मनमें दुहराया जाना ही विचार नहीं है। यदि विचारका लक्ष्य पुराने अनुभवको दुहराया जाना ही रहे तो उसका कार्य स्मृतिसे भिन्न नहीं होगा। विचारका लक्ष्य नई बातोंको सोचना होता है। मनुष्य जब किसी नई परिस्थितिमें पड़ जाता है तो अपनी समस्याको सुलझानेके लिये पुराने अनुभवको काममें लाता है किन्तु उसके विचार करनेका मुख्य उद्देश्य इस नई परिस्थितिमें अपने आपको सफल बनाना रहता है। इसके लिये नये ज्ञानकी आवश्यकता होती है। विचार के द्वारा ही नया ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रत्ययन (Conception) के स्वरूप—प्रत्यय ज्ञानके आविर्भावके लिये अनुभवमें आनेवाले पदार्थोंके कुछ गुणोंको दूसरे गुणोंसे मिलान करना तथा अलग करना आवश्यक है। अर्थात् अपने पुराने अनुभवके आधारपर नये अनुभवमें आये हुए पदार्थका नामकरण विश्लेषण (Analysis) के द्वारा तथा मिलान के द्वारा (Synthesis) मनुष्य करता है। इस प्रकार अनुभूत पदार्थोंके किस गुणको प्रत्ययके आविष्कारमें मनुष्य प्रधानता देगा, यह उसके अनुभव तथा उसकी आवश्यकता पर निर्भर है। यदि उसके अनुभवमें नारंगी तथा बेर इतने अधिक नहीं आये कि वह उनकी विशेषतापर ध्यान दे और यदि उसका काम बेर कहनेसे चल जाता है तो उसे नारंगी प्रत्यय सीखनेकी न तो सामग्री है न आवश्यकता। जैसे एक बालक नारंगी और बेरको देखकर उसके रंग और गोलाईका ध्यान कर दोनोंका एक ही नाम दे देता है, तो इससे उसके अनुभवके विश्लेषण करनेकी शक्ति तथा अनेक अनुभवोंमें सामान्य बात खोज सकनेकी शक्ति प्रदर्शित होती है। अनुभवका विश्लेषण करना और उसे अपनी आवश्यकताके अनुसार सम्बद्ध करना विचारका प्रधान कार्य है, जो विचार विकासकी सब आवश्यकताओंमें पाया जाता है। प्रत्ययन (Conception) की क्रियामें यह स्पष्टतः देखा जाता है।

प्रत्ययके अभावमें किसी वस्तुका वास्तवमें ज्ञान हो ही नहीं सकता। इन्द्रियगोचर पदार्थ सम्वेदनामात्र (Sensation) रह जाता है तथा प्रत्यक्ष पदार्थ के अभावमें उसके विषयमें सोचा नहीं जा सकता। एक प्रत्यय अनेक वस्तुओं को संकेत कर सकता है। इस ज्ञानके होते ही मनुष्यकी संसारमें व्यवहार करनेकी शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है, कि वह अब परिस्थियोंका दास न

रहकर उनका स्वामी बननेकी चेष्टा करने लगता है। मनुष्य और पशुमें यदि हम एकमात्र भेद करनेवाला गुण देखना चाहें तो वह मनुष्यमें प्रत्यय-ज्ञानकी उपस्थिति और पशुओंमें उसका अभाव है। पशुओंमें अपने पुराने अनुभवके विषयमें विचारनेकी शक्ति नहीं होती। उनका ज्ञान दृष्टिगोचर विषयतक ही सीमित रहता है। वे प्रत्येक अनुभवके विषयको अलग अलग देखते हैं। उनमें उनके सामान्य गुणोंको जाननेकी शक्ति इतनी विकसित नहीं होती कि वे प्रत्यक्ष वस्तुओंका वर्गीकरण (Classification) कर सकें। इस वर्गीकरणके लिये भाषा-ज्ञानकी आवश्यकता है। पशुओंकी भाषा निरर्थक भाषाके समान होती है। उससे वे अपने सुख-दुखोंको अवश्य प्रकट कर लेते हैं पर उससे उनकी समझमें कोई सहायता नहीं होती। बालकोंकी भाषा भी प्रारम्भमें पशुओंके समान ही निरर्थक होती है, पर उनको उस निरर्थक भाषासे भी समझमें सहायता मिलती है। इसीलिये वे अपने 'चूचू' आदि अस्पष्ट भाषाओंको शनैः शनैः किसी वस्तु विशेषके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसका ज्ञान करते हैं, जिससे उसके मनमें प्रत्यय ज्ञानका आविर्भाव होता है। जैसे जैसे बालकके भाषा-ज्ञानकी वृद्धि होती है, उसके प्रत्यय-ज्ञानकी भी वृद्धि होती है। वह संसारके अनेक पदार्थोंके सामान्य गुणों और भेदोंको समझने लगता है। इस प्रकार बाल्यकालसे लेकर मनुष्य जन्म भर अपने प्रत्यय-ज्ञानकी वृद्धि करता रहता है। मनुष्यका भाषा-ज्ञान उसके प्रत्यय-ज्ञानकी वृद्धिका सूचक है।

सम्बन्ध-ज्ञान और विशेषण-ज्ञान—मानवके विचार विकासकी तीसरी अवस्था सम्बन्ध और विशेषण-ज्ञानकी है। इस अवस्थाका श्रीगणेश बाल्या-वस्थामें ४ और ५ वर्षके बीचमें होता है। इस अवस्थामें पहली अवस्थाओंका भी कार्य होता है अर्थात् बालकका वस्तु-ज्ञान और क्रिया-ज्ञान भी बढ़ता है। बालकके इस विचार विकासकी अवस्था पहचाननेके लिये हम कई प्रकारकी परीक्षा कर सकते हैं। जैसे यदि बालकको कोई चित्र दिखावें तो वह वस्तु-ज्ञानकी अवस्थामें वस्तुका ही नाम लेगा। पर क्रिया-ज्ञानकी अवस्थामें उनकी क्रियाओंको भी बता देगा। इसी प्रकार तीसरी अवस्थामें भी वह वस्तुओंके आपसके सम्बन्धको तथा उनके गुणोंको भी बता देगा। इस ज्ञानके साथ साथ उसकी भाषामें भी परिवर्तन पाया जायगा। वस्तु-ज्ञानकी अवस्थामें भी उसका शब्द-भण्डार संकुचित रहता है। दूसरी अवस्थामें उसकी वृद्धि हो जाती है। क्रियापद उसकी भाषामें आ जाते हैं। सम्बन्ध-ज्ञानकी अवस्था प्राप्त होते ही उक्त दोनों प्रकारके शब्दोंकी वृद्धि तो होती ही है, साथ ही साथ सम्बन्ध-सूचक और विशेषण-सूचक शब्द भी उसकी भाषामें आ जाते हैं। उसकी स्मृतिकी परीक्षा करके भी हम पता लगा सकते हैं कि उसके विचारमें कितना

विकास हुआ है। ज्यों-ज्यों उसके विचारका विकास होता जाता है, वह वस्तुओंके विविध पहलुओंको समझने लगता है और उसके गुण दोषका विचार करने लगता है। इस प्रकार उसको अपने निश्चय या निर्णयमें सहायता मिलती है।

मानसिक रचनात्मक क्रिया—जब मनुष्यके विचार विकासमें आलोचनात्मक निर्णय करनेकी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, तब वह अपनी आलोचनाओंके आधारपर कुछ नवीन कार्य करनेकी कल्पना करता है। वह अपने हित अहितका विचार कर अपने सुख-समृद्धिके लिये नई सृष्टिकी कल्पना करता है।

मनोविश्लेषण—वैज्ञानिकोंने मनकी तुलना समुद्रमें तैरते हुए बर्फके पहाड़ (आइसबर्ग) से की है। जिस तरह आइसबर्गका अधिकांश भाग पानीके नीचे रहता है और पानीके सतहके ऊपर रहनेवाला भाग सम्पूर्ण आइसबर्गका थोड़ा ही भाग रहता है, इसी तरह हमारे मनका अधिक हिस्सा इतना छिपा हुआ रहता है कि वह चेतन मनकी पहुंचके बाहर होता है। हमारे समस्त मनका थोड़ा ही हिस्सा चेतन मन है अधिक भाग अदृश्य तथा अव्यक्त मन है। पर यह अदृश्य मन अक्रिय नहीं है। जिस प्रकार चेतन मन सक्रिय है, उसी प्रकार अदृश्य मन भी है। वास्तवमें अदृश्य मनकी क्रियाएँ ही चेतन मनकी अधिक क्रियाओंका सञ्चालन करती हैं। इस तरह अदृश्य मन और चेतन मनमें कार्य कारणका सम्बन्ध है।

दृश्य और अदृश्य मनका सम्बन्ध नाट्यशालाकी व्यवस्थासे तुलना करके समझाया जा सकता है। जिस प्रकार किसी नाट्यशालामें होनेवाले खेलके समस्त पात्र एक साथ ही परदेके सामने नहीं आते, इसी तरह हमारे अदृश्य मनमें रहनेवाली समस्त भावनाएँ तथा वासनाएँ व्यक्त मनके समक्ष एक ही साथ नहीं आतीं। परदेके सामने होनेवाली घटनाओंका सञ्चालन परदेके भीतर से होता है, इसी तरह हमारे चेतन मनमें होनेवाली घटनाओंका सञ्चालन भी अदृश्य मनसे होता है। यहाँ पर मनके तीन भाग स्पष्ट होते हैं, जिस तरह नाट्यशालाके तीन विभाग हैं—(१) परदेके सामने आनेवाला पात्र, (२) परदेके पीछेवाला पात्र (Prompter) और (३) सूत्रधार। इसी तरह चेतन मन, अचेतन मन और नियन्ता—यों मनके तीन विभाग किये जा सकते हैं। नियन्ता ही यह निश्चय करता है कि कौन पात्र कब स्टेज पर आयेगा, उचित अनुचितका ज्ञान उसे ही रहता है। इसी तरह हमारे मनमें भी एक नियन्ता मन है, जो किसी भी इच्छाके व्यक्त चेतनामें आने या न आनेका निर्णय करता है। इन तीन भागोंकी कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकारसे अनेक वैज्ञानिकोंने की है तथा उनके भिन्न-भिन्न नाम भी दिये हैं। किसीने इन्हें चेतन (Conscious), अर्धचेतन (Sub-

conscious) या (Pre-conscious) तथा अचेतन (Unconscious) नाम दिया है, तो किसीने इन्हें अहंकार (Ego), नैतिक मन (Superego) तथा अव्यक्त मन (Id) कहा है।

अव्यक्त मनके कार्य—हम अव्यक्त मनका स्वरूप स्पष्टतः स्वप्नोंमें देखते हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञानके अनुसार स्वप्न हमारी दबी हुई वासनाओंके कार्य हैं। मनोविश्लेषण विज्ञानका यह मौलिक सिद्धान्त है कि हमारी प्रत्येक वासना चेतन मनमें आकर अपनी परितृप्तिकी चेष्टा करती है। इस प्रकार हमारी अनेक वासनाएँ जागृत अवस्थामें तृप्त हो जाती हैं। वास्तवमें मनुष्य जो संसारके अनेक व्यवहारोंमें लगते हैं वे इन वासनाओंकी तृप्तिके हेतु ही लगते हैं। किन्तु कितनी ही वासनाएँ ऐसी भी हैं जो हमारी जाग्रत अवस्थामें अनुकूल वातावरण प्राप्त न होनेके कारण तृप्त नहीं हो पाती अथवा जो हमारी नैतिक धारणाके प्रतिकूल होनेके कारण दमन की जाती हैं। इन वासनाओंका विनाश नहीं होता। वे किसी दूसरे प्रकारसे अपनी तृप्तिकी चेष्टा करती हैं। स्वप्न संसार इन वासनाओंका रचा हुआ होता है। स्वप्न मनकी अर्धचेतन अवस्था है। जो वासना पूर्ण चेतन अवस्थामें तृप्त नहीं हो पाती वह अर्धचेतन अवस्थामें तृप्त होनेकी चेष्टा करती है। कितने ही स्वप्नोंमें हम अपने बिछुड़े प्रयोजनोंको देखते हैं और कभी जो धन खो गया है उसे पा जाते हैं। बालकगण स्वप्नमें मिठाई खूब खाते हैं और परीक्षामें पास करते हैं। ये सब स्वप्न अवश्य ही मनकी अतृप्त अभिलाषाओंकी पूर्ति करते हैं। परन्तु हम ऐसे भी स्वप्न देखते हैं जिनका न तो अर्थ समझते हैं और न जिनका हमारे जाग्रत जीवनसे कोई सम्बन्ध जान पड़ता है। मनोविश्लेषण-विज्ञानका कथन है कि ऐसे स्वप्न भी हमारी गुप्त वासनाओंकी पूर्तिमात्र हैं। ये स्वप्न किन्हीं ऐसी वासनाओंके छिपे रूप हैं जो हमारी नैतिक बुद्धिके प्रतिकूल हैं।

प्रतिबन्धक व्यवस्था (Censor)—हमारी नैतिक बुद्धि, हमारे चेतन मन और अव्यक्त मनके बीच एक प्रतिबन्ध खड़ा कर देती है। यह एक प्रकारसे सेंसर आफिसका काम करती है। जो वासनाएँ हमारी नैतिक बुद्धिके प्रतिकूल हैं वे चेतनाके समक्ष आने ही नहीं पाती। हमारी जाग्रत अवस्थामें यह नैतिक बुद्धि सचेत रहती है और अनैतिक इच्छाओंका दमन किया करती है। पर सुप्त अवस्थामें यह नैतिक बुद्धि भी सुप्त हो जाती है और स्वप्नमें अर्धचेतन रहती है। ऐसी ही अवस्थामें अनैतिक वासनाएँ छिपे रूपसे तृप्ति पानेकी चेष्टा करती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि स्वप्न एक प्रकारसे सांकेतिक रूपसे वासनाओंकी तृप्ति पानेकी चेष्टाओंका परिणाम है। हर एक स्वप्नका कुछ न कुछ अर्थ होता है जो हमारी वासनाओंसे सम्बन्ध रखता है और

यदि हम अपने स्वप्नोंको भलीभांति समझ जांय तो अवश्य ही उनका सम्बन्ध अपनी वासनाओंसे पावेंगे। दबी हुई वासनाएँ स्वप्नावस्थामें परिवर्तित, संक्षिप्त, सम्मिश्रित और प्रभावित होकर प्रकट होती रहती हैं। स्वप्नमें वास्तविक इच्छाका जानना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि प्रकाशितस्वप्न (Menifest Dream) वास्तविक स्वप्न (Latent Dream) से कभी कभी बिलकुल भिन्न होते हैं और प्रायः जितने स्वप्न हम देखते हैं उतने स्मरण भी नहीं रह पाते, क्योंकि हमारी नैतिक बुद्धि उनकी स्मृतिका दमन करती है। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे--"एक नवयुवतीको स्वप्न हुआ कि वह स्वप्नमें सोनेके काम किये हुए जूते पहनी हुई है।" स्वप्न जब विश्लेषित किया गया तो विदित हुआ कि स्वप्न किसी गहरी आन्तरिक इच्छाका सूचक है। युवती अपने दाम्पत्य जीवनसे सुखी न थी। वह अपनी सहचरीके दाम्पत्यपर ईर्ष्या करती थी, क्योंकि उक्त सहचरीके पतिको पहले उसने अस्वीकार कर तिरस्कृत किया था। एक दिन जब वह उसके घर मेहमान बन कर गई तो देखा कि उसकी सह-चरी सुनहरे जूते पहने हुई है, इससे उसे पूर्वस्मृतिकी याद आई। वह सोचने लगी कि यदि मेरा ब्याह इसी व्यक्तिसे होता तो मैं भी आज सुनहरे जूते पहने होती। इस प्रकार आन्तरिक अभिलाषाकी पूर्ति स्वप्नमें हो गई। ऐसे अनेक दृष्टान्त लिखे जा सकते हैं।*

आयुर्वेद शास्त्रमें स्वप्नकी परिभाषा बहुत ही सुन्दर और व्यापक है, जैसे— "सर्वेन्द्रिय व्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा। विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नाना रूपं प्रपश्यति" (चरक)। अर्थात् जब सब इन्द्रियाँ क्लान्त हो कर विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं, पर मन कर्मपर होता है अर्थात् विषयोंसे निवृत्त नहीं रहता, उस समय मनके कार्य पर होनेसे, निद्रितावस्थामें भी नाना प्रकारका स्वप्न मनुष्य देखता है। और भी—"नातिप्रसुप्तःपुरुषः सफलानफलानपि। इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा" (चरक)। अर्थात् जब मनुष्यकी निद्रा गाढ़ी नहीं होती तो वह सफल तथा अफल अनेक प्रकारके स्वप्नोंको इन्द्रियेश-मनके द्वारा देखता है। मन दोषपूर्ण होनेसे स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। "मनोवहानां पूर्णत्वात् दोषैरति-बलैस्त्रिभिः। स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे" (चरक)। अर्थात् मनोवाही स्रोत जब अतिबली तीनों दोषोंसे परिपूर्ण होते हैं, तब दारुण समयमें दारुण स्वप्न मनुष्य देखता है। इन्द्रियोंका विषयोंसे निवृत्त होना और मनका निद्रितावस्थामें भी कार्यपर रहना तथा मनोवाही स्रोतोंका बलीदोषोंसे परिपूर्ण होना स्वप्नके कारणोंमें है। ऐसा उक्त श्लोकोंसे ज्ञात होता है।'

अभी मनके समझानेके लिये जलमें पड़े हुए बर्फके पहाड़ (आइसबर्ग) को उपमा दी गई है और कहा गया है कि मनका भी अधिक हिस्सा उक्त

आइसबर्गकी तरह अव्यक्त रहता है। पर वह अव्यक्त मन भी व्यक्त मनके समान ही सक्रिय है। यहाँ तक नहीं, बल्कि अव्यक्त मन व्यक्त मनका प्रोम्पटर है। निद्रितावस्थामें व्यक्त मन अपने कार्य पर, बाह्य विषयोंके सम्पर्कके अभाव से नहीं रहता परन्तु अव्यक्त मनके अन्दर जो वासनाएँ किसी भूतकालमें संचित हुई होती हैं, वे उस समय पूरी होती हैं जैसा कि पहले उदाहरणसे स्पष्ट हुआ है।

योगवाशिष्ठमें मनके एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न वृत्तियोंसे उसे असंख्य कहा है और असंख्य कहकर उनके प्रधान तीन समुदायों का वर्णन किया गया है। जैसे—जागृत मन, स्वप्न मन और सुषुप्ति मन। इनमें स्वप्न मनका कार्य उपरोक्त वर्णनमें अभिप्रेत है। आयुर्वेद मानव मन या शरीर के किसी भी क्रियाको मन तथा शरीरमें होनेवाली विकृतियोंका निर्देश कर बतलाता है, अतः उपर्युक्त श्लोकमें यह कहा गया है कि मनोवाही स्रोतोंमें दोषोंके भर जानेसे जब मनुष्यको गाढ़ी नींद नहीं होती, तब मनुष्य निद्रितावस्थामें नाना प्रकारके स्वप्नोंको देखता है। इन स्वप्नोंके अनेक कारण होते हैं। अतः कारणोंके अनुसार इनके प्रकारोंका भी वर्णन मिलता है। जैसे—स्वप्न सात प्रकारके होते हैं—"दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा। भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः॥" (चरक)। अर्थात् (१) दृष्ट स्वप्न, (२) श्रुत स्वप्न, (३)अनुभूत स्वप्न, (४) प्रार्थित स्वप्न, (५) कल्पित स्वप्न, (६)भाविक स्वप्न, (७) दोषज स्वप्न। ये सभी स्वप्न किसी कारणवश दबी हुई वासनाओंके ही परिणाम होते हैं।

अर्वाचीन मनोविज्ञानका मनो विश्लेषण भी इसी अर्थको और अन्य ढङ्गसे प्रतिपादित करता है। जैसा श्रीयुत् मायरने एक उदाहरण देकर बतलाया है कि—"एक व्यक्तिने स्वप्नमें अपने चाचाको मरते देखा, जिसकी मृत्यु बहुत पहले हो चुकी थी।" यह स्वप्न उसे अनेक बार हो जाया करता था। विश्लेषण करने पर विदित हुआ कि स्वप्न उसे उसी समय होता था जब उसे आर्थिक कष्ट होता था। चाचाकी मृत्युने उसे एक समय आर्थिक कष्टसे सामयिक छुटकारा दिया था। पर अब वह जब आर्थिक कष्टमें आता था तो अपने पिताकी मृत्युकी बात सोचता रहता था। पिताके साथ उसकी अन-बन थी और वह पितासे पृथक रहता था। यह वासना अव्यक्त मनमें होनेके कारण आर्थिक सङ्कटके अवसरपर चाचाकी मृत्युके रूपमें आ जाया करती थी। यहाँ पिताका स्थान चाचाने ग्रहण कर लिया। (आयुर्वेदका यह अनुभूत तथा प्रार्थित स्वप्न कहा जा सकता है) इस मनुष्यके अव्यक्त मनमें पिताके मरनेकी इच्छा होते हुए भी नैतिक बुद्धिके विरुद्ध होनेके कारण उसके व्यक्त मनमें नहीं

आती थी। अतएव यह इच्छा चाचाकी मृत्युरूपमें प्रकाशित हुई। यह स्वप्न का परिवर्तित रूप है।

सांकेतिक चेष्टाएँ (Automatic, Symptomatic acts)—जिस प्रकार दबी वासनाएँ स्वप्नों व रोगोंका कारण होती है, उसी तरह वे अनेक साँकेतिक चेष्टाओंका भी कारण होती हैं। होठोंका काटना, नाक सिकोड़ना, मुँह मोड़ना, दाँतसे नाखून काटना, पैर और जीभें हिलाना आदि चेष्टाएँ ऊपरी दृष्टिसे कारण रहित प्रतीत होती हैं। परन्तु ये सब शारीरिक चेष्टाओंके गुप्त कारण होते हैं। ये चेष्टाएँ अनेक दबी हुई इच्छाओंके द्योतक हैं। इनके द्वारा दबी हुई वासनाएँ सांकेतिक रूपसे तृप्त होनेको चेष्टा करती हैं। सांकेतिक चेष्टाओंकी उत्पत्ति सेक्सपीयर द्वारा वर्णित लेडी मैक-बेथकी स्वप्न चेष्टाओंसे भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। लेडी मैक-बेथ अपनी स्वप्नावस्थामें अचानक उठ बैठती थी और अपनी दासीको बुलाकर उससे पानी माँगकर हाथ धुलानेको कहती थी। उसे उस अवस्थामें अपने हाथ रक्तरञ्जित दिखाई देते थे। दासियाँ इस प्रकारकी चेष्टाओंको देख कर चकित होती थीं।

वास्तवमें लेडी मैकबेथने अपनी अन्तरात्माकी आवाजके प्रतिकूल अपने घरमें आये अतिथि राजा डङ्कनको, जो बड़ा सत्पुरुष था, मारनेके लिये अपने पतिको प्रोत्साहित किया था। अपने इस कुकर्मसे उसे बड़ी आत्मग्लानि थी और उसे वह भूल जानेकी चेष्टा करती रहती थी। इस प्रयत्नका परिणाम यह हुआ कि लेडी मैक-बेथने अपने व्यक्त मनसे तो इस पापको भुला दिया, पर वह उसके अव्यक्त मनमें वर्तमान रहा। उसे अपनी अर्धचेतनावस्थामें अपने हाथोंपर रक्तके छींटे दिखाई पड़ते थे। व्यक्त मन पापको स्वीकार नहीं करना चाहता था, वह पापकी अवाञ्छनीय स्मृतिको दबाना चाहता था, पर अव्यक्त मन उतनी ही प्रबलतासे उसे स्मरण रखनेकी चेष्टा करता था। इस अन्तर्द्वन्द्वके कारण उस महिलाकी असाधारण मानसिक दशा हो गई और उसका पाप सांकेतिक चेष्टाओंके रूपमें परिणत हो गया।

कितने ही लोग हाथ मलते रहते हैं, कितने अकारण बगलमें झाँका करते हैं, कितने सिर खुजलाते हैं और हाथ धोनेकी चेष्टाएँ अपनी जागृत अवस्थामें करते रहते हैं। लेडी मैक-बेथ जिस प्रकार अपनी स्वप्नावस्थामें सांकेतिक चेष्टाएँ करती थी, उसी प्रकार जागृत अवस्थामें कितने लोग सांकेतिक चेष्टाएँ करते रहते हैं। इन चेष्टाओंका कारण भी दबी हुई भावनाएँ हैं। इन चेष्टाओंके करते समय व्यक्तिको पता नहीं रहता कि वह कोई असाधारण चेष्टाएँ कर रहा है। वे वास्तवमें अर्धचेतन अवस्थामें ही होती है, उनका ज्ञान चेतन मनको नहीं रहता।

विस्मृति—जिस तरह वासनाएँ दबी हुई स्वप्न और सांकेतिक चेष्टाएँ उत्पन्न करती हैं, उसी तरह वे असाधारण विस्मृतिका कारण भी होती हैं। एक महिला अपने पूर्व प्रेम-भाजनके रूपको इतना भूल गई कि वह उसे पहचान भी न सकती थी। इस व्यक्तिने उस महिला को निराश कर दिया था। जिन घटनाओंसे आत्मग्लानि होती है, उन्हें हमारामन चेतनाके समक्ष आनेसे रोकता है। जिन लोगोंको हम नहीं चाहते उनका नाम भी हमें याद नहीं रहता। हम प्रायः दूसरों से उधार लिया रुपया भूल जाते हैं। उधार ली हुई किताबों का भूल जाना तो साधारण सी बात है। इसे विषयों की स्मृति वाले प्रकरणमें स्पष्ट किया गया है।

विक्षिप्तता—दबी भावना ग्रन्थियां अनेक प्रकारकी मानसिक विक्षिप्तता उत्पन्न करती हैं। स्वप्नावस्थामें चलना, बकना आदि भी मानसिक विक्षिप्तता ही है। इसका कारण भी भावना ग्रन्थियां हैं। जब किसी व्यक्तिके हृदयपर किसी घटनासे विशेष आघात पहुंचता है तो वह विक्षिप्त हो जाता है। उसके व्यक्त और अव्यक्त मनमें एकत्व नहीं रहता। विक्षिप्तता दुःखको चेतनासे अलग करनेकी चेष्टामात्र है। जब कोई मनुष्य किसी ऐसी परिस्थितिमें पड़ जाता है जिसमें उसकी आन्तरिक अभिलाषाओंकी पूर्ति को कोई सम्भावना नहीं दिखाई देती, तो वह ऐसी अवस्थामें बाह्य जगत्को भूल जाता है और अपने अन्तर्जगत् में ही विचरण करने लगता है।

रोगोंकी उत्पत्ति—जिस प्रकार दबी हुई वासनाएँ स्वप्नको उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार वह नाना प्रकारकी व्याधियां भी उत्पन्न करती हैं। डा० फ्रायड तथा अन्य मानसिक चिकित्सा-विशेषज्ञोंने मधुमेह, चर्मरोग, कुष्ट, बदहज्मी, शूल, लकवा, अपस्मार, अपतन्त्रक, और उन्माद आदि रोगोंके रोगियोंको चित्त विश्लेषण द्वारा अच्छा किया है। गत महासमरके समय कितने ही सैनिकों को पक्षाघात (लकवा) की बीमारी हो गई थी, वास्तवमें ये सैनिक युद्धके भीषण कार्य से छुटकारा चाहते थे पर वह सम्भव नहीं था। अतः उनके अव्यक्त मन ने एक रास्ता निकाला, जिससे उन्हें युद्धमें कार्य करनेके लिये कोई बाध्य नहीं कर सकता था। इसी प्रकार एक व्यक्ति अपनी स्त्री से, जिसे वह व्यभिचारिणी समझता था, बचना चाहता था, पर वह अपनी मान-मर्यादाके कारण तलाक नहीं दे सकता था। ऐसी परिस्थितिमें उसके मनमें अन्तर्द्वन्द उत्पन्न हो गया और वह अन्धा हो गया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

अव्यक्त मन और मनोविकास—चित्त विश्लेषण या मनोविश्लेषण विज्ञान का अध्ययन मनकी उलझनोंको समझनेके लिये परम आवश्यक है। इस विषयके अज्ञान से व्यक्ति-समाजका कितना अपकार हो रहा है यह सर्व विदित

है। हम नित्य-प्रति देखते हैं कि प्रत्येक घर तथा समाजमें नित्य-प्रति विग्रह की मात्रा बढ़ रही है, इनके कारणोंका मनोविश्लेषण द्वारा पता लगाया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि भिन्न २ परिस्थितियोंमें उत्पन्न मनोवेगोंको दबाने से वे अव्यक्त मनमें भावनाके रूपमें जा बैठते हैं और पुनः अनुकूल परिस्थितिको पाकर वे भावनाएँ चेतन मनके जानकारीके बिना ही भिन्न २ रूपमें प्रकट होते रहते हैं।

इसके समझनेके लिये यदि हम मनुष्यके शैशवकालका अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा। हरेक व्यक्ति अपने शैशवकालमें अनेक प्रकारके दुख और दमन को सहता है। उसकी आन्तरिक भावनाएं और इच्छाएँ विकासका मार्ग नहीं पाती। बड़े बूढ़े सदा उसके स्वाभाविक वृत्तियोंका दमन किया करते हैं। फ्रांसके रूसो नामक मनोविज्ञान वेत्ताने इस प्रकारकी चेष्टाका अनौचित्य अपनी 'एमिल' नामक पुस्तकमें भलीभांति बताया है। इसका असर पश्चिमके विद्वानों और शिक्षकों पर पर्याप्त रूपसे पड़ा है। इसलिये उनका दृष्टिकोण बालकके स्वभावकी ओर बहुत कुछ बदल गया है। आजकलके किंडर गार्टन, मान्टेसरी-शिक्षा-पद्धति तथा डाल्टन प्लैन इसीके परिणाम हैं। भारतवर्षके नेताओंका भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हो रहा है और वे बालकोंके शिक्षणार्थ अनेक प्रकारकी नई योजनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

देखा जाता है कि अभिभावक तथा शिक्षक बालकोंकी भावनाओंका आदर नहीं करते। वे यह भी नहीं जानते कि उनकी बचपनकी चेष्टाओं और इच्छाओं का बालकके जीवनके विकास में कितना महत्व है। जब बालक अनेक प्रकारकी मीठी २ खानेकी चीजें मांगता है, तो बहुधा हम उसकी इन इच्छाओंका तिरस्कार करते हैं। परिणाम यह होता है कि बालक चोरी कर अपनी उन इच्छाओं की पूर्ति करनेका प्रयत्न करता है। हम यह समझते हैं कि बालकको शैतानने काबू कर लिया है। फिर उसे दण्ड देने लगते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप बालक डर से अपनी बुरी आदतों को बाह्यरूपसे छोड़ देता है पर वास्तव में उसके चरित्रपर उसका कुछ असर नहीं होता। उसकी आदतें ज्यों की त्यों बनी रहती हैं और लुकछिपकर वह उनकी पूर्ति किया करता है। यदि कभी उसे इस पूर्तिका अवसर नहीं प्राप्त होता तो उसकी यह भावना उसके अव्यक्त मनमें बद्धमूल हो जाती है, जो आगे चलकर उसके मन पर इतना आघात पहुंचाता है कि उसे विभिन्न मनोविकार हो जाते हैं और उसके विकारका ऊहापोह हमारे लिये सदा रहस्य बना रहता है। यहां तक नहीं असंख्य बालकोंके व्यक्तित्व की उन्नति इसलिये रुक जाती है, कि उनके शिक्षक उनकी आन्तरिक भावनाओं, इच्छाओं और प्राकृतिक आवश्यकताओं को नहीं जानते। हमें ऐसे अनेक बालक दिखाई देते हैं जिनके चेहरे से बुद्धूपन टपकता है।

इसका कारण उनके प्रति लोगोंका उदासीनताका व्यवहार है। उनका पालन-पोषण प्रेमसे नहीं किया गया, उनको अनेक प्रकारके नैतिक बन्धनोंमें असमय डालनेका प्रयत्न किया गया, जिससे उनकी स्वाभाविक इच्छाओंकी पूर्ति नहीं हो पाई। इस प्रकारकी स्पष्ट घटनाओंका अनेक उल्लेख 'साइकोएनेलिसिस एण्ड एजूकेशन' नामक पुस्तकमें मिलते हैं। जैसे एक बहुत ही योग्य महिलाने अपनी आजीविका उपार्जनके लिये १८ वर्षकी उम्रमें शिक्षकका कार्य ग्रहण किया। वह अपने झगड़ोंके कारण घर छोड़कर एक रईसके तीन बालकोंकी अभिभाविका और शिक्षिका बनी। उन तीन बालकोंमें से मंझलेको शिक्षा देनेमें उसे बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। वह बालक पाठ याद करनेमें सदा पिछड़ जाता था और देखनेमें बड़ा बुद्धू मालूम होता था। परिवारमें उसका उच्च स्थान नहीं था। उसके दोनों भाई हरवक्त उसकी अपेक्षा अधिक सम्मानित होते थे। अभिभाविकाने अपनी सारी शक्ति इसी बालककी शिक्षा और सुधारमें लगाई और थोड़े ही समयमें बड़ी ही सफलता प्राप्तकी। वह लड़का उसे बहुत प्यार करने लगा और अपने सभी भाव उसके समक्ष प्रकट करनेमें वह बिलकुल नहीं हिचकता था। उसका मन पढ़ाईमें खूब लगने लगा और अन्य विद्यार्थियोंकी अपेक्षा वह अपना पाठ वह शीघ्र याद करने लगा। अब वह अपने दोनों भाईयोंसे पढ़ाईमें किसी तरह पीछे नहीं रहता था। उसके माता-पिता अब उसे खूब प्यार करने लगे। कुछ दिनोंमें ही उसका स्थान अपने कुटुम्बमें सर्व प्रथम हो गया। पर इस समय एक नई समस्या उपस्थित हो गई। अब उस अध्यापिका और बालकमें मनोमालिन्य तथा संहर्ष पैदा हो गया। कुछ दिनोंके बाद अध्यापिकाको वहांकी नौकरी छोड़नी पड़ी। कुछ दिनों बाद उस अध्यापिकाकी परीक्षा एक चित्तविश्लेषकने किया तो पता लगा कि अपने बचपनमें वह अध्यापिका भी उस बालककी तरह ही तिरस्कृत जीवन व्यतीत करती थी, इसलिये उसके अव्यक्त मनने उस बालकसे अपनी तदात्मता करली थी। उस बालकको प्यार करने तथा उसके बारेमें चिन्ता करनेका अर्थ यह था कि उसकी अन्तरात्मा संसारको कहती थी कि मेरे जीवनको सफल बनानेके लिये मुझे इस तरहसे रखना चाहिये था। ये सब भावनाएँ अव्यक्त मनकी थी। पाठिकाके व्यक्त मनको इसका कुछ भान नहीं था, अतः जब बालकको सफलता प्राप्त हो गई तो उस तादात्म्यका अन्त हो गया और वह अध्यापिका उसको प्यार न कर अब द्वेष करने लगी। उक्त उदाहरणसे यह स्पष्ट है कि उत्तम व्यक्तित्व तभी प्राप्त हो सकता है, जब मनुष्यके अव्यक्त और व्यक्त मनमें एकता उत्पन्न हो। अर्थात् मनुष्यके व्यक्त और अव्यक्त भावनाओंमें विषमता न हो। दबी हुई वासनाएँ, स्वप्न, अशान्ति, अनेक प्रकारके रोग

तथा असामाजिक प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती हैं। ये बातें अर्वाचीन मनोविज्ञान संबन्धी खोजोंसे भी विदित हुई हैं। खोज करनेसे मालूम हुआ है कि मनुष्यकी अस्वाभाविक चेष्टाएँ भावनाओंके दबानेसे उदित होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अविचार पूर्ण कठोर दमनसे मनुष्यके व्यक्तित्वकी बड़ी क्षति होती है।

कभी २ दबी हुई वासनाएँ मानसिक विकाशकी अवरोधक बन जाती हैं। शरीर तो बढ़ जाता है पर मानसिक स्थिति जैसीकी तैसी ही बनी रहती है अर्थात् बचपनके समान ही रह जाती है। अंगरेजी साहित्यके प्रमुख लेखक डिकेन्सको बुढ़ापेमें भी सोनेके आभूषणोंका बहुत शौक था। यह उसके बचपनकी अपूर्ण अभिलाषाओंकी पूर्ति मात्र थी। शैशवकालमें वह बहुत गरीब था और सोनेके आभूषणोंकी पहननेकी उसे बड़ी उत्कट इच्छा थी। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

सचेतन और अचेतनके भेदसे द्रव्योंके दो भेद—

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्"।

(च० सू० १-४७)

"तत् (द्रव्यं) चेतनावदचेतनंच"। (च० सू० अ० २६)

उपस्कार—कार्यद्रव्याणां चेतनाचेतनतया विभागं चेतनाचेतनयोर्लक्षणमाह—सेन्द्रियमित्यादि। निरिन्द्रियमित्यत्र निःशब्दोऽभावे निर्मक्षिकमितिवत्। ×××। यद्यपिचात्मैव चेतनो न शरीरं नापि मनः, यदुक्तं—"चेतनावान् यतश्चात्मा ततःकर्ता निरुच्यते (च० शा० १)। इति। तथा सलिलौष्ण्यवत् संयुक्त समवायेन शरीराद्यपि चेतनम्। इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदिन्द्रिययोगे सति ज्ञानशालित्वं, न केवलस्यात्मनश्चेतनत्वं, यदुक्तं "आत्माज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। (च० शा० १) इति। अत्र सेन्द्रियत्वेन वृक्षादीनामपि चेतनत्वं बोद्धव्यम्। तथाहि सूर्यभक्ताया यथा-यथा सूर्यो भ्रमति तथा-तथा भ्रमणाद् दृगनुमीयते, तथा लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती भवति तेन श्रोत्रमनुमीयते, बीजपूरकमपि शृगालादिवसागन्धेनातीव फलवद्भवति तेन घ्राणमनुमीयते, चूतानां च मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया

रसनमनुमीयते, लज्जालोश्च हस्तस्पर्शमात्रेण संकुचितपत्रायाः स्पर्शनानुमानम्, स्मृतिश्चानुमानं दृढ़यति, तथा "वृक्षगुल्मं बहुविधं तत्रैवतृणजातयः। तमसाऽधर्मरूपेणाच्छादिताः कर्महेतुना ॥ अन्तःसंज्ञाभवन्त्येते सुखदुःख समन्विताः ॥" (मनुस्मृति)। तथा तंत्रकारश्च वानस्पत्यानकान्प्राणिनो वक्ष्यति, तेनागम संवलितया युक्त्या चेतना वृक्षाः (च० द०)। इन्द्रियैः सह वर्तमानं सेन्द्रियं द्रव्यं जीवच्छरीररूपंचेतनम्। सेन्द्रियमित्यनेनात्मनः संबन्धोऽपिलभ्यते, इन्द्रियाणां प्रत्यगात्मनो लिङ्गत्वात्। शरीरस्य चैतन्ये आत्मैव हेतुः। कतिधा पुरुषीये च वक्ष्यति—"शरीरं हि गते तस्मिन्छून्यागारामचेतनन्। पंचभूतावशेषत्वात पञ्चत्वंगतमुच्यते ॥ (च० शा० १)। आत्मनः साक्षादवचनं त्विह पांचभौतिकद्रव्याधिकारात्। आत्मामनश्चाध्यात्मद्रव्यम्। चेतनमुक्त्वा-अचेतनमाह—निरिन्द्रियमिति। न सन्ति इन्द्रियाणि यस्य तन्निरिन्द्रियम्। निरिन्द्रियं द्रव्यं जीवच्छरीरव्यतिरिक्तं अन्यत् सर्वमचेतनम्। तच्च चेतनस्योपकरणम् ॥१॥

अर्थ—सब कार्य—द्रव्य चेतन और अचेतन भेदसे दो प्रकारके हैं, जो द्रव्य सेन्द्रिय (इन्द्रिय युक्त) होता है, वह चेतन और जो निरिन्द्रिय (इन्द्रिय रहित) होता है, वह अचेतन कहलाता है। जीवित शरीर रूप द्रव्य सेन्द्रिय होनेसे चेतन है। जैसे—जीवित मनुष्यादि प्राणी तथा वृक्षादि उद्भिज। जीवित शरीरको छोड़कर अन्य जितने द्रव्य हैं वे सब निरीन्द्रिय होनेसे अचेतन हैं (जीवित दशा में प्राणी और उद्भिज सेन्द्रिय होनेसे सचेत हैं, परन्तु जब वे मृत होते हैं तब आत्मा और इन्द्रियों के सम्बन्धसे रहित होनेसे अचेतन होते हैं)। जैसे—स्फटिक सुवर्ण आदि पार्थिव द्रव्य। इस प्रकार चेतन (सेन्द्रिय-सजीव) और अचेतन (निरिन्द्रिय-निर्जीव) भेदसे द्रव्यके दो वर्ग भेद होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ 'इन्द्रिय' शब्दसे इन्द्रियां आत्माका लिंग (ज्ञापक) होनेसे तथा इन्द्रियोंके द्वारा ही आत्माका चैतन्य प्रकाशित होता है, इसलिये आत्मा (जीव) का भी ग्रहण होता है। अतः सेन्द्रिय शब्दसे सजीव शरीर रूपसेन्द्रिय द्रव्य (सजीव प्राणी और उद्भिज) यह अर्थ लेना चाहिये। पूर्वोक्त पृथ्वी आदि ९ (नौ) कारण द्रव्योंसे ही सभी चेतन तथा अचेतन कार्य द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनमें पृथ्वी, जल, तेज, और वायु परमाणुरूपसे तथा आकाश व्यापक रूपसे जड़ द्रव्योंके उत्पत्तिमें उपादन कारण होते हैं और

दिक् तथा काल निमित्त कारण होते हैं। जब उक्त उपादान तथा निमित्त कारणोंके साथ आत्मा तथा मनका संयोग होता है तो चेतन द्रव्य (प्राणिज और उद्भिज) की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार—
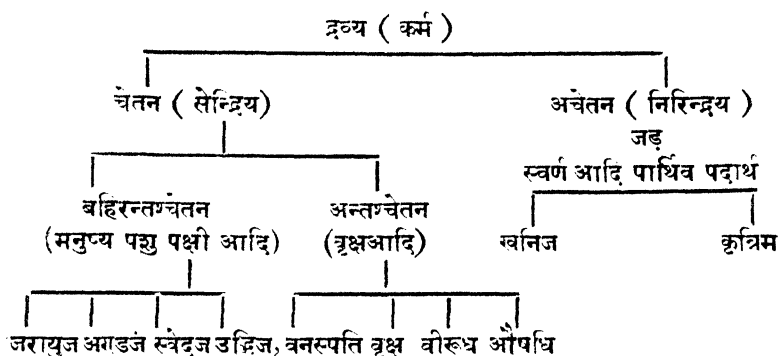
कार्य द्रव्य चेतन (सेन्द्रिय) और अचेतन-जड़ (निरिन्द्रिय) भेदसे दो प्रकार प्रकारका हुआ। पुनः चेतन द्रव्यके बहिरन्तश्चेतन तथा अन्तश्चेतन इस भेदसे दो प्रकार हुये। इनमें मनुष्य, पशु पक्षी सारिरूप आदि बहिरन्तश्चेतन और वृक्षादि अन्तश्चेतन हैं। बहिरन्तश्चेतनकी उत्पत्ति चार प्रकारसे होती है, अतः इनके पुनः चार भेद जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज किये गये हैं। अन्तश्चेतन भी चार प्रकारके होते हैं, जैसे वनस्पति, वृक्ष, वीरूध (लता) और औषधि।

गुणकर्म-विज्ञान

द्वितीय-अध्याय (द्वितीय-पाद)

—:&:—

गुण लक्षणम्—

"समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ।"

(च० सू० १)

"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षम्" ।

(वै० द० १।१।१६)

"अथ द्रव्याश्रिताज्ञेयाः निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः" ।

(कारिकावली)

गुणलक्षणमाह—समवायीति । गुणः समवायी द्रव्य समवायी । द्रव्याश्रय्यगुणवानीतिकणादः । द्रव्यसमवायवान् गुणःकारणं भवति । समवायिकारणं द्रव्यमपि इति । अत आह—निश्चेष्टस्त्विति । तुकारो द्रव्यात् व्यवच्छिनत्ति । नास्ति चेष्टा यस्य स निश्चेष्टः, निष्क्रियः, निर्गुणश्चापि । गुणा गुणश्रया नोक्ताः । इति (चरक सू० २६) । द्रव्यं गुणकर्माश्रयः, गुणस्तु गुणकर्मानाश्रयः इति द्रव्यतो भेदः ।। (उपस्कार टीका—योगेन्द्रनाथ सेन) । द्रव्यमाश्रयितुं शीलमस्येति द्रव्याश्रयी । एतच्च द्रव्येऽपि गतमतआह—अगुणवानिति । तथापि कर्मण्यतिव्याप्तिरित्यत आह—संयोगविभागेष्वकारणं, तथापि संयोगविभागधर्माधर्मश्वरज्ञाना-दीनामसंग्रहःस्यादत उक्तमनपेक्ष इति । अत्रानपेक्ष इत्यनन्तरं गुण इति पूरणीयम् , संयोगविभागेष्वनपेक्षः सन् कारणं यो न भवति स गुण इत्यर्थः । (शंकर मिश्र) । यो द्रव्यमाश्रयति, न गुणवान् , न चानपेक्षः सन संयोग विभागेषु कारणं भवति सोऽयं गुणः । कश्च संयोगविभागे-ष्वनपेक्षः कारणं ? कर्म इत्याह । कर्म संयोगविभागौ जनयन्न किञ्चिद-

पेक्षते, संयोगविभागौत्वपेक्षते किञ्चिदिति। द्रव्यं नाम द्रव्यमाश्रयादपि गुणवदेव भवति न त्वगुणवत् कर्मत्वित्थं भूतमपि कर्मैव। गुणस्तु द्रव्यमाश्रयति न गुणवान्नो खल्वपि कर्मेति। (चन्द्रकान्तभाष्य)। "क्रियाहीनत्वेन कर्तृत्वाभावादप्राधान्येन गौणत्वाच्च तस्य गुणइतिसंज्ञा।"

अर्थ—जो द्रव्यमें आधेय रूप (आश्रित) से रहता हो, चेष्टा रहित हो, (या चेष्टा-क्रियारूप जो कर्म उससे भिन्न हो) गुण रहित हो और स्वसमान गुण की उत्पत्तिमें कारणभूत (असमवायिकारण) हो, उसको 'गुण' कहते हैं। तात्पर्य यह कि—जो द्रव्यमें आश्रय करके रहा हुआ (द्रव्याश्रयी) हो, गुण रहित हो, जो कर्म रहित या कर्मसे भिन्न हो, और जो स्वसमान गुणान्तरकी उत्पत्ति में असमवायि कारण हो, उसे 'गुण' कहते हैं। जो दूसरेका आश्रय होता है तथा कर्ता होता है वह प्रधान होता है और जो अन्याश्रित और उपकरण होता है वह अप्रधान या गौण होता है। उक्त गुण अन्याश्रित (द्रव्याश्रित) तथा उपकरण होनेके कारण गौण होनेसे 'गुण' कहे जाते हैं।

वक्तव्य—द्रव्य और गुणका जो परस्पर सम्बन्ध है उसको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। "समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।" (च० सू० १) अर्थात् पृथ्वीत्यादि द्रव्योंका गुणोंके साथ जो अपृथग्भाव (नित्य साथ रहना) है, उसको समवाय सम्बन्ध कहते हैं। गुण द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध से रहता है द्रव्य और गुणके समवायमें द्रव्य आधार रूपसे और गुण आधेय रूपसे रहता है। 'गुण गुण रहित कहा गया है'—कारण यह है कि गुण द्रव्योंमें रहते हैं, गुणोंमें नहीं रहते। गुणको कर्मसे भिन्न या कर्म रहित कहा गया है, क्योंकि कर्म भी द्रव्योंको ही आश्रय करके रहते हैं, गुणोंमें नहीं रहते। गुणको स्वसमान गुणान्तरकी उत्पत्तिमें असमवायि कारण कहा गया है; क्योंकि वैशेषिक सूत्रमें कहा है कि "द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्च गुणान्तरम्" (वै०द० १।१।१०) यहां कविराज गंगाधर सेनने अपने जल्पकल्पतरु टीकामें गुणको स्वसमान गुणान्तरकी उत्पत्तिमें समवायिकारण माना है—"× × × प्रमादिनस्तु वैशेषिके कणादोक्त गुण लक्षणं 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग विभागेष्वकारणमन्यपेक्षो गुणः" इति गुण लक्षणं दृष्ट्वा गुणकर्मणी असमवायिकारणे भवत इत्याहुः, तेषामेव हि प्रमादः। सूत्र कृत्कणादेन समवायिकारणमिति पूर्वस्मादनु वर्त्य समवायिकारण पदं 'द्रव्याश्रयी' इत्यादि सूत्रं कृतम्। तेन द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग विभागेष्व-कारणमन्यापेक्षः कारणं गुणः इति गुणलक्षणं पर्यवसितम्। यदि हि गुणोगुणान्तरस्य समवायिकारणं न भवति, कथं तर्हि 'गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते' इति वचनं तत्रैव कणादेनोक्तं संगच्छते।" (गंगाधरः)

भदन्त नागर्जुनने अपने रस वैशेषिक सूत्रमें गुणका लक्षण एक और ही प्रकारसे किया है जैसे—"विश्वलक्षणा गुणाः" (र० वै० अ० १ सू० १६८) अर्थात् जिनका लक्षण विश्व याने विकीर्ण भिन्न-भिन्न हों वे 'गुण' हैं। यह लक्षण कार्य द्रव्योंके लिये विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है; क्योंकि गुण छोड़कर अन्य पदार्थ द्रव्य-रस-विपाक-वीर्य और कर्म इनमें प्रत्येकका एक एक लक्षणमें अवरोध होता है। जैसे शब्दादिकोंका जो आश्रय वह द्रव्य, रसनेन्द्रियसे जिसका ग्रहण हो उसे रस, कर्म लक्षण वीर्य, परिणाम लक्षण विपाक; इन लक्षणोंमें जैसे समस्त द्रव्यभेद, रसभेद, वीर्य भेद, विपाक भेदोंका अवरोध होता है, ऐसा गुणका कोई एक लक्षण नहीं है जिसमें सब गुणोंका अन्तर्भाव होता हो, क्योंकि शीतोष्णादि स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य हैं, स्निग्ध और रूक्ष चक्षुर्ग्राह्य और स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य हैं; इस प्रकार सब गुणोंका एक ऐसा लक्षण नहीं बन सकता, जिसमें सब गुणोंका अवरोध होता हो। अतः ये विश्वलक्षण—भिन्न-भिन्न लक्षण वाले हैं और इसीसे उनका लक्षण ऐसा किया गया है।

द्रव्याश्रयी—द्रव्यके आश्रित रहनेवालेका नाम द्रव्याश्रयी है। यदि गुणका इतना ही लक्षण करें तो कार्य द्रव्यमें अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी अपने कारण द्रव्यके आश्रित रहता है। अतः इसकी निवृत्तिके लिये 'अगुणवान्' पदका निवेश किया है। द्रव्यका नाम गुणवान् और उससे भिन्नका नाम अगुणवान् है। 'द्रव्याश्रय्यगुणवान्' केवल यही लक्षण गुणका करें तो गुणवान् होनेके कारण द्रव्यमें अतिव्याप्ति न होनेपर भी कर्ममें अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी द्रव्याश्रित तथा अगुणवान् है। इसकी निवृत्तिके लिये "संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः" ऐसा लक्षण किया गया है। संयोग तथा विभागकी उत्पत्तिमें कर्म अन्यकी अपेक्षा नहीं करता पर अनपेक्ष होता हुआ जो कारण नहीं होता उसे 'गुण' कहते हैं, इसीसे 'संयोग विभागेष्वकारणमनपेक्षः' ऐसा कहा गया है। इसलिये द्रव्याश्रयी, अगुणवान्, संयोग विभागेष्वकारणमनपेक्षः, इन तीनोंके मिलनेसे गुणका यह 'निर्दुष्ट लक्षण निष्पन्न हुआ कि—"द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः" अर्थात् द्रव्य तथा कर्मसे भिन्न होते हुए जातिवालेका नाम 'गुण' है। निष्कर्ष यह निकला कि जो द्रव्यके आश्रित द्रव्य तथा कर्मसे भिन्न और जातिवाला पदार्थ है उसको 'गुण' कहते हैं। इसीलिये प्रशस्तपादने "गुणत्व जातिमत्वं गुणत्वं" अर्थात् गुण जातिवालेका नाम गुण है, ऐसा निर्विवाद लक्षण किया है।

गुणके सम्बन्धमें अर्वाचीन (पाश्चात्य) दार्शनिकोंके विचार—प्रसिद्ध दार्शनिक 'लॉक' का कहना है कि मनमें रूप आदिका जो बोध होता है, उस बोध को 'प्रत्यय' कहते हैं और वस्तुमें उन प्रत्ययोंके प्रयोजक जो धर्म हैं, उन्हें 'गुण'

कहते हैं, अर्थात् प्रत्यय चित्तगत है और गुण बाह्य वस्तुगत है। गति, आकार, विस्तार, आदि द्रव्यके मुख्य गुण हैं। (Primary qualities)। अन्तःकरण में जैसा भाव होता है वस्तुमें भी वे वैसा ही रहता है। परन्तु वर्ण, रस, आदि केवल इन्द्रियोंके सम्बन्धसे विदित होते हैं। इस कारण इनको गौण गुण (Secondary qualities) कहते हैं। (नैयायिकोंने भी इसी प्रकार द्विन्द्रिय ग्राह्य और एकेन्द्रियग्राह्य करके गुणोंका विभेद किया है।) मुख्य गुणोंका प्रायः एकसे अधिक इन्द्रियों द्वारा बोध होता है। गौण गुणोंका बोध केवल एक ही इन्द्रियसे होता है। ये गौण गुण बाह्य द्रव्यमें नहीं रहते। जैसे सुई चुभोनेसे जन्तुको दुःख होता है, परन्तु सुईमें दुःख नहीं होता, केवल दुःख प्रयोजक तीक्ष्णता, कठिनता आदि गुण होता है। इसी प्रकार रस आदि प्रत्यय या बोधका प्रयोजक गुण रस आदिसे भिन्न प्रकारके उन-उन वस्तुओंमें भी वर्त्तमान रहता है। जो वस्तु पूर्ण हरी या लाल दीख पड़ती है, वही वस्तु सूक्ष्म दर्शकके द्वारा, जब उसके दाने अलग अलग हो जाते हैं सफेद मालूम होने लगती हैं। इसीसे वर्ण आदि गुण इन्द्रियाधीन हैं, न कि वस्तुके आधीन, क्योंकि वर्ण आदि गुण यदि वस्तुके आधीन (Objective) होते तो सदा एकसे अनुभव होते। संख्या, परिमाण आदि मुख्य गुण ही वस्तुतः पदार्थमें रहते हैं। ये जैसे वस्तुमें होते हैं वैसे ही दीख पड़ते हैं। रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंका आधार मुख्य गुणोंमें है। किन्तु वे वास्तवमें जैसे हमको दिखाई पड़ते हैं वैसे नहीं हैं। उनका दिखाई पड़ना हमारे मनके आश्रित (Subjective) है। यदि स्वादका चखनेवाला न हो तो रसका ज्ञान ही न होगा। वस्तुवादी जो सभी गुणोंका बाह्य द्रव्यमें रहनेवाले अर्थात् (objective) मानते हैं लोगोंने यह भेद नहीं माना है। वस्तुवादियोंका विचार हिन्दू दर्शनोंसे मिलता है। गौण गुणोंसे समानता रखनेवाले विशेष* गुणोंका अस्तित्व मनपर निर्भर नहीं है। इन्द्रियोंका भूतोंसे सम्बन्ध होनेके कारण वस्तुमें रूप, रस आदि गुण प्रतीत होते हैं। अतः ये वस्तुके ही गुण माने गए हैं।

'बर्कले'का कहना है कि द्रव्योंका ज्ञान गुणोंके द्वारा ही होता है। हम गुणोंसे बाहर नहीं जा सकते और पुनः जब द्रव्यमें गुण नहीं रहते तब वह क्या रह जाता है? यदि खटिका (खड़ी-चौक) में से सफेदी, आकार, विस्तार, भारीपन, चिकनाहट आदि सब गुण किसी प्रकारसे निकाल लिये जायँ तो क्या रह जायगा? यदि कुछ रह जाय तो उसके भी कुछ गुण होंगे और यदि गुण नहीं तो वह ज्ञानमें ही नहीं आ सकती। यह बात असम्भव है कि कोई वस्तु हो और वह ज्ञानमें न आ सके। ज्ञानमें आना ही वस्तुकी सत्ता है।

* "बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यत्वं विशेष गुणवत्त्वम्। (प्रशस्तपाद)

सत्ता ही ज्ञान है (Esset pericipi)। वस्तुके गुण यदि हमको कहीं अलग-अलग मिलते तब तो हमको यह आवश्यकता प्रतीत हो सकती कि इनका योग करने-वाली इनसे भिन्न कोई वस्तु होनी चाहिये। लेकिन हमको कोई गुण अलग नहीं मिलता। न रङ्ग बिना विस्तारके दिखाई पड़ता है न विस्तार बिना रङ्ग और गुरुत्वके। बर्कलेने तो इस भौतिक द्रव्यका भली भाँति खण्डन किया है। बर्कलेसे पूछा जा सकता है कि यदि भौतिक द्रव्य नहीं है तो उसका विचार या प्रत्यय मनमें कहाँसे आया? इसके उत्तरमें बर्कलेका कथन है कि यह एक मानसिक भूल है, कि वास्तवमें सामान्य या जाति बोध नहीं हो सकता तो भी प्रत्याहार (Astraction) द्वारा ऐसे जातिबोध बनाए जाते हैं। उसका कहना है कि यदि हम किसी सामान्यकी कल्पना करना चाहें तो नहीं कर सकते, क्योंकि जहाँपर हम कल्पना करेंगे वहाँ वह कोई न कोई व्यक्ति हो जायगा जैसे—यदि हम किसी साधारण दावतकी कल्पना करें तो वह किसी न किसी प्रकारकी दावात होगी और वहींपर उसकी व्यक्ति आ जायगी। ऐसे मनुष्यकी कोई कल्पना नहीं कर सकता, जिसमें न कोई लम्बाई हो, न खास चौड़ाई हो, न खास रङ्ग हो और न खास रूप हो। जिस साधारण मनुष्यकी कल्पना की जायगी वह किसी न किसी आकार-प्रकारका मनुष्य होगा। इसी प्रकार हम गुण रहित भौतिक द्रव्यकी भी कल्पना नहीं कर सकते। किसी ऐसी वस्तुके माननेसे भी क्या लाभ जिसकी हम कल्पना ही न कर सकें, जो न हमारे ज्ञान में आ सके और न जिससे कोई काम ही सधे। हमारा सब कार्य और विचार वस्तुके गुणोंके आधारपर होता है। जब कोई वैज्ञानिक किसी प्रकारका वैज्ञा-निक सिद्धान्त निकालता है, तब गुणोंके सम्बन्धमें ही निकालता है, भौतिक द्रव्य के सम्बन्धमें नहीं। उदाहरणार्थ जब किसी वस्तुको गरम किया जाता है तब उसका विस्तार बढ़ता है। गर्मी और विस्तार दोनों गुण हैं और इन्हींका सम्बन्ध बतलाया जाता है न कि भौतिक द्रव्यका। बर्कलेका मुख्य सिद्धान्त यह है कि मन या विचारसे स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है। गौण गुणोंका अस्तित्व लॉक भी मनके आधारपर मानते हैं। मुख्य गुणोंको लॉकने स्वतन्त्र माना है; पर यह स्वतन्त्रता भी परीक्षाके आलोकमें नष्ट हो जाती है। जैसे—यदि विस्तारको हम मुख्य मानें तो उसका परिमाण स्थिर नहीं है। वही पदार्थ दूर से बड़ा और नजदीकसे छोटा प्रतीत होता है। पुनः वास्तविक विस्तार क्या है? बर्कलेने अपने दृष्टि सिद्धान्त (Theory of Vision) के अनुसार दूरी (Distance) के विचारको नेत्रके प्रबल सम्बन्धी संवेदनाका फल बतलाया है। इसलिये दूरी आदि भी मनसे स्वतन्त्र नहीं। ये सब शारीरिक और ऐन्द्रियक प्रयत्नके संवेदनके फलमात्र हैं।

एफ० एच० बाडलेने अपने प्रख्यात ग्रन्थ Appearance and reality में कहा है कि यदि हम दृश्यको वास्तविक सत्तासे अलग कर दें, तो उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह अपूर्ण रह जायगा और अपूर्णताके कारण उसमें व्याघात दोष आ जायगा। इन्होंने अपने पुस्तकके पहले भागमें आयाम, विस्तार, अनेकता, गति, परिवर्तन, देश, कालादि, द्रव्य, गुणादि दृश्य पदार्थोंकी अपूर्णता और व्याघातकता बतलायी है और दूसरे भागमें वास्तविक सत्ताकी विवेचना की है। इन्होंने पहले वैज्ञानिकोंके माने हुए मुख्य और गौण गुणोंके भेदकी असारता दिखलायी है। इनका कहना है कि जिस आधारपर गौण 'गुण' गौण सिद्ध किये गये हैं, उसी आधार पर मुख्य गुण भी गौण सिद्ध किये जा सकते हैं। जैसे—मुख्य गुणोंमें लोगोंने विस्तार गुणकी प्रधानता मानी है किन्तु विस्तार रङ्गसे पृथक् नहीं है और जल रङ्गसे अलग नहीं है और रङ्ग गौण है तब विस्तारको भी उसीके साथ गौणता प्राप्त हो जायगी। इसी प्रकार इन्होंने गुणी और गुणके भेदको भी भ्रमात्मक कहा है।

'गुण' के सम्बन्धमें प्रसिद्ध दार्शनिक 'रीड' ने Intellectnals powers नामक पुस्तकमें लिखा है कि वस्तुमें मुख्य गुणोंके अतिरिक्त गौण गुण भी रहते हैं। रूप, रस, गंध आदिके संवेदन यह अनुमान कराते हैं कि इनके अनुकूल वस्तुमें कोई गुण है जो इन संवेदनोंके कारण हैं। ये गुण और संवेदन एक नहीं है। गुण संवेदनके कारण हैं। संवेदन एक प्रकारसे उनके प्रतिनिधि है। मुख्य गुणोंमें इतना अन्तर है कि इनके संवेदन इनसे अधिक समानता रखते हैं। रूप, रस, गंध आदिके जो कारण रूप गुणादि हैं वे बिल्कुल अज्ञात हैं। उनकी सत्ता मात्र कही जाती है। लम्बाई, चौड़ाई, आदिके जो कारण हैं वे इतने अनिश्चित नहीं हैं और उनके संवेदनों और उन गुणोंमें थोड़ी समानता है; लेकिन वे भी एक नहीं है। संवेदन और गुण एक नहीं हो सकते।

गुण संख्या—

"सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
गुणाःप्रोक्ताः॥" (च० सू० १)

सम्प्रति गुणान्निर्देष्टुमाह—सार्था इत्यादि। अनेन त्रिविधाअपि वैशेषिकाः, सामान्याः, आत्मगुणाश्चोपदिष्टाः। तत्रार्थाः—शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः। यदुक्तं—'अर्थाःशब्दादयो ज्ञेया गचोरा विषया गुणाः" (च० शा० १.) इति। एते च वैशेषिकाः। यत आकाशस्यैव शब्दः प्राधान्येन, वायोरेव स्पर्शः प्राधान्येन, एवमग्न्यादिषु रूपादयः।

अन्यगुणानां चान्यत्र दर्शनं भूतान्तरानुप्रवेशात्। वचनंहि—"विष्टं हि अपरं परेण" (न्या० द०-३-१-२६) इति। गुर्वादयस्तु—गुरु-लघु-शीतोष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर,मृदु-कठिन,विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रवा विंशतिः। एतेच सामान्य गुणाः पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्। एते यज्जः पुरुषीये प्राय आयुर्वेदीय-युक्तत्वात परादिभ्यः पृथक् पठिताः।

बुद्धिः ज्ञानम्; अनेन च स्मृति-चेतना-धृत्यहंकारादीनां बुद्धिर्विशेषाणां ग्रहणम्। प्रयत्नो अन्ते येषां निर्देशे ते प्रयत्नान्ताः; एतेन चेच्छा द्वेष, सुख, दुःख प्रयत्नानां ग्रहणम्। वचनं हि—"इच्छा द्वेषः सुख दुःख प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृत्यहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥" (च० शा० १) इति। एते चात्मगुणाः। इह चेतनादीनां बुद्धिग्रहणेनैव ग्रहणम्। शरीरे तु चेतनादीनामपि पृथगात्मगमकत्वेन पृथक पाठः। एतच्च तत्रैव व्याकरणीयम्। परादयो यथा—"परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च। संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः॥" (च० सू० ३६) इति। एते च सामान्य गुणा अपि नात्युपयुक्तत्वात् तथा बुद्धिः प्राधान्यात् चान्ते प्रोक्ताः। प्रोक्ता इति प्रकर्षेण विशेष गुणत्वादि नोक्ताः। (चक्र दत्त)। गुणानाह—सार्था इत्यादि। अर्थैः सहवर्त्तमाना सार्थाः। ××× । अर्थाः इन्द्रियाणामर्थाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः ×××। मनसश्च अर्थः चिन्त्यादि तथा च—"चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्" (च० शा० १)॥ इति। ×× ××। कणादेनाप्युक्तं रूप रस गन्ध स्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुख दुःख इच्छा द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः॥" (वै० द० १। १। ६)। इति (योगेन्द्र-उपस्कार)। गुर्वादय इति एते आविष्कृत तया एव यज्जः पुरुषीये उक्ताः, तेन गुणानामसंख्येयत्वादन्येऽपि ज्ञेयाः। अतएव प्रमेहे श्लेष्मगुणेषु अच्छत्वादयो गुणाः पठ्यन्ते। एते च द्रव्याश्रिता वैद्य नये गुणत्वेन परिभाष्यन्ते। (शिवदास सेन)

अर्थ—श्रोत्रादि पांच इन्द्रियोंके पांच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)

(चरक सूत्र स्थान यज्ञः पुरुषीयाध्यायमें कहे हुए) गुरु आदि बीस गुण (गुरु, लघु, शीतोष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल श्लक्ष्ण-खर, स्थूल-सूक्ष्म, सान्द्र-द्रव) बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, परत्व अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये ४१ (एकतालीस) गुण हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त गुणोंमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्ध ये पांच गुण 'वैशेषिक गुण' कहलाते हैं; क्योंकि शब्दादि क्रमसे आकाशादि पांच भूतोंके एक-एक विशेष गुण हैं। एकके गुण जो दूसरेमें देखे जाते हैं वे भूतान्तरानुप्रवेशसे होते हैं। गुर्वादि द्रवान्त २० गुण 'सामान्य गुण' कहलाते हैं। (कविराज गंगाधरने इन्हें 'शारीर गुण' कहा है।) क्योंकि ये पृथिव्यादि पांचों महाभूतोंमें सामान्यतया रहते हैं। बुद्धि शब्दसे स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार, आदि बुद्धि विशेषोंका भी ग्रहण होता है। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न, ये छः 'आत्मगुण' हैं। परत्वादि दश भी 'सामान्य गुण' हैं, परन्तु गुर्वादिकी अपेक्षा आयुर्वेदमें कम उपयुक्त होनेसे अन्तमें कहे गए हैं। कविराज योगेन्द्रनाथ सेनजीने पांच इन्द्रियोंके पांच विषयोंके साथ छठे 'मन' के अर्थ—चिन्त्य, विचार्य, आदिका भी अर्थोंमें ग्रहण किया है; क्योंकि "मनो मनोऽर्थो बुद्धि-रात्मा च इत्याध्यात्म द्रव्यगुण संग्रहः" (च० सू० ८) इस सूत्रमें मनके अर्थोंका भी आध्यात्म गुणोंमें उल्लेख किया है। इस प्रकार गुणोंकी संख्या ४६ होती हैं।

भदन्त नागार्जुनने इस वैशेषिक सूत्रमें "शीतोष्ण-स्निग्धरूक्ष विशदपिच्छिल-गुरुलघु-मृदुतीक्ष्ण-गुणाः कर्मण्याः" (वै० अ० ३) अर्थात् शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु और तीक्ष्ण इन दश गुणोंको कर्मण्य (चिकित्सा कर्ममें विशेष योग्यता रखनेवाले) गुण कहा है। चरक सुश्रुत आदिमें अष्ट-विधि वीर्यवादीके मतमें नागार्जुनोक्त कर्मण्य गुणोंको वीर्य माना है। अष्टाङ्ग हृदयमें २० गुणोंका निम्न प्रकारसे वर्णन मिलता है :—

"गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्ययाः॥"

(अ० हृ० सू०)

इन्द्रिय--अर्थ विषय के पर्य्याय—

"अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः॥"

(च० शा० १)

अर्थानाह—अर्था इति। अर्थाः शब्दादयो ज्ञेयाः। ये च शब्दादयः पञ्चभूत गुणतया प्रागुक्ताः। ते हि इन्द्रियाणामर्थाः। तदुक्तं—"गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दाः पृथिव्यादि गुणास्तदर्थाः।" इति (न्या० द० १।१।१४) गोचरा विषया इति पर्य्यायौ॥" (उपस्कार)

अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये जो आकाशादि पञ्च महाभूतोंके गुण कहे गये हैं वे ही श्रोत्रादि इन्द्रियोंके अर्थ हैं। अर्थात् आकाशका गुण शब्द श्रोत्रेन्द्रियका, वायुका गुण स्पर्श त्वगिन्द्रियका, तेजका गुण रूप चक्षुरिन्द्रियका, जलका गुण रस रसनेन्द्रियका और पृथिवीका गुण गन्ध घ्राणेन्द्रियका अर्थ या विषय है।

शब्दादि गुणों (विषयों) का साधर्म्य-वैधर्म्य निरूपण—

"रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्यश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वं च।" (प्रशस्त पाद)

"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परत्वापरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-वेगा मूर्त्तगुणाः। बुद्धि सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्न धर्माधर्म भावना शब्दा अमूर्त्तगुणाः॥ संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभागा उभयगुणाः॥" (प्रशस्त पाद)

गुणोंके साधर्म्य-वैधर्म्यका निरूपण करते हैं—रूपादि सभी गुणोंमें गुणजातिका सम्बन्ध (गुणत्वाभिसम्बन्ध) और दूसरेमें आश्रित होने (अन्याश्रितत्व) और अप्रधान होनेके कारण गौण होनेसे गुण कहा जाना, द्रव्यमें आश्रित होकर रहना (द्रव्याश्रितत्व), निर्गुणत्व (इनके अन्दर अन्य गुणोंका न होना) और निष्क्रियत्व (कर्त्तृत्वका न होना-क्रियाहीनत्व) सामान्य रूपसे हैं। अतः ये उनके साधर्म्य कहे गये हैं। गुणके पदार्थान्तर होनेपर भी द्रव्यसे पृथक् उसकी कहीं सत्ता नहीं है इसीसे उसे 'द्रव्याश्रयी' कहते हैं। गुण, गुणका आश्रय नहीं होता अतः उसे 'निर्गुण' कहा है। उसके अन्दर क्रियाके अभाव होनेसे कर्त्तृत्वाभाव भी है अतः वह अप्रधान या गौण होनेसे 'गुण' कहा जाता है। इन गुणोंमें अर्थात् ऊपर कहे हुए रूपादि गुणोंमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये दश 'मूर्त्तगुण' कहे जाते हैं। बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये दश 'अमूर्त्त गुण' कहे जाते हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग ये पाँच 'उभय गुण' अर्थात् मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों हैं। इनमें संयोग, विभाग, द्वित्व और द्विपृथक्त्व आदि गुण अनेकमें रहनेवाले होनेसे 'अनेकाश्रित' कहे गये हैं। शेष दो एक द्रव्यवृत्ति वाले हैं। इन गुणोंमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध 'बाह्यगुण' कहे जाते हैं और

ये एक-एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये दो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये अन्तरिन्द्रिय (मन) द्वारा ग्राह्य हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म और भावना ये अतीन्द्रिय हैं। अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण एकत्व, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग ये कारण गुण पूर्वक है अर्थात् जो अपाकज रूप रसादि कारण द्रव्यमें होते हैं वही रूप रसादि कार्य्य द्रव्यमें भी होते हैं। क्योंकि वैशेषिकके मतसे गुण गुणके प्रति असमवायि कारण होता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, तूल, परिमाण उत्तर संयोग-नैमित्तिक द्रवत्व, परत्व, अपरत्व, अपाकज ये संयोगसे उत्पन्न होनेवाले गुण (संयोगज) हैं। संयोग, विभाग और वेग कर्मज (कर्मसे उत्पन्न होनेवाले) गुण हैं। शब्द और उत्तर विभाग विभागज (विभागसे उत्पन्न होनेवाले) हैं। परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्विपृथक्त्व आदि अपेक्षा बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये असमान अर्थात् अपनेसे भिन्न जातिवाले गुणको उत्पन्न करनेवाले हैं। संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्णस्पर्श, ज्ञान, धर्म, अधर्म, संस्कार ये समान तथा असमान दोनों जातिवाले गुणको उत्पन्न करनेवाले हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना और शब्द ये अपने आश्रयमें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं। अतः ये स्वाश्रय समवेतारम्भक' अर्थात् जिसमें रहते हैं उसके गुणको उत्पन्न करनेवाले होते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह, प्रयत्न ये परत्र अर्थात् जिसमें नहीं रहते उसके गुणके आरम्भक हैं। संयोग, विभाग, संख्या एकत्व, पृथक्त्व, गुरुत्व द्रवत्व, वेग, धर्म और अधर्म ये दोनोंके अर्थात् स्वाश्रयके तथा परत्रके गुणोंके आरम्भक हैं। गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संयोग विशेष ये सब क्रियाके हेतु हैं। रूप, रस, गन्ध, अनुष्ण-स्पर्श, संख्या, परिमाण, एकत्व, पृथक्त्व, स्नेह और शब्द इनमें असमवायि कारणत्व है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, इनमें निमित्त कारणत्व है। संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग इनमें उभय-कारणत्व है (असमवायि और निमित्त)। परत्व-अपरत्व द्वित्व-द्विपृथक्त्व आदिमें कारणत्व नहीं है। संयोग-विभाग शब्द-आत्म विशेष गुणोंमें प्रदेश वृत्तित्व अर्थात् एक देश व्यापित्व (अव्याप्य वृत्तित्व) है। शेष रूपादि गुणोंमें आश्रय व्यापित्व अर्थात् व्याप्य वृत्तित्व है, तात्पर्य यह है कि अपने आश्रयमें व्याप्त रहते हैं। अपाकज रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परिमाण-एकत्व पृथक्त्व-सांसिद्धिक द्रवत्व-गुरुत्व और स्नेह ये सब द्रव्योंमें होते हैं। शेष सब द्रव्योंमें नहीं होते। रूप आदि सभी गुणोंकी संज्ञा प्रत्येकके अपर-सामान्य-सम्बन्धसे

होती है। उक्त २४ गुणोंमेंसे स्पर्श आदि आठ (स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व, संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व) तथा वेग नामक संस्कार ये ९ गुण 'वायु' में रहते हैं। उक्त नौ गुण तथा रूप और द्रवत्व ये ग्यारह गुण 'तेज' में रहते हैं। उक्त नौ तथा द्रवत्व-गुरुत्व-रूप-रस एवं स्नेह ये चौदह गुण 'जल' में रहते हैं। स्नेहको छोड़कर गन्ध सहित चौदह गुण 'पृथिवी' में रहते हैं। बुद्धि आदि छः, संख्या आदि पांच, भावना, धर्म तथा अधर्म ये चौदह 'जीवात्मा' में पाये जाते हैं। संख्या आदि पांच, काल तथा दिशामें भी पाये जाते हैं। उक्त पांचों तथा शब्द ये छः आकाशमें ; संख्या आदि पांच, बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न ये आठ ईश्वर (परमात्मा) में और संख्या आदि पांच, परत्व, अपरत्व तथा वेग ये आठ गुण 'मन' में पाये जाते हैं।

"वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः ; जल क्षिति प्राणभृतां चतुर्दशम्
दिक्कालयोः पञ्च षडेवाम्बरे ; महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ॥"

रूप निरूपण—

"तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्। पृथिव्युदक ज्वलन वृत्ति द्रव्याद्युपलम्भकं नयन सहकारि शुक्लाद्यनेक प्रकारं सलिलादि परमाणुपु नित्यं पार्थिव परमाणुष्वग्निसंयोग विरोधि सर्वकार्य द्रव्येषु कारण गुण पूर्वकमाश्रय विनाशादेव विनश्यतीति ॥" (प्रशस्तपाद)

अर्थ—जो चक्षुमात्रसे ग्राह्यगुण है वह 'रूप' है। यह पृथिवी, उदक और अग्निमें रहता है। द्रव्यादिका उपलम्भक है, अर्थात् जिस द्रव्यमें यह रहता है उस द्रव्यगत गुण, कर्म और सामान्य (जाति) का बोधक होता है। नयनकी सहायता से (नयन सहकारी) इसका ज्ञान होता है। यह शुक्ल आदि (नील, लोहित, हरित, कपिश, चित्र) अनेक प्रकारका होता है। सलिल (जल) आदिके परमाणुओंमें यह नित्य है और पृथिवीके परमाणुओंमें अग्नि संयोगका विरोधी है। सभी कार्य द्रव्योंमें कारण गुणके अनुसार (पूर्वक) रहता है। आश्रयके विनाशसे इसका भी नाश हो जाता है।

वक्तव्य—"चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्" अर्थात् चक्षुः इन्द्रियसे जिस गुणका ग्रहण होता है उसको 'रूप' कहते हैं। "येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैव तद् गता जातिस्तदभावश्च" अर्थात् जिस इन्द्रियसे जिस (धर्मी) का ग्रहण होता है उसी इन्द्रियसे उसमें रहनेवाली जाति तथा स्वकीय अभावका भी ग्रहण होता है ऐसा नियम है। इस नियमके अनुसार रूप गुण वृत्ति 'रूपत्व' जाति तथा 'रूपाभाव' भी चक्षुर्मात्र ग्राह्य है अतः उनमें अति व्याप्तिके वारणार्थ 'गुण' शब्दका

निवेश किया गया है। यदि 'गुणोरूपं' केवल इतना ही लक्षण करें, तो रस आदि गुणोंमें अतिव्याप्ति होती है अतः इसके वारणार्थ 'चक्षुर्मात्रग्राह्यः' इस पदका सन्निवेश किया गया है। यदि 'चक्षुर्ग्राह्योगुणो रूपं' केवल इतना लक्षण करें तो संख्या, संयोग आदि गुणोंमें अतिव्याप्ति होती है अतः 'मात्र' शब्दका निवेश किया गया है। संख्या आदि गुण चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं किन्तु चक्षु तथा त्वक् दोनोंसे ग्राह्य है। मात्र शब्दसे केवल चक्षु अभिप्रेत होता है अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। यहां एक और शंका उपस्थित करते हैं, वह यह कि अतीन्द्रिय द्व्यणुक आदि पदार्थगत 'रूप' में उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होती है क्योंकि वह गुण होनेपर भी चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं है। परन्तु यह शंका इसलिये नहीं उठ सकती कि ग्राह्य शब्दका यहां अर्थ ग्रहण योग्य है। अतीन्द्रिय पदार्थगत 'रूप' भी ग्रहण योग्य है परन्तु केवल अपने आश्रयमें महत्व परिमाणके न होनेसे उनका ग्रहण नहीं होता, इसलिये अव्याप्ति नहीं। इसे यों कह सकते हैं कि "चक्षुर्मात्रग्राह्य गुण वृत्ति जातिमत्वम्" अर्थात् केवल चक्षु इन्द्रियसे ग्रहण होने वाले गुणमें होनेवाली रूपत्व जाति वालेको 'रूप' कहते हैं, यह उक्त लक्षणका अर्थ विवक्षित है क्योंकि रूपत्व जातिवाले सभी रूप हैं, अतः कहीं भी अव्याप्ति नहीं। रूप नित्य और अनित्यके भेदसे दो प्रकारका होता है। जल तथा तेजके परमाणुओंमें नित्य और पृथिवीके परमाणुओंमें अनित्य है।

रस निरूपण—

"रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥"

(चरक सू० १-६३)

"रसो रसना ग्राह्यः। पृथिव्युदक वृत्तिः, जीवन पुष्टि बलारोग्य-निमित्तम्, रसन सहकारी, मधुराम्ल लवणतिक्तकटुकषायभेद भिन्नः। अस्यापि नित्यानित्यत्वान्निष्पत्तयो रूपवत्॥" (प्रशस्तपाद)

अर्थ—रसनेन्द्रिय (जिह्वा) से जिस विषय (गुण) का ग्रहण होता है उसको 'रस' कहते हैं। जल और पृथिवी उसके आधारकारण है। रसकी उत्पत्ति और उसके मधुर आदि भेदमें आकाश वायु और तेज ये तीन निमित्त कारण हैं (चरक)। रसनेन्द्रियसे ग्रहण होनेवाले गुणको 'रस' कहते हैं। पृथिवी और जलमें वह रहता है। वह जीवन पुष्टि, बल और आरोग्यको देने वाला है। रसना (जिह्वा) की सहायतासे उसका ज्ञान होता है। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय भेदसे वह विभक्त है। वह भी रूपके समान ही नित्य तथा अनित्य दो प्रकारका होता है।

वक्तव्य—"रसना ग्राह्यो गुणो रसः" अर्थात् रसना (जिह्वा) इन्द्रियसे ग्रहण होनेवाले गुणका नाम 'रस' है। इस लक्षणमें 'रसत्व' जातिमें अति व्याप्तिके वारणार्थ 'गुण' पदका तथा रूपादि गुणोंमें अति व्याप्तिके वारणार्थ 'रसनाग्राह्य' पद दिया गया है। यह रस पृथिवी तथा जल दोनों द्रव्योंमें रहता है शेषमें नहीं। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय भेदसे ६ प्रकारके होते हैं। इनमें जलमें केवल मधुर और पृथिवीमें उक्त सभी रस होते हैं। 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'—जिसका जिह्वेन्द्रिय द्वारा आस्वादन (स्वादग्रहण) होता है उसको 'रस' कहते हैं। जल नैसर्गिक रीत्या रसवाला होनेसे वही रसका मुख्य आधार कारण (उत्पत्ति कारण) है और पृथिवी जलके अनुप्रवेशसे रसवती होनेसे गौण आधार कारण है। रस की अभिव्यक्ति में जल और पृथिवी आधार कारण है। यह कहनेसे यह बतलाया गया है कि अभिव्यक्त होता हुआ रस ; जल और पृथिवीमें ही अभिव्यक्त होता है। 'निर्वृत्तौ च' इस वाक्यमें 'च' से मधुरादि विशेषमें भी जल और पृथिवी निमित्त कारण है, जैसा कि आगे कहा गया है कि 'सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः' अर्थात् जल और पृथिवीकी अधिकतासे मधुर रस होता है। 'विशेषे च' यहां 'च' कारसे, अभिव्यक्तिमें भी आकाश, वायु और अग्नि कारण है, यह बताया गया है जैसे कि चरक सूत्र २६ वें अध्यायमें कहा गया है कि—

"तास्त्वन्तरीक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुण समन्विता-जङ्गमस्थावराणां-भूतानां मूर्त्तीरभिप्रीणयन्ति, यासु षड्भिमूर्च्छन्ति रसाः"।

अर्थात् वह जल अन्तरीक्ष से गिरता हुआ और गिरकर पञ्च महाभूतोंके गुणोंसे समन्वित होकर जङ्गम और स्थावर सब मूर्त्त द्रव्योंका पोषण करता है, जिसके अन्दर छः रस बनते हैं।

"रसास्तावत् षट्—मधुराम्ल लवण—कटुतिक्तकषायाः"

(च० वि० अ० १).

रसाः स्वाद्वल लवणा तिक्तोषण-कषायकाः।
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथा पूर्वं बलावहाः॥

(अ० हृ० सू० १)

मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय ये छः रस हैं जो द्रव्योंको आश्रय करके रहते हैं। इनमें अन्तसे पूर्व पूर्व रस अधिक बल देनेवाला है, जैसे—कसायसे कटु, कटुसे तिक्त, तिक्तसे लवण, लवणसे अम्ल और अम्लसे मधुर विशेष बल देनेवाला है। (इसका विशेष विवेचन द्रव्यगुण विज्ञानमें देखें)

गन्ध निरूपण—

"गन्धो घ्राण ग्राह्यः। पृथिवीवृत्तिः, घ्राण सहकारी, सुरभिरसुरभिश्च। अस्यापि पूर्ववदुत्पत्त्यादयो व्याख्याताः।" (प्रशस्तपाद)

अर्थ—घ्राणेन्द्रिय (नाक) से ग्रहण होनेवाले गुणको 'गन्ध' कहते हैं। यह (गुण) पृथिवीमें रहता है और नाकको सहायतासे इसका बोध होता है। यह सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध) के भेदसे दो प्रकारका होता है। इसकी उत्पत्ति भी पूर्ववत् रसके समान ही है।

वक्तव्य—'घ्राणं ग्राह्यो गुणो गन्धः' अर्थात् जिस गुणका घ्राणेन्द्रिय (नाक) से ग्रहण होता है उसको 'गन्ध' कहते हैं। गन्धत्व जातिमें अति व्याप्तिके वारणार्थ 'गुण' पदका तथा रूपादि गुणोंमें अति व्याप्तिके वारणार्थ 'घ्राणग्राह्य' पद दिया गया है। गन्ध गुण केवल पृथिवी द्रव्यमें रहता है और सुरभि तथा असुरभिके भेदसे दो प्रकारका होता है।

स्पर्श निरूपण—

"स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः। क्षित्युदक ज्वलन पवन वृत्तिः, त्वग्सहकारी, रूपानुविधायी, शीतोष्णानुष्णाशीत भेदात् त्रिविधः। अस्यापि नित्या-नित्यत्व निष्पत्तयः पूर्ववत्।" (प्रशस्तपाद)

अर्थ—स्पर्श गुण त्वगइन्द्रिय (त्वचा) ग्राह्य है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमें यह गुण रहता है। त्वग् (त्वचा) से इसका बोध होता है। यह रूपानुविधायी है। शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत भेदसे तीन प्रकारका होता है। इसका नित्यत्व और अनित्यत्व तथा उत्पत्ति रसके समान ही है।

वक्तव्य—'त्वगिन्द्रिय मात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः' अर्थात् केवल त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से जिस गुण का ग्रहण होता है उसको 'स्पर्श' कहते हैं। संख्या-संयोग आदि गुणोंमें अति व्याप्ति वारणार्थ 'मात्र' पद तथा स्पर्शत्व जातिमें अति व्याप्तिके वारणार्थ 'गुण' पदका एवं रूपादि गुणोंमें अति व्याप्ति वारणार्थ 'त्वगिन्द्रिय मात्रग्राह्य' पदका सन्निवेश किया गया है। उक्त स्पर्श गुण पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्योंमें रहता है, शेषमें नहीं। इसके शीत, उष्ण तथा अनुष्णाशीत ये तीन भेद हैं। जलमें शीत, तेजमें उष्ण तथा पृथिवी और वायुमें अनुष्णाशीत स्पर्श होता है।

शब्दनिरूपण—

"शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः क्षणिकः कार्यकारणोभयविरोधी संयोग विभाग शब्दजः प्रदेशवृत्तिः सामानासामानजातीयकारणः स द्विविधो—

वर्णलक्षणो ध्वनिलक्षणश्च। तत्र अकारादि-वर्णलक्षणः, शङ्खादिनिमित्तो ध्वनिलक्षणश्च। तत्रवर्णलक्षणस्योत्पत्तिः—आत्ममनसःसंयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा, तदनन्तरं प्रयत्नस्तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद्वायौ कर्म जायते, स चोर्ध्वंगच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थान वायुसंयोगापेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगात् वर्णोत्पत्तिः। अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदण्डसंयोगापेक्षाद्भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते। वेणुपर्वविभागात् वेण्वाकाश विभागाच्च शब्दाच्चसंयोग विभगनिष्पन्नाद् वीचीसन्तानवच्छब्दसन्तान इत्येवं सन्तानेन श्रोत्रप्रदेशमागतस्य ग्रहणं नास्ति परिशेषात् सन्तानसिद्धिरिति॥ (प्रशस्तपाद)

"श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिर्निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाश देशः शब्दः" (महाभाष्य)

अर्थ—शब्द आकाशका गुण है। श्रोत्रेन्द्रिय (कान) द्वारा ग्रहण होता है। क्षणिक है। कार्य-कारण दोनोंका विरोधी है। संयोग और विभाग एवं शब्दसे उत्पन्न होनेवाला है। एक देशमें रहनेवाला अर्थात् अव्याप्य वृत्तिवाला है। समान तथा असमान जातिका कारण है। शब्द दो प्रकारका होता है। वर्ण लक्षणवाला और ध्वनि लक्षणवाला। इनमें अकारादि वर्ण लक्षणवाला है और शंखादिसे उत्पन्न ध्वनि लक्षणवाला है। वर्णलक्षण शब्दकी उत्पत्ति—आत्मा और मनके संयोगसे तथा स्मृतिकी उपेक्षासे वर्ण उच्चारणकी इच्छा होती है। उसके बाद प्रयत्न प्रारम्भ होता है। इस प्रयत्नकी अपेक्षासे आत्मा और वायुका संयोग होनेसे वायुमें कर्मकी उत्पत्ति होती है। तब वायु ऊपरकी ओर जाता हुआ कण्ठ आदि (स्वरयंत्र) प्रदेशको आहत करता है जिसके फलस्वरूप स्थानीय वायुके संयोगसे वर्णोत्पत्ति होती है। अवर्ण (ध्वनि) लक्षणवाला शब्द भी भेरी (वाद्ययंत्र) और दण्डके संयोगसे एवं भेरी आकाशके संयोगसे उत्पन्न होता है। वेणु पर्वके विभागसे तथा वेणु आकाशके विभागसे शब्दकी उत्पत्ति होती है। संयोग तथा विभागसे उत्पन्न हुआ शब्द (स्वयं श्रोत्र प्रदेशमें नहीं जाता, न श्रोत्र ही शब्दके पास आता है, तो श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण कैसे होता है, इस शंकाका निवारण करते हैं) वीचीतरंग न्यायसे श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। (प्रशस्तपाद)। शब्द उसे कहते हैं कि जो कानसे सुननेमें आवे, बुद्धिसे जिसका अच्छी तरह ग्रहण हो, वाणीसे बोलनेसे जो जाना जाय और आकाश जिसका स्थान है। (महाभाष्य)।

वक्तव्य—'संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' अर्थात् संयोग, विभाग और शब्दसे शब्दकी उत्पत्ति होती है। भेरीदण्ड आदिके संयोग, वेणुपर्व

(बाँसकी गाँठ) आदिका विभाग तथा वीचीतरंग न्याय द्वारा शब्दसे शब्दकी उत्पत्ति कहा गया है। तात्पर्य यह है कि प्रथम शब्दकी उत्पत्ति संयोग तथा विभागसे होती है और दूसरे तथा तीसरे शब्दोंकी उत्पत्ति वीचीतरंग न्यायसे होती है। एक तरंगसे दूसरेकी, दूसरेसें तीसरेकी तथा तीसरेसे चौथेकी उत्पत्ति क्रमको अर्थात् इस प्रकार उत्तरोत्तर तरंगसे तरंगकी उत्पत्तिको 'वीची-तरंग न्याय' कहते हैं। वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक भेदसे शब्द दो प्रकारके होते हैं। जिनमें शिक्षामें* वर्णित किये हुए उरः कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होनेवाले अकारादि शब्दोंको 'वर्णात्मक' तथा भेरी मृदंग आदिमें दंड आदिके संयोगसे उत्पन्न होनेवालेको 'ध्वन्यात्मक' कहा है। वर्णात्मक शब्दकी उत्पत्तिका कारण संयोग या शब्दोत्तर शब्द और ध्वन्यात्मक शब्दकी उत्पत्तिका हेतु संयोग विभाग तथा शब्दोत्तर शब्द है।

> "आत्माबुद्ध्या समेत्यार्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
> मनःकायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
> मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयते स्वरम्॥"

अर्थात्—जब आत्माको किसी विषयका कथन करनेकी इच्छा होती है, तब वह बुद्धिके साथ मिलकर मनको प्रेरित करता है। तब आत्माके प्रयत्नसे प्रेरित हुआ मन कायाग्निके साथ आहत होता है। इस आघातसे प्रेरित होकर वायु उरः प्रदेशमें संचार करता हुआ मन्द स्वरको उत्पन्न करती है। अर्थात् वायु (उदान वायु) का कण्ठतालु आदि स्थानोंके साथ अभिघाताख्य संयोगसे वर्णात्मक शब्दकी उत्पत्ति होती है। यहाँ अभिघाताख्य संयोग निमित्तकारण, कण्ठतालु आदिका आकाशसे संयोग असमवायिकारण तथा आकाश (शब्दकी उत्पत्तिमें) समवायी कारण है। प्रशस्तपादने—"आत्मा-मनसः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद्वर्णोच्चारणेच्छा" ऐसा पद कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम अनुभव किए हुए वर्णकी स्मृति द्वारा आत्मा तथा मनके परस्पर संयोग होनेसे वर्णोच्चारणकी इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छासे आत्मामें प्रयत्न और प्रयत्नसे आत्मा और वायुका परस्पर संयोग होनेसे तत्स्थानीय (उरः प्रदेशीय) वायुमें कर्म उत्पन्न होता है। तदनन्तर वायुमें कर्म उत्पन्न हो जानेसे, वायु उपरकी ओर जाती हुई कण्ठ, तालु आदि स्थानोंसे टकराती है,

---

* अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥ (शिक्षा०)

इन स्थानोंका स्थानीय आकाशके साथ संयोग होनेसे तथा इन स्थानोंका वायुसे आहत होनेसे वर्णात्मक शब्दकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार ध्वन्यात्मक शब्दके प्रति भेरीदण्ड संयोग निमित्तकारण, भेरी आकाश संयोग असमवायिकारण और आकाश समवायिकारण है। जैसे भेरीदण्ड संयोगजन्य शब्द और दण्ड आदिका परस्पर कार्य-कारण भाव है वैसे ही शंखजन्य शब्दमें भी समझना चाहिये, अर्थात् शंखजन्य शब्दका शंख मुख संयोग निमित्तकारण शंख तथा आकाशका परस्पर संयोग असमवायिकारण और आकाश समवायि कारण है।

इसी प्रकार विभाग जन्य शब्दमें वेणु तथा ग्रन्थि (पर्व) का विभाग निमित्त कारण, वेणु आकाशका संयोग असमवायि कारण तथा आकाश समवायि कारण है। और जहां दूर देशमें उत्पन्न हुआ शब्द वीची तरंग न्यायसे श्रोत्र देशको प्राप्त होता है, वहां शब्दसे शब्दको उत्पत्ति होती है। "नाप्राप्य प्रकाश कारित्वमिन्द्रियाणाम्" अर्थात् विषयके प्रदेशको प्राप्त न होनेपर इन्द्रियोंसे वस्तु का प्रकाश नहीं होता, किन्तु विषयके देशको प्राप्त होनेपर सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयके प्रकाशनमें समर्थ होती हैं, अन्यथा नहीं। इस नियमके अनुसार भेरी आदि देशमें उत्पन्न हुए शब्दका श्रोत्रसे ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि क्रिया रहित होनेसे आकाश रूप श्रोत्रमें भेरी आदि देश पर्य्यन्त गमनात्मक कर्म नहीं हो सकता, इस लिये 'वीचीतरंगन्याय' द्वारा भेरीदण्ड संयोगजन्य शब्दकी श्रोत्रेन्द्रिय से प्राप्ति होनेसे उसका प्रत्यक्ष होता है और पूर्व तरंगसे उत्तरोत्तर तरंगकी भांति एक बार भेरीदण्डके संयोगसे उत्पन्न हुए शब्द द्वारा उत्तरोत्तर शब्दकी उत्पत्ति होती है। इसमें पवनादि निमित्त कारण है और पूर्व २ शब्द उत्तरोत्तर शब्दका असमवायि कारण है तथा आकाश समवायि कारण है।

यहां एक और बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ किसी एक देशमें उत्पन्न हुआ शब्द दश दिशाओंमें फैल जाता है वहां केवल 'वीचीतरङ्ग-न्याय' से शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु 'कदम्ब मुकुल न्याय' से होती है। अर्थात जैसे कदम्ब पुष्पके विकाश समयमें उसकी मुकुल (कलिके केसर) दश दिशाओं में एक बार ही विकशित हो जाते हैं वैसे ही भेरी आदि देशमें उत्पन्न हुआ शब्द एक कालमें ही दश दिशाओंकी ओर फैल जाता है और उसके अनन्तर 'वीची तरङ्ग, न्यायसे दश दिशाओंमें पूर्व पूर्व शब्द से उत्तरोत्तर शब्द की उत्पत्ति होती है।

गुरुत्व निरूपण—

"गुरुत्वं जलभूम्योः पतन कर्मकारणम्। अप्रत्यक्षं पतन कर्मानुमेयं

संयोग-प्रयत्न-संस्कारविरोधि। अस्य चाब्रादि परमाणु रूपादिवान्नित्या-नित्यत्व निष्पत्तयः।।" (प्रशस्तपाद)

अर्थ—जल और भूमिके पतन कर्मका कारण 'गुरुत्व' है। यह अप्रत्यक्ष गुण है जो पतन कर्मके द्वारा अनुमानसे जाना जाता है। संयोग, प्रयत्न तथा संस्कारका विरोधी है। जिस प्रकार जल आदिके परमाणुके रूप नित्य और अनित्य होते हैं उसी प्रकार गुरुत्व भी नित्य और अनित्य होते हैं। अर्थात् परमाणु रूपमें नित्य और कार्य रूपमें (आश्रयके नाशसे नाश होनेवाला) अनित्य है।

वक्तव्य—"आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्" अर्थात् फलका जो वृक्षसे प्रथम पतन होता है उसके असमवायिकारण गुणका नाम 'गुरुत्व' है। तात्पर्य यह कि भारी वस्तु जो ऊपरसे नीचे गिरती है, उसके गिरनेको 'पतन' कहते हैं और वह वस्तु नीचे एक ही पतनसे नहीं गिरती किन्तु मध्यमें अनेक पतन होते हैं; उन पतनोंके मध्यमें जो प्रथम पतन है वह गुरुत्वसे और द्वितीयादि पतन वेगसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये गुरुत्वका यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि जो गुण प्रथम पतनका असमवायिकारण है वह 'गुरुत्व' है। यह गुण पृथिवी और जल दोनोंमें रहते हैं। गुरुत्व गुण अप्रत्यक्ष है। हम इसे देख नहीं सकते। कोई कोई इसे स्पर्शेन्द्रिय ग्राह्य मानते हैं। परन्तु किसी द्रव्यके गुरुत्वका ज्ञान हमें तभी होता है जब हम उसमें पतन धर्म देखते हैं। जैसे वृक्षसे फलको गिरते हुए देखकर हम समझते हैं कि फलमें गुरुत्व होनेसे पतन कर्म हुआ है, अतः पतन कर्मको देखकर पतन कर्मके कारण 'गुरुत्व' का अनुमान करते हैं। जिस प्रकार जल और पृथिवीके परमाणुओंके रूप नित्य या अनित्य होते हैं उसी प्रकार इनके परमाणुओंके गुरुत्व भी नित्य तथा अनित्य होते हैं।

"संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम्" (वै० द० ५।१।७) अर्थात् संयोगके न रहनेसे गुरुत्वसे (वस्तुका) पतन होता है। जब पतनके प्रति बन्धक संयोगका अभाव हो जाता है तब भारी वस्तु ऊपरसे नीचेकी ओर आ जाती है। इस पतनमें 'प्रति बन्धक रहित गुरुत्व असमवायि कारण है अर्थात् ऊपरसे आनेवाली वस्तुके नीचेकी ओर संयोगको उत्पन्न करनेवाली क्रियाका नाम 'पतन' है, वह क्रिया गुरुत्ववाले लोष्ठादि द्रव्योंमें होती है, अन्यमें नहीं। और गुरुत्ववाले द्रव्यके पतनका प्रतिबन्धक जो संयोग, उसके अभावसे वस्तुका पतन होता है। उक्त संयोग होनेपर नहीं; जैसा कि वृक्षवर्ति फल आदिमें देखा जाता है कि जब तक फलका शाखाके साथ सम्बन्ध (संयोग) है तब तक वह नीचे नहीं आता (गिरता)। इससे सिद्ध है कि संयोगके अभावसे (गुरुत्ववाले) फल का पतन होता है। इसमें फलवर्ती गुरुत्व असमवायि कारण, फल समवायि-

कारण तथा संयोगाभाव निमित्तकारण है। इसीसे उक्त सूत्रमें प्रशस्तपादने गुरुत्वको संयोग विरोधी कहा है।

"संस्काराभावे गुरुत्वात्पतनम्" (वै० द० ५।१।१८) अर्थात् संस्कारके विनाश होनेपर गुरुत्वसे (बाणका) पतन होता है। अनेक कर्मोंको उत्पन्न करनेसे क्षीण शक्ति (निर्बल हुआ वेग) नामक संस्कार स्वयं नष्ट हो जाता है और उक्त संस्कारके नष्ट हो जानेके कारण प्रतिबन्ध शून्य हुए 'गुरुत्व' से पुनः बाणका स्वलक्ष्य किंवा भूमि आदिपर पतन होता है। भाव यह है कि कर्म प्रबाहको उत्पन्न करनेवाले वेग नामक संस्कारकी शक्तिका अपक्षय (ह्रास न हो किन्तु वह सर्वदा एक रस) बनी रहे, तो बाण आदिका पतन नहीं हो सकता, परन्तु उत्तरोत्तर गमनात्मक कर्मोंको उत्पन्न करनेसे वेग नामक संस्कारकी शक्तिका निरन्तर ह्रास होता जाता है और ज्यों-ज्यों उसकी शक्तिका ह्रास होता है त्यों-त्यों वह अपने कर्मको भी मन्द, मन्दतर आदि भेदसे विलक्षण-विलक्षण उत्पन्न करता है, जैसा कि नये वृक्षका फल रूप कार्य उत्तम तथा पुरानेका अधम देखा जाता है। और उक्त संस्कारकी शक्तिके सर्वथा ह्रास होनेके अनन्तर उसका भी विनाश हो जाता है। इस प्रकार वेग नामक संस्कारके नाश होनेसे निरालम्ब हुए बाणका गुरुत्व रूप कारणसे पतन होता है। यही रीति लोष्ठादि द्रव्योंकी भी जाननी चाहिये। तात्पर्य यह है कि फेंकी हुई वस्तुका पतन गुरुत्व से होता है। परन्तु वह तब तक अपने पतन रूप कार्यको नहीं उत्पन्न कर सकता जब तक वेग नामक संस्कारसे प्रतिबद्ध है। इसीसे प्रशस्त पादने गुरुत्व को संस्कार विरोधि कहा है।

"अपां संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम्" (वै० द० ५।२।३) अर्थात् संयोगके अभाव होनेपर गुरुत्वसे जलका पतन होता है। तात्पर्य यह कि प्रतिबन्धक संयोगके अभाव होनेसे गुरुत्वके कारण मेघमण्डलवर्ती जलोंका अधः पतन होता है। अर्थात् जब अनुकूल वायुके संयोग द्वारा कर्मको उत्पत्तिसे पतनके प्रतिबन्धक मेघसंयोगका जलके साथ अभाव होता है तब प्रतिबन्धक शून्य स्ववर्ति गुरुत्वसे जलका वर्षारूपमें पतन होता है। उक्त पतनमें जल समवायि कारण, गुरुत्व असमवायि कारण और प्रतिबन्धक संयोगका अभाव निमित्त कारण है।

नोट—'गुरु' और 'लघु' ये दोनों सापेक्ष्य गुण होनेसे गुरुत्वके निरूपणसे लघुत्वका भी निरूपण समझ लेना चाहिये। इसी गुरु-लघुका वर्णन सर्वत्र एक साथ किया गया मिलता है, जैसे—"गौरवं पार्थिवमाप्यं च। लाघवमन्यदीयम्॥" अर्थात् गुरु गुण पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाला है और लघुगुण उससे अन्य वायु, आकाश और अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला है।

स्नेह निरूपण—

"स्नेहोऽपां विशेष गुणः। संग्रहमृजादि हेतुः। अस्यापि गुरुत्व वन्नित्यानित्यत्व निष्पत्तयः॥" (प्रशस्त पाद)

अर्थ—स्नेह जलका विशेष गुण है। पिण्डीभावके हेतुका नाम 'स्नेह' है तथा (वस्तुमें) मृदुता आदि भी स्नेहके कारण होती है। स्नेह भी गुरुत्वके समान नित्य और अनित्य होता है।

वक्तव्य—"संग्रह हेतुर्गुणः स्नेहः" अर्थात् एकट्ठा या पिण्डीभावके हेतु गुणको 'स्नेह' गुण कहते हैं। चिकनापनका नाम स्नेह है। आँटे आदिका पिण्ड जो जलके डालनेसे बन जाता है उसको पिण्डीभाव कहते हैं। यह पिण्डीभाव जलगत स्नेहसे होता है। पृथिवीमें जो इसकी प्रतीति होती है वह जलके सम्बन्धसे होती है स्वतः नहीं।

नोट—स्निग्ध और रूक्ष दोनों सापेक्ष्य गुण हैं, अतः स्नेहके निरूपणसे रूक्षका भी निरूपण समझ लेना चाहिये।

"रूक्ष वैशद्ये पार्थिव वायव्ये॥" (र० वै० ३) अर्थात् रूक्ष और विशद गुण पृथिवी और वायुके गुणवाले होते हैं।

द्रवत्व निरूपण—

"द्रवत्वं स्पन्दन कर्म कारणम्। त्रिद्रव्यवृत्ति। तत्तु द्विविधं—सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकमपां विशेष गुणः। नैमित्तिकं पृथिवी तेजसोः सामान्य गुणः। सांसिद्धिकस्य गुरुत्वश्रन्नित्यान्नित्यत्वनिष्पत्तयः सङ्घात दर्शनात् सांसिद्धिकमयुक्तमिति चेन्न दिव्येन तेजसा संयुक्तानामाप्यानां परमाणूनां परस्पर संयोगो द्रव्यारम्भकः सङ्घाताख्यः, तेन परमाणुद्रवत्व प्रतिबन्धात् कार्ये हिम करकादौ द्रवत्वानुत्पत्तिः। नैमित्तिकं च पृथिवी तेजसोरग्नि संयोगजम्। कथं सर्पिर्जतुमधुच्छिष्टादीनां कारणेषु परमाणुष्वग्निसंयोगाद्वेगापेक्षात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यो विभागेभ्यो द्रव्यारम्भक संयोगविनाशात् कार्यद्रव्यनिवृत्तावग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् स्वतंत्रेषु परमाणुषु द्रवत्वमुत्पद्यते, ततस्तेषु भोगिनामदृष्टापेक्षादात्म गुण संयोगात् कर्मोत्पत्तौ तज्जेभ्यः संयोगेभ्यो द्व्यणुकादि प्रक्रमेण कार्य द्रव्य मुत्पद्यते, तस्मिंश्च रूपाद्युत्पत्ति समकालं कारण गुण प्रक्रमेण द्रवत्वमुत्पद्यते इति। (प्रशस्तपादः)

अर्थ—स्पन्दन (बहना) कर्मके कारण (असमवायि कारण) को द्रवत्व कहते हैं। यह तीन द्रव्यों (जल, तेज, पृथिवी) में रहता है। यह दो प्रकारका है—(१) सांसिद्धिक और (२) नैमित्तिक। सांसिद्धिक द्रवत्व (गुण) जलका विशेष गुण है। नैमित्तिक द्रवत्व (गुण) पृथिवी और तेजका सामान्य गुण है

सांसिद्धिक द्रवत्व गुरुत्वके समान नित्य (परमाणुमें) और अनित्य (कार्यद्रव्यमें) होता है। जलके, हिमकरक (वर्फ तथा ओले) आदिके काठिन्यको देखकर सांसिद्धिक द्रवत्वको यदि अयुक्तियुक्त कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र जलमें द्रवत्व देखा जाता है अतः द्रवत्व तो निश्चित रूपसे जलका सांसिद्धिक गुण है; परन्तु बर्फ और ओले आदिमें जो द्रवत्वका अभाव मालूम होता है उसमें दिव्य तेजसे जलके परमाणुओंका परस्पर संयोग होकर द्रव्यारम्भक संघाताख्य गुण उत्पन्न होता है, इसलिये परमाणु द्रवत्वके प्रतिबन्धक दिव्य तेजसे परमाणुओंके संयोगके कारण हिमकरकादिमें द्रवत्वकी उत्पत्ति नहीं होती और पृथिवी तथा तेजमें नैमित्तिक द्रवत्व गुण तो अग्नि संयोगसे उत्पन्न होता है। यह किस प्रकार होता है इसे स्पष्ट करते हैं कि—घृत, लाक्षा और मोम आदिके कारण परमाणुओंमें अग्नि संयोग एवं संस्कारसे द्रव्यारम्भक संयोगका विनाश होनेसे तथा उसके द्वारा उत्पन्न विभागसे उत्पन्न कार्यमें द्रवत्व होता है। कार्य द्रव्यमें द्रवत्व अग्निगत उष्णताके कारण स्वतन्त्र परमाणुओंमें उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—"आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्" अर्थात् प्रथम स्यन्दन (बहने) के असमवायिकारण गुणका नाम 'द्रवत्व' है। या यों कहें कि द्रवीभूत वस्तुके प्रथम बहनका जो असमवायि कारण है उसको 'द्रवत्व' कहते हैं। यह सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक भेदसे दो प्रकारका होता है। स्वतः सिद्धका नाम सांसिद्धिक है और (तेजो रूप) निमित्तके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवालेका नाम 'नैमित्तिक' है। जलमें द्रवत्व गुण सांसिद्धिक और पृथिवी तथा तेजमें नैमित्तिक है। तेजसे तात्पर्य यह तैजसद्रव्य (सुवर्णादि धातुओं) का है।

"द्रवत्वात्स्यन्दनम्" (वै० द० ५।२।४) अर्थात् (जलके) बहनेमें द्रवत्व हेतु है। बहनेको स्यन्दन कहते हैं। वर्षाके अनन्तर पृथिवीपर प्रवाह रूप हुए जलके स्यन्दन अर्थात् नीचेकी ओर अभिसर्पणात्मक कर्मकी उत्पत्तिमें द्रवत्व (द्रवीभाव) कारण है। उक्त कर्ममें जल समवायि कारण, द्रवत्व असमवायि कारण और गुरुत्व निमित्त कारण है। "अपां संघातो बिलयनञ्च तेजः संयोगात्" (वै० द० ५।२।६) अर्थात्—तेजके संयोगसे जलका संघात तथा विलयन होता है। ओला तथा बर्फ आदि रूपमें जलके दृढ़तर संयोगका नाम 'संघात' है और संघातको त्याग कर पहले रूपमें होनेका नाम 'विलयन' (पिघलना) है। यद्यपि जलमें सांसिद्धिक द्रवत्व गुण है अर्थात् जलका द्रवीभूत होना स्वाभाविक धर्म है तथापि उसके संघात तथा विलयनमें विलक्षण तेजः संयोग कारण है। तात्पर्य यह है कि अधिक बल वाले दिव्य तेजका संयोग अन्तरीक्षस्थ जलमें सामान्य रूपसे वर्तमान अनुद्भूत रूप वाले तैजस द्रव्यको बाहर निकाल देता है।

और उसके बाहर निकल जानेसे शीघ्र ही जलवर्ती सांसिद्धिक द्रवत्वका प्रतिबन्ध हो जाता है और उसके प्रतिबन्ध द्वारा जल परमाणुओंका परस्पर संघात होनेसे ओले आदिकी उत्पत्ति होती है। यह विजातीय वायुके संयोग तथा गुरुत्वसे वर्षा द्वारा भूमिपर गिर पड़ते हैं और पुनः अदिव्य (भौम) तेजः संयोग द्वारा द्रवत्वके प्रतिबन्धकके निवृत्ति होनेसे पिघलने (द्रव होने) लगता है। (हिम—बर्फको और करक—ओला को कहते हैं)

नोट—द्रव और सान्द्र सापेक्ष्य गुण हैं अतः द्रवके निरूपणसे सान्द्रका भी निरूपण समझ लेना चाहिये।

गुर्वादि २० गुण (गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव) सामान्य गुण कहे जाते हैं। आयुर्वेद शास्त्रमें विशेषकर इन गुणोंका विवेचन चिकित्सा कार्यके लिये करना पड़ता है। इन गुणोंमें शीतोष्ण स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल, गुरु-लघु, मृदु-तीक्ष्ण इन गुणोंको रस वैशेपिकमें कर्मण्य गुण कहा है। इसीसे चरक सुश्रुत आदि संहिता ग्रन्थोंमें, नागाजनके इन कर्मण्य गुणोंको वीर्य भी कहा गया है। यह मत अष्टविध वीर्यवादियोंका है। आयुर्वेदमें इन गुणोंका अस्तित्व निम्न प्रकारसे वर्णित है—(रस वैशेषिक)—

"गौरवं पार्थिवमाप्यञ्च।" अर्थात् गुरु गुण पार्थिव और आप्य है, क्योंकि गुरु गुण पृथिवी और जलमें होता है। "लाघव मन्यदीयम्" अर्थात् लघु गुण अन्य तीनोंमें—वायु, आकाश तथा अग्निमें पाया जाता है। "शीत-स्निग्ध गुरु-पिच्छिलास्तत्राप्याः" अर्थात् शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल गुण आप्य है। ये गुण जलमें पाये जाते हैं। जहां कहीं भी शैत्य, स्निग्धता, गुरुत्व तथा पैच्छिल्यका अनुभव हो वहां जलकी स्थिति समझ लेनी चाहिये, क्योंकि ये गुण जलके सांसिद्धिक गुण हैं। जल स्वभावसे ही शीत, स्निग्ध, गुरु और पिच्छिल होता है। "तैजसमौष्ण्यं तैक्ष्ण्यं च" (र० वै० अ० ३) अर्थात् उष्ण और तीक्ष्ण गुण आग्नेय होता है। अग्निमें उष्णता तथा तीक्ष्णता होती है। तात्पर्य यह कि जिस द्रव्यमें उष्णता तथा तीक्ष्णता हो उसमें अग्निकी स्थिति समझनी चाहिये, क्योंकि उष्ण तथा तीक्ष्ण अग्निका स्वाभाविक गुण है। "रौक्ष्य वैशद्ये पार्थिव वायव्ये च।" (र० वै० अ० ३) अर्थात् रूक्ष और विशद गुण पार्थिव और वायव्य है। रूक्ष तथा विशद गुण पृथिवी और वायुमें रहते हैं।

"मार्दवमान्तरीक्षमाप्यञ्च" (र० वै० अ० ३) अर्थात् मृदुगुण आकाश और जलमें रहता है। "कठिनत्वं पार्थिवं" अर्थात् काठिन्य पृथिवीका गुण है। जहां जहां काठिन्य हो वहां वहां पृथिवीकी स्थिति समझनी चाहिये। "तैजसं श्लक्ष्णत्वं नाम" अर्थात् श्लक्ष्ण गुण तैजस है। जहां श्लक्ष्ण गुण हो वहां अग्निके

कारण समझना चाहिये, क्योंकि श्लक्ष्ण गुण अग्निकी अधिकता वाला है। जैसे घिसा हुआ मणि आदि स्नेहके बिना भी चिकना होता है। इसीको महाभाष्यमें "मृगमणीनां स्पर्शः, स खलु भास्वर सामान्यादग्निनोत्पद्यते" ऐसा कहा है। "कर्कशत्वं वायव्यम्" (र० वै० अ० २) अर्थात् कर्कश (खर) गुण वायव्य है। वायुमें खर गुण होता है। इसीसे भाष्यकारने "वायुः शोषणात्मकत्वात् व्यूहकरणाच्च पद्मनालादिषु कर्कश हेतुर्भवति" (भाष्य)। स्थिर गुण वातका स्तम्भन करने वाला, सर गुण वायुको प्रवृत्त कराने वाला, मन्दगुण कालकोप कराने वाला, सूक्ष्म गुण सूक्ष्म स्रोतोंमें प्रवेश करने वाला और स्थूल गुण स्रोतोंमें अवरोध करने वाला होता है। (इनका विशेष वर्णन द्रव्यगुण विज्ञान, यादवजी कृतमें देखें)

बुद्धिका निरूपण—

"सर्व व्यवहार हेतुर्ज्ञानं बुद्धिः" अर्थात् यह घट है यह पट है इत्यादि सम्पूर्ण व्यवहारोंके हेतु ज्ञानका नाम बुद्धि है। ज्ञान, उपलब्धि, प्रत्यय तथा बुद्धि ये चारों पर्य्याय शब्द हैं। अनुभूति तथा स्मृतिके भेदसे बुद्धि दो प्रकार की है। अनुभव तथा अनुभूति और स्मृति तथा स्मरण ये दोनों पर्याय शब्द हैं। "संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" अर्थात् संस्कारमात्र जो ज्ञान होता है उसे 'स्मृति' कहते हैं, या यों कहें कि पूर्व अनुभव किये हुये पदार्थका जो कालान्तरमें संस्कारवश ज्ञान होता है उसका नाम स्मृति है। भावित-स्मर्तव्य और अभावित-स्मर्तव्यके भेदसे स्मृति दो प्रकारकी होती है। स्वप्नावस्थामें होनेवाले ज्ञानका नाम 'भावित-स्मर्तव्य' और जागृतमें होने वाले स्मरणका नाम अभावित स्मर्तव्य है। उक्त स्मृतिसे जो भिन्न ज्ञान है उसे अनुभूति कहते हैं। यह अनुभूति 'विद्या' और 'अविद्या' भेदसे दो प्रकारकी होती है। 'तद्वतितत्प्रकारकानुभूतिर्विद्या' अर्थात् जो वस्तु जैसी हो उसका वैसा ही ज्ञान होना 'विद्या' है और इसके विपरीत ज्ञान होना 'अविद्या' है। तात्पर्य यह है कि यथार्थज्ञानका नाम विद्या है। प्रत्यक्षा, लैङ्गिकी तथा शाब्दीके भेदसे यह विद्या तीन प्रकारकी होती है। इसीको प्रत्यक्षज्ञान, अनुमिति ज्ञान तथा शब्द ज्ञान भी कहते हैं। विद्याकी भांति संशय तथा विपर्यय भेदसे अविद्या भी दो प्रकारकी है। "एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध नानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं संशयः" अर्थात् एक धर्मीमें विरुद्ध नाना धर्मोंको बताने वाले ज्ञानका नाम संशय है। "तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं विपर्ययः" अर्थात् जो धर्म जहां न हो वहां उसका ज्ञान होना विपर्यय है। इसीको वैशेषिकों तथा नैयायिकोंने 'अन्यथाख्याति" कहा है।

सुखका निरूपण—

"अनुग्रहलक्षणं सुखम्"

"धर्मजन्यमनुकूलवेदनीयं गुणः सुखम्।" (प्रशस्तपाद)

अर्थात्—धर्मसे जन्य तथा 'यह मुझे हो' इस प्रकार अनुकूल ज्ञानका विषय जो गुण है उसे 'सुख' कहते हैं। जो धर्मसे उत्पन्न होता है और परम प्रेमका विषय गुण है उसका नाम 'सुख' है।

दुःखका निरूपण—

"उपघातलक्षणं दुःखम्"

"अधर्मजन्यं प्रतिकूलवेदनीयं गुणो दुःखम्"। (प्रशस्तपाद)

अर्थात्—अधर्मसे जन्य और 'यह मुझे न हो' इस प्रकारका प्रतिकूल ज्ञान-का विषय, जो गुण उसको दुःख कहते हैं। जो अधर्मसे उत्पन्न होता है तथा परम द्वेषका विषय है उसे दुःख कहते हैं।

इच्छाका निरूपण—

"स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्त प्रार्थनेच्छा"। अपने तथा दूसरेके लिये अप्राप्त अर्थकी चाहनाका नाम 'इच्छा' है। आत्मा तथा मनके संयोगसे सुख और स्मृतकी अपेक्षासे यह उत्पन्न होती है। प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्मका यह हेतु है। काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा और भाव आदि इच्छाके भेद हैं। मैथुनेच्छाको काम, अभ्यवहारेच्छाको अभिलाषा, बार-बार विषयानुरञ्जनेच्छाको राग, अनासन्न क्रियाकी इच्छाको संकल्प, अपने स्वार्थ-को छोड़कर परदुःखको दूर करनेकी इच्छाको कारुण्य, दोषोंको देखकर विषय-त्यागकी इच्छाको वैराग्य, दूसरेको ठगनेकी इच्छाको 'उपधा' और अन्तर्निगूढ़ इच्छाको 'भाव' कहते हैं। चिकीर्षा, जिहीर्षा आदि क्रियाओंके भेदसे भी इच्छाके भेद होते हैं।

द्वेष निरूपण—

"प्रज्वलनात्मको द्वेषः। यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः"। (प्रशस्तपाद)

अर्थ—जिसके होनेसे अपने आपको प्रज्वलितके समान अनुभव हो उसे द्वेष कहते हैं। यह दुःख तथा दुःखद स्मृतिके कारण आत्मा और मनके संयोग होने पर उत्पन्न होता है। यह भी प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्मका हेतु है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष ये द्वेषके द्वेष हैं।

प्रयत्न निरूपण—

"प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः। स द्विविधोजीवनपूर्वक; इच्छाद्वेषपूर्वकश्च।"

"कृतिः प्रयत्नः"।

वस्तुके सम्पादनार्थ चेष्टाका नाम प्रयत्न है। प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये पर्याय शब्द हैं। प्रयत्न दो प्रकारका होता है—(१) जीवनपूर्वक प्रयत्न और (२) इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न। इनमें जीवनपूर्वक प्रयत्न वह है जो शयनकालमें प्राण अपान आदि (श्वास प्रश्वास आदि) का प्रेरक है और जाग्रत् अवस्थामें मनका इन्द्रियोंके साथ संयोग करानेमें हेतु है। धर्माधर्मकी अपेक्षासे जब आत्मा और मनका संयोग होता है तब जीवनपूर्वक प्रयत्नकी उत्पत्ति होती है। दूसरा अर्थात् इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न तो हित और अहितकी प्राप्ति एवं परिहारमें समर्थ होने वाले व्यापारका हेतु है और शरीर विधारक है। यह आत्मा और मनके संयोग होनेपर इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न होता है।

धर्म निरूपण—

"धर्मः पुरुषगुणः"। "विहित कर्मजन्यो गुणो धर्मः"

(प्रशस्तपाद, वै० द०)

धर्म-पुरुषका गुण है। वेद विहित कर्मोंके अनुष्ठानसे जो पुण्य उत्पन्न होता है उस गुणका नाम धर्म है। यह कर्ताके प्रिय (सुख) हित तथा मोक्षका साधन है।

अधर्म निरूपण—

"अधर्मोऽप्यात्मगुणः" (प्रशस्तपाद)

"निषिद्धकर्मजन्यो गुणोऽधर्मः"

अर्थात् अधर्म भी आत्मगुण है परन्तु यह कर्ताके अहित (दुःख) और प्रत्यवायका साधन है। वेद निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे जो पाप उत्पन्न होता है उस गुणका नाम अधर्म है।

परत्वापरत्व निरूपण—

"परत्वमपरत्वं च परापराभिधान प्रत्ययनिमित्तम्। तत्तु द्विविधं दिक्कृतं कालकृतं च। तत्र दिक्कृतं दिग्विशेष प्रत्यायकम्। कालकृतं च वयोभेद प्रत्यायकम्।" (प्रशस्तपाद)

अर्थ—परत्व और अपरत्व, पराभिधान अपराभिधान तथा परप्रत्यय एवं अपर प्रत्ययके कारण हैं। ये दो प्रकारके हैं—दिक्कृत् और कालकृत्। इनमें दिक्कृत् दिग्विशेषके बोधक हैं और कालकृत् वयोभेदके बोधक हैं। "देश-काल-वयो-मान-पाक-वीर्य-रसादिषु परापरत्वे।" (च० सू० अ० २६)

वक्तव्य—देश, काल, वय, मान (परिमाण) पाक (विपाक) वीर्य रस आदिमें परत्व और अपरत्व व्यवहारके हेतुभूत जो गुण हैं उनको परत्व और अपरत्व कहा जाता है। परत्व अर्थात् उत्कृष्टत्व और अपरत्व अर्थात् अवरत्व,

निकृष्टत्व, जैसे-देशमें मरुदेश पर-उत्कृष्ट, अनूप-अपर-निकृष्ट ; कालमें विसर्ग-पर, आदान-अपर, वयमें तरुणावस्था पर, अन्य अपर, शरीरके मानके स्थानमें जो प्रकृत मान कहा गया है वह-पर अन्य अपर, विपाक, वीर्य और रसोंमें जिनके लिये जो उपयोगी है वह-पर, अन्य अपर इत्यादि। वैशेषिक दर्शनमें 'वह-विप्रकृष्ट-दूर है, 'यह सन्निकृष्ट-समीप है' ऐसा प्रयोग जिन गुणोंके कारण होता है उनको क्रमशः 'परत्व' और 'अपरत्व' कहते हैं। उनके मतमें दैशिक और कालिक दो प्रकारका परत्व और अपरत्व होता है। जिसका देश अर्थात् स्थान से सम्बन्ध हो उसको दैशिक और जिसका काल अर्थात् समयसे सम्बन्ध हो उसको कालिक कहते हैं। जैसे दूरदेशीय, निकटदेशीय, दूरकालीन, समीपकालीन इत्यादि परत्वापरत्वके अर्थमें व्यवहृत होते हैं। आयुर्वेदाचार्योंने सन्निकृष्ट यानि उपयोगितामें समीप (प्रधान उत्कृष्ट) और विप्रकृष्ट यानि उपयोगितामें दूर (अप्रधान-निकृष्ट) ऐसा अर्थ लेकर देश, काल, वय, मान, विपाक, वीर्य, रस आदिमें परत्वापरत्व सम्बन्ध बताया है।

युक्तिनिरूपण—

"युक्तिश्च योजना या तु युज्यते" (च० सू० अ० २६)

"या-कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते। अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते, पुत्रोऽपुत्रवत्।"

युक्ति-योजना—दोष, देश, प्रकृति, काल आदिको देख करके की हुई (औषधि आदिकी) सम्यक् योजना-कल्पनाको युक्ति कहते हैं। यदि यह कल्पना अयौगिकी (अयुक्त) हो तो कल्पनाके होनेपर भी युक्ति नहीं कहलाती।

संख्या निरूपण—

"संख्या स्याद् गणितम्" (च० सू० अ० २६)

"एकत्वादिव्यवहार हेतुः संख्या।" (वै० द०)

गणनाके व्यवहारके हेतु एक दो तीन आदिको संख्या कहते हैं।

"एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा।
लक्षंच नियुतञ्चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥
वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शंङ्खःपद्मश्चसागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्धश्च दशवृद्ध्या यथा क्रमम् ॥"

इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, दसहजार, लाख, दसलाख, करोड़, दसकरोड़, अरब, दसअरब, वृन्द, दसवृन्द, खर्व, दसखर्व, निखर्व, दसनिखर्व, शङ्ख, दसशङ्ख, पद्म, दसपद्म, सागर, दससागर, अन्त्य, दसअन्त्य, मध्य, दसमध्य, परार्ध,

दसपरार्ध। इस प्रकार यथाक्रम दश-दश बढ़ाकर परार्ध पर्यन्त संख्या है। उक्त संख्याके मध्य, "एक" संख्या जीव, ईश्वर तथा प्रकृति इन तीन नित्य पदार्थोंमें नित्य तथा अन्य अनित्य पदार्थोंमें अनित्य है। और दो से लेकर परार्ध पर्यन्त जितनी संख्या है वह सब अपेक्षा बुद्धिजन्य होनेसे सर्वत्र अनित्य है।

अपेक्षाबुद्धि—"अयमेकोऽयमेक इत्याकार बुद्धिरपेक्षाबुद्धिः" अर्थात् यह एक है, यह एक है इस प्रकारके पृथक्-पृथक् ज्ञानका नाम अपेक्षा बुद्धि है।

संयोगनिरूपण—

"योगः सह संयोग उच्यते।

द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैक कर्मजोऽनित्य एव च॥" (च० सू० अ० २६)

"संयुक्त व्यवहार हेतुः संयोगः।" (वै० द०)

दो या अधिक द्रव्योंका साथ योग होना--साथ मिलना संयोग कहलाता है। यह संयोग द्वन्द्वकम (दोके कर्म चेष्टा) से, सर्वकर्म (अनेकोंके कर्म) से, या एकके कर्मसे होता है और यह अनित्य है। जैसे लड़ते हुए दो मेंढोंका संयोग 'द्वन्द्वकर्मज' दोकी चेष्टासे होनेवाला संयोग है। एक पात्रमें डाले हुए उर्दोंका संयोग 'सर्वकर्मज' है, क्योंकि इसमें अनेक उर्दोंका एक साथ मिलना होता है। बृक्ष और काकका संयोग एक कर्मज है क्योंकि यह अकेले काककी चेष्टासे होता है। विभागसे संयोगका नाश होता है इसलिये संयोग अनित्य है।

वक्तव्य—दो वस्तु परस्पर जुड़ी हुई हैं, इस व्यवहारके हेतु गुणको संयोग कहते हैं। यह सब द्रव्योंमें रहता है। संयोग दो वस्तुओंका बाह्य सम्बन्ध है। जो पदार्थ पहलेसे सम्बद्ध नहीं थे उनका समय विशेषमें साथ मिल जाना 'संयोग' कहलाता है। "अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।" वैशेषिक-वाले 'अन्यतरकर्मज', 'उभयकर्मज' और 'संयोगज' ये तीन प्रकारके संयोग मानते हैं। अन्यतरकर्मज (एककर्मज) और उभयकर्मज (द्वन्द्वकर्मज) का उदाहरण मूलमें दिया हुआ है। हाथ और शाखाके संयोगसे शरीर और बृक्ष का जो संयोग होता है उसे संयोगज संयोग कहते हैं। उर्दका ऊपर जो उदाहरण दिया गया है वह ठीक नहीं, क्योंकि उर्द अचेतन द्रव्य है अतः उनमें कर्मकी कल्पना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती। यदि मेले आदिकी भीड़में परस्पर संलग्न होकर जमा हुए मनुष्योंका उदाहरण देते तो उपयुक्त होता। क्योंकि मनुष्य सचेतन है अतः उनका संयोग सर्वकर्मजका ठीक उदाहरण बन सकता है

विभागनिरूपण—

"विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः।"

(च० सू० अ० २६)

"संयोगनाशको गुणो विभागः।" (वै० द०)

विभक्त होना—संयोगका वियोग होना और विभक्ततया ग्रहण होना इसे विभाग कहते हैं। जिसके द्वारा संयोगका नाश होता है उस गुणको विभाग कहते हैं। यह भी संयोगकी तरह 'द्वन्द्वकर्मज' 'सर्वकर्मज' और 'एककर्मज' इस प्रकार तीन प्रकारका होता है। संयोगसे विभागका नाश होता है इसलिये यह भी अनित्य है। वैशेषिकवाले विभागके भी 'अन्यतरकर्मज' 'उभयकर्मज' और 'विभागज' ऐसे तीन प्रकारके विभाग मानते हैं। जहाँ एक विभाग हो जानेसे दूसरा विभाग भी हो जाता हो उसे विभागज विभाग कहते हैं, जैसे—किसी शाखा से पत्ता गिरनेपर शाखाके साथ-साथ वृक्षसे भी विभाग हो जाता है।

पृथक्त्व निरूपण—

"पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता"

(च० सू० अ० २६)

"पृथक् व्यवहारसाधारण कारणं पृथक्त्वम्" (वै० द०)

यह 'पट' 'घट' से पृथक् है। इस प्रकारकी बुद्धि जिससे उत्पन्न होती है उसे पृथक्त्व कहते हैं। अथवा पृथक् व्यवहारके असाधारण कारणको पृथक्त्व कहते हैं। जैसे यह इससे पृथक्—जुदा है, इस व्यवहारके असाधारण कारण गुण विशेषका नाम पृथक्त्व है। यह सब द्रव्योंमें रहता है। पृथक्त्व तीन प्रकारका होता है। (१) असंयोग लक्षण—जिनका कभी भी संयोग न हो ऐसे मेरु और हिमाचलका पृथक्त्व, (२) वैलक्षण्यरूप—विशिष्ट लक्षणयुक्त विजातीय द्रव्योंका पृथक्त्व, जैसे—गाय, भैंस, सूअर आदि, (३) अनेकतारूप—समजातीयोंका भी एक दूसरेसे पृथक्त्व, जैसे अनेक उड़दोंका सजातीय होनेपर भी एक दूसरेसे पृथक्त्व होता है।

परिमाण निरूपण—

"परिमाणं पुनर्मानम्" (च० सू० अ० २६)

"मानव्यवहारासाधारण कारणं परिमाणम्" (वै० द०)

माप या तोलसे जो मान किया जाता है उस मान व्यवहारका हेतुभूत जो गुण वह 'परिमाण' कहलाता है। छोटा, बड़ा, लम्बा, चौड़ा इस प्रकारके व्यवहारका जो असाधारण कारण गुण है उसको 'परिमाण' कहते हैं। यह सब द्रव्योंमें रहता है और अणु, महत्, ह्रस्व तथा दीर्घ ये चार इसके भेद हैं।

संस्कार निरूपण—

"संस्कारः कारणं मतम्" (च० सू० अ० २६)

"सामान्यगुणात्म विशेष गुणोभयवृत्ति गुणत्व व्याप्य जातिमान् संस्कारः"। (वै० द०)

"संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च"। (प्रशस्तपाद)

मर्दन, भावना, रंधन आदि अनेक प्रकारकी क्रियाओं द्वारा किसी वस्तुमें गुणान्तराधान करनेको 'संस्कार' कहते हैं। आयुर्वेदोक्त संस्कार वैशेषिक संस्कारसे भिन्न है। वैशेषिकमें संस्कारके तीन भेद बतलाये गये हैं।

(१) वेगाख्य, (२) भावनाख्य और (३) स्थितिस्थापकाख्य। मूर्तिमान् द्रव्योंमें (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, तथा मन) कारण विशेषसे जो गति-प्रवाह उत्पन्न होता है उसको वेग नामक संस्कार कहते हैं। पूर्वानुभूत विषयोंका स्मरण या प्रत्यभिज्ञा (पहचान) जिस संस्कार द्वारा होता है, उसको "भावनाख्य संस्कार" कहते हैं। जिस गुणके कारण पदार्थोंके अवयव स्थान-च्युत हो जानेपर पुनः अपने स्वाभाविक स्थानमें आ जाते हैं उसे "स्थिति-स्थापकाख्य संस्कार" कहते हैं। जैसे-वृक्षकी शाखाको पकड़कर झुका दीजिये वह नीचे चली जायगी; किन्तु उसे छोड़ देनेपर वह तुरन्त ही अपने स्थानपर जा पहुंचेगी।

अभ्यास निरूपण—

"भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रियाः"

(च० सू० अ० २६)

जिसे भावाभ्यसन (पदार्थोंका बारंबार अभ्यास करना—पुनः पुनः सेवन करना), शीलन (एक ही पदार्थका अनुशीलन करना) और सततक्रिया (एक ही क्रियाको बारंबार करना) कहा जाता है वह अभ्यास है।

नोट—इस प्रकारसे परादि दस गुण, जिनके यथावत् ज्ञानके बिना चिकित्सा कार्य ठीक नहीं हो सकता है उनका लक्षण कहा गया है।

गुण सदा किसी द्रव्यमें रहता है जैसे—

द्रव्य	विशेष गुण	सामान्य गुण		
१ पृथिवी	गन्ध	रस, रूप, स्पर्श	संयोग विभाग	संख्या परिमाण पृथक्त्व
२ जल	रस	रस, रूप, स्पर्श द्रवता, स्निग्धता		
३ अग्नि	रूप	रूप, स्पर्श		
४ वायु	स्पर्श	स्पर्श		
५ आकाश	शब्द	शब्द		
६ काल				
७ दिशा			परत्व, अपरत्व	
८ आत्मा			परत्व, अपरत्व	

कणादने सिर्फ ११ गुण माने थे—रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व और अपरत्व। किन्तु पीछेके आचार्योंने १३ और बढ़ा दिये—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, लघुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द। इनमें द्रवत्व, स्नेह और शब्दको कणादने जल और आकाशके गुणोंमें गिना है।

कर्म लक्षण—

"संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यद्- अपेक्षते॥"

(च० सू० अ० १)

"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्"

(वै० द० १।१।१७)

अर्थ—जो एक द्रव्याश्रित गुणसे रहित संयोग तथा विभागके उत्पन्न करनेमें अपनेसे उत्तरभावी किसी भावपदार्थकी अपेक्षा न करता हुआ कारण है, उसे कर्म कहते हैं।

वक्तव्य—जो संयोग तथा विभागकी भाँति दो द्रव्योंके आश्रित नहीं रहता, किन्तु एक द्रव्यके आश्रित ही रहता है उसका नाम 'एकद्रव्य' है। जिसमें कोई गुण नहीं रहता उसका नाम है 'अगुण' तथा जो संयोग विभागके उत्पन्न करनेमें अपनी उत्पत्तिसे अनन्तर उत्पन्न होनेवाले भावपदार्थकी अपेक्षा नहीं करता उसका नाम 'संयोगविभागेष्वनपेक्षकारण' है। इन तीनोंके मिलनेसे कर्मका यह लक्षण निष्पन्न होता है कि द्रव्योंके परस्पर संयोग तथा विभागको उत्पन्न करता है तथा उनके उत्पन्न करनेमें समवायी द्रव्य तथा पूर्ण संयोग नाशकी अपेक्षा करता हुआ भी अपनी उत्पत्तिसे पीछे उत्पन्न होनेवाले किसी भावपदार्थकी अपेक्षा नहीं करता और सर्वदा नियमसे एकद्रव्यके आश्रय रहता और आप किसी गुणका आश्रय नहीं होता; उसको 'कर्म' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि कर्म सदा द्रव्यमें ही होता है अन्यमें नहीं। जिस द्रव्यमें वह उत्पन्न होता है उस द्रव्यका पूर्वदेशसे विभाग करके उत्तर देशके साथ संयोगको उत्पन्न करता है। उक्त संयोग तथा विभागका समवायी कारण 'द्रव्य' और निमित्त कारण 'कर्म' है। वह कर्म उक्त संयोग विभागके उत्पन्न करनेमें समवायी कारण द्रव्यकी सहायता लेता हुआ भी किसी अन्यकी सहायता नहीं लेता, अतएव उसे संयोग विभागको उत्पन्न करनेमें अनपेक्ष कारण कहा गया है। कर्म निरूपण करते हुये चरकसंहितामें कहा है कि—"प्रयत्नादिकर्म-चेष्टितमुच्यते" (च० सू० १) अर्थात् ऐसी चेष्टा जो प्रयत्न-जीवनयोनि प्रवृत्ति

और निवृत्ति आदिके कारण है उसे कर्म कहते हैं। गुणके समान ही कर्म द्रव्यमें आश्रित रहनेवाला धर्म है। कर्मका अर्थ है क्रिया या गति। 'क्रिवि क्षेपे' धातुमें 'मनिन्' प्रत्यय लगानेसे कर्मन् शब्द बनता है ; जिसके प्रथमा-का रूप 'कर्म' होता है (क्रि मनिन् क्रियायाम्—श० स्तो०)। द्रव्य कर्मका आश्रय हो सकता है पर कर्म द्रव्यका आश्रित विशेष धर्म है। कर्म गुणसे भी भिन्न है। गुण द्रव्यका सिद्ध धर्म है, अर्थात् वह अपने स्वरूपको प्राप्त कर चुका है पर कर्म अभी साध्यावस्थामें है। उसके स्वरूपका अन्तिम निश्चय नहीं हो सका है। वह वस्तुओंके संयोग तथा विभागका स्वतन्त्र कारण है। कर्म की मूर्त द्रव्योंमें ही वृत्ति रहती है। अल्प परिमाणवाले द्रव्य ही मूर्त माने जाते हैं। "इयत्तावच्छिन्न परिमाण योगित्वं मूर्तत्वम्" (सप्त पदार्थी)। व्यापी—विभु द्रव्य मूर्त नहीं हो सकता "सकल मूर्तसंयोगित्वं विभुत्वम्" (सप्त पदार्थी) इस प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन इन्हीं पांच मूर्त द्रव्योंमें कर्मकी वृत्ति रहती है। विभुद्रव्य जैसे आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा में कर्मकी कथमपि सम्भावना नहीं है। गुण और कर्म दोनों ही द्रव्यमें आश्रित होकर रहते हैं परन्तु गुण द्रव्यके अन्दर निश्चेष्ट होकर या चेष्टारूप जो कर्म उससे भिन्न होकर रहता है। जैसे मनुष्यके शरीरका गुरुत्व एक गुण है पर उसका गिर पड़ना (पतन) एक घटना या कर्म है। इसीसे कर्मका लक्षण— "कर्मत्वञ्च क्रियामात्र वृत्तिसत्ता साक्षाद् व्याप्य जातिमत्वम्" अर्थात् जो क्रिया-मात्रमें रहनेवाली सत्ता साक्षात् व्याप्य जातिवाली है वह कर्म है, ऐसा किया है। कर्म दो तरहके होते हैं (१) लौकिक और (२) आध्यात्मिक। लौकिक कर्म—द्रव्याश्रित संयोग विभागमें अनपेक्षकारण होता है। जैसे (१) उत्क्षेपक (ऊपरकी ओर गति। (२) अपक्षेपण (नीचेकी ओर गति)। (३) आकुञ्चन (सिकुड़ना)। (४) प्रसारण (सर्वत्र फैलना)। (५) गमन (सामनेकी गति)। और आध्यात्म कर्म विहित सद्वृत्तादि मङ्गल स्वस्तयन आदिका अनुष्ठान है, जो स्वस्थातुर हितके लिये होता है।

कर्मके भेद--

"उत्क्षेपणं ततोऽपृक्षेपणमाकुञ्चनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पंच च ॥
भ्रमणं रेचनं स्पन्द-नोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्य्यग्गमनमप्यत्र गमनादेवलभ्यते ॥"

(कारिकावली)

उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पांच कर्म हैं। भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन आदि गमन कर्मसे समझना चाहिये।

उत्क्षेपण—ऊपरको ओर गति करना। शरीरावयवोंमें तथा उसके सम्बन्धमें जो ऊपरके प्रदेशोंसे संयोगका कारण और नीचेके भाग तथा प्रदेशोंसे विभागके कारण रूप जो कर्म उत्पन्न होता है उसे उत्क्षेपण कहते हैं। जैसे—हाथ तथा हाथसे सम्बद्ध मूसल आदिका ऊपरकी ओर उठाना या फेंकना।

अपक्षेपण—नीचेकी ओर गति करना। उत्क्षेपणके विपरीत गतिको अपक्षेपण कहते हैं अर्थात् अधोदेश आदिसे संयोगका कारण और ऊर्ध्वदेशसे विभागका कारण रूप कर्म अपक्षेपण है।

आकुञ्चन—सिकुड़ना। किसी ऋजु–सीधे द्रव्यके अग्रभागका उस प्रदेशसे विभाग और मूल प्रदेशसे संयोगरूप सिकुड़नेके कर्मको आकुञ्चन कहते हैं।

प्रसारण—फैलना। आकुञ्चनके विपरीत अर्थात् अग्रभागका मूल प्रदेशसे विभाग और अन्य प्रदेशसे संयोगरूप कर्म सब दिशाओंमें फैलनेको प्रसारण कहते हैं।

गमन—जिसके संयोग विभागके कारणरूप कर्मकी दिशा तथा प्रदेश अनियत हो उसे गमन कहते हैं। गमन कर्मके अन्दर भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन तथा तिर्यग्गमन आदि सभी कर्म आ जाते हैं।

———:❀:———

सामान्य विशेष विज्ञान

द्वितीय-अध्याय (तृतीय पाद)

——:※:——

सामान्य निरूपण—

"सामान्यमेकत्वकरम्" तुल्यार्थता हि सामान्यम्" (च० सू० अ० १)

"अनुवृत्ति प्रत्ययहेतु एकमनेकसमवेतं च सामान्यम्।

तदेकत्वकरं वृद्धिकरं सादृश्यं च ॥" (सप्तपदार्थी)

"नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्वम्" (विश्वनाथ)

"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्"

(च० सू० अ० १)

सामान्यं—"यदनेकासु भिन्नदेश कलासु गवादिव्यक्तिषु" "अयं गौरयं गौ" इत्यादि प्रकारा एकाकारा बुद्धिस्तत्सामान्यम्। न हि भिन्नासु व्यक्तिषु अभिन्नं सामान्यमेकरूपं विनाऽभ्रान्ता एकाकारा बुद्धिर्भवतीति-भावः। यथापि च "अयं पाचकोऽयं पाचकः" इति तथा "अयं शुक्लोऽयं शुक्लः" इति प्रभृतिषु क्रियागुणादि सामान्यादेकरूपा बुद्धिस्तत्रापि सामान्यमेकक्रियागुणादिगतमेकरूपाध्यवसाये हेतुः। न ह्येकस्मिन् पाचके या क्रिया सा पाचकान्तरेऽपि किं तर्हि तज्जातीया। अतः क्रियासामान्यं तत्राप्येकत्वाध्यवसाये कारणम्। (चक्रपाणिः)

अर्थ—सामान्य एकत्व करने वाला है। तुल्यार्थता ही सामान्य है। भिन्न-भिन्न देश और समयमें अनेक गवादि व्यक्तियोंमें "यह गौ है, यह गौ है" इस प्रकारकी एकता बुद्धिको उत्पन्न कराने वाला जो पदार्थ है, वह सामान्य है। क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें अभिन्न, सामान्य तथा एक रूप जबतक न हो तबतक भ्रमरहित एकाकार बुद्धि नहीं होती। जैसे "यह पाचक है, यह पाचक है" ऐसी बुद्धि तथा "यह शुक्ल है, यह शुक्ल है" इस प्रकारकी बुद्धि उस व्यक्तिमें क्रियागुणादिके सामान्यके कारण ही उत्पन्न होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि एक पाचकमें जो क्रिया है वही दूसरे पाचकमें भी है किन्तु एक जातीय क्रिया है अतः क्रिया सामान्यसे वहां एक बार बुद्धि उत्पन्न हुई है।

स्व विषयके सब वस्तुओंमें रहनेवाला, आत्मास्वरूपानुगम प्रत्ययका उत्पादक अनुवृत्ति प्रत्ययका कारण सामान्य होता है। सामान्य नित्य एक तथा अनेकमें अनुगत, समवाय सम्बन्धसे सम्बद्ध रहता है। यह एकत्व, वृद्धि तथा सादृश्यको उत्पन्न करने वाला है।

वक्तव्य—अनेक द्रव्योंमें रहने वाला नित्य पदार्थ सामान्य है, जैसे पृथिवीत्व (पृथ्वीपन) अनेक पार्थिव द्रव्योंमें गोत्व (गायपन) अनेक गौओंमें रहने वाला नित्य पदार्थ है। गायें लाखों आज, पहले और आगे भी नष्ट होती रहेंगी किन्तु गोत्व नष्ट नहीं होता। यह आजकी सारी गायोंमें जिस तरह मोजूद है, उसी तरह पहले भी था और आगेकी गायोंमें भी रहेगा, इस प्रकार गोत्व (सामान्य) नित्य है। "समानां भावः सामान्यम्" अर्थात् सम पदार्थोंके भावको ही सामान्य कहते हैं। द्रव्य, गुण, तथा कर्म इन तीनों पदार्थोंमें जो द्रव्य, गुण, कर्म है वह इस प्रकारको प्रतीति होती है कि उसका नाम 'अनुगतबुद्धि' 'अनुवृत्तिप्रत्यय' है। इस अनुगतबुद्धि तथा अनुवृत्तिप्रत्ययके हेतुको सामान्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भिन्न पदार्थोंमें जो समान प्रकारकी बुद्धि होती है उसको अनुगत बुद्धि कहते हैं। द्रव्य, गुण तथा कर्म ये तीनों पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, परन्तु इनमें 'द्रव्यंसत्, गुणः सत्, कर्म सत् इस प्रकारकी समानरूपसे अनुगतबुद्धि पाई जाती है और जो-जो बुद्धि होती है वह बिना किसी कारणके नहीं हो सकती, क्योंकि वह जन्य होनेसे कारण वाली है, जैसा कि 'घटबुद्धि' घटरूप कारण वाली है और पटबुद्धि पटरूप कारण वाली है। बुद्धिमें आत्म मनः संयोग आदि साधारण कारण और विषय असाधारण कारण है। "द्रव्यंसत्" इत्यादि बुद्धि भी अन्य घटपटादि बुद्धियोंकी भांति असाधाण कारण वाली अवश्य होनी चाहिये। द्रव्य, गुण तथा कर्म ये तीनों परस्पर विलक्षण होनेसे उक्त बुद्धिके कारण नहीं हो सकते और अन्य कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, परिशेषसे जो इस बुद्धिका सत्तारूप कारण सिद्ध होता है उसको सामान्य कहते हैं।

सामान्यके भेद—

"सामान्यं द्विविधंप्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादि त्रिक् वृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते॥
परभिन्नातु या जातिः सैवा परतयोच्यते।
द्रव्यत्वादिक जातिस्तु परापरतयोच्यते॥
व्यापकत्वात्परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च॥

(कारिकावली १-८)

व्यापकताकी दृष्टिसे सामान्य दो प्रकारका होता है। (१) परसामान्य, (२) अपरसामान्य। द्रव्यादि तीनमें रहने वाली सत्ताको परसामान्य और परसे भिन्न जातिको अपरसामान्य कहते हैं। द्रव्यादिक जाति तो परापर सामान्य व्यापक होनेसे 'पर' और व्याप्य होनेसे 'अपर' भी है।

वक्तव्य—जब हम द्रव्योंके बहुत्वका प्रतिपादन करते हैं, तो यह निर्विवाद है कि उन द्रव्योंमें परस्पर कोई सम्बन्ध होना चाहिये। वे द्रव्य परस्पर साम्य होनेसे ही द्रव्य कहलाते हैं और कुछ विभिन्नताके कारण उनमें परस्पर पार्थक्य भी है। जब हम किसी एक गुणको अनेक द्रव्योंमें पाते हैं तो उसे सामान्य कहते हैं। कणादने सामान्यको बुद्ध्यपेक्ष्य (Conceptual Product) अर्थात् अपेक्षा बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ कहा है परन्तु प्रशस्तपादने इसे नित्य एक तथा अनेक द्रव्य गुण और कर्ममें रहने वाला पदार्थ कहा है। संयोग और द्वित्व भी अनेक द्रव्योंमें समवेत हैं पर वे नित्य नहीं हैं। इसी प्रकार आकाश नित्य होने पर भी अनेकमें समवेत नहीं है। अभाव भी नित्य और अनेक वस्तुओंका गुण है पर उनमें समवेत नहीं है अर्थात् उपादान कारण नहीं है इसी प्रकार विशेष भी सामान्य नहीं हो सकता क्यों कि ऐसी परिस्थितमें वह अपने स्वभाव से वञ्चित हो जायगा और सदा सामान्यके साथ भ्रमावह होगा। समवायको सामान्यके साथ नहीं मिला सकते क्यों कि ऐसा करनेसे समवायका भी समवाय होने लगेगा और फिर अनन्त समवायकी कल्पना होनेसे अनवस्था-दोष हो जायगा। अतः सामान्य, जिससे हम भिन्न-भिन्न द्रव्योंको भी एक जातिमें शुमार करते हैं, एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह नित्य (Eternal) एक और अनेकानुगत है। यह अपने जातिके सब विषयोंमें रहने वाला (स्व विषय सर्वगतं) अभिन्न रूप वाला (अभिन्नात्मकं) अनुवृत्तिप्रत्ययका कारण (अनुवृत्ति प्रत्यय कारणं) है। द्रव्य, गुण तथा कर्मके अन्दर सामान्य है पर सामान्य विशेष समवाय और अभावके अन्दर सामान्य नहीं है। सामान्य दूसरे सामान्यमें नहीं रह सकता। वृक्षत्व और घटत्व ये परस्पर सामान्य हैं अतः इनमें कोई दूसरा सामान्य नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा करनेसे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा।

सामान्य दो प्रकारका होता है, (१) परसामान्य, (२) अपरसामान्य। सबसे अधिक व्यक्तियोंमें रहनेवाली जातिको 'परसामान्य' और सबसे कम व्यक्तियोंमें रहनेवाली जातिको 'अपरसामान्य' कहते हैं। जो दोनोंके बीचमें रहनेवाली जाति है वह 'परापरसामान्य' कहलाती है। जैसे द्रव्य, गुण कर्म इन तीनमें पदार्थत्व जाति 'परसामान्य' है, इसे 'सत्ता' भी कहते हैं, क्योंकि इसके अन्दर अन्य सभी सामान्य आ जाते हैं। द्रव्यत्व तथा घटत्व आदि इसके उदाहरण हैं।

ये पर, अपर तथा परापर सामान्य सदा सापेक्ष्य होते हैं। चरक संहिता में उक्त सामान्यकी व्याख्या करते समय टीकामें चक्रपाणिने—"अन्ये तु व्याख्यानयन्ति" इस पदके साथ सामान्यके 'द्रव्यगोचर', 'गुणगोचर' तथा 'कर्मगोचर' भेदका उद्धरण दिया है और "सामान्यमेकत्वकरम्" इसको गुण-सामान्य कहा है। इसका उदाहरण भी "पयः शुक्रयोर्भिन्न जातीययोरपि मधुरत्वादि सामान्यं तत्रैकतां करोति" आर्थात् शुक्रसे भिन्न होनेपर भी दूध माधुर्यगुणसे शुक्रको बढ़ाता है या एकताको उत्पन्न करता है-दिया है। 'तुल्यार्थता' आदि सामान्यकी परिभाषाको कर्मसामान्यकी परिभाषा कहा है। इसके उदाहरणमें बताया है कि आस्यारूप (बैठे रहना) कर्म, श्लेष्मके समान न होनेपर भी कफको बढ़ाता है। द्रव्य सामान्यकी परिभाषा "सर्वदा सर्वभावनां सामान्यं वृद्धिकारणम्" सब भावोंके वृद्धिका कारण सामान्य है--ऐसा कहा है। परन्तु भट्टार हरिश्चन्द्रने इसका खण्डन इस युक्तिके साथ किया है कि उक्त तीनों प्रकारका सामान्य "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं" इस परिभाषासे हो गृहीत हो जाता है अतः उक्त सामान्यके भेद अयुक्तियुक्त है। वस्तुतः निम्न तीन सामान्यके भेद हो सकते हैं। जैसे—(१) अत्यन्त सामान्य, (२) मध्यसामान्य और (३) एकदेशसामान्य। इनमें 'सर्वदा' इत्यादिवाला अत्यन्त सामान्य, 'एकत्वकरमित्यादि' मध्यसामान्य और 'तुल्यार्थताहीत्यादि' एकदेशसामान्य है। चक्रपाणिने उक्त त्रैविध्य कथनको विशेष प्रयोजनवाले नहीं होनेसे विशेष श्रद्धायोग्य नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया है और कहा है कि कितने आचार्य सामान्यको दो प्रकारका मानते हैं। उभय वृत्ति तथा एक वृत्ति। जैसे—"मांस मांसवर्धकं" इसमें उभयवृत्ति सामान्य है क्योंकि मांसत्व पोष्य तथा पोषक दोनोंमें होनेसे 'उभयवृत्ति सामान्य' है।

एकवृत्ति सामान्यका उदाहरण—"घृतमग्निकरं" इत्यादि अर्थात घृतसेवन अग्निको बढ़ाता है। यहाँ घृत अग्निके समान नहीं है फिर भी प्रभावसे अग्निको बढ़ाता है अतः बृद्धिकर होनेसे सामान्यके उदाहरणमें कहा गया है। घृतमें घृतत्व बृद्धिकर है अतः एकवृत्ति सामान्य रूप कहा गया है। इसी प्रकार धावनादिसे वायुको बृद्धि तथा स्वप्नसे कफकी बृद्धि आदि एकवृत्ति सामान्यके उदाहरण हैं। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि समान तथा असमान दोनों प्रकारके द्रव्य बृद्धिके कारण हो सकते हैं। सामान्य होनेसेही वृद्धि होती है ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रशस्तपादने अपरसामान्यकी व्याख्या करते समय स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया है कि "अपरं द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्वादि अनुवृत्तिव्यावृत्ति हेतुत्वात् सामान्यं विशेषं च भवति" अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति हेतुसे अपर सामान्य तथा विशेष होता है।

जैसे द्रव्यत्व पृथिव्यादि द्रव्योंमें परस्पर आविष्ट होनेसे अनुवृत्ति हेतुके कारण सामान्य है और गुण कर्मसे पृथक् होनेके कारण व्यावृत्ति हेतुसे विशेष है। इसी प्रकार गुणत्व परस्पर रूपादिमें आविष्ट होनेके कारण अनुवृत्ति हेतुसे सामान्य तथा द्रव्य कर्मसे व्यावृत्ति हेतुके कारण विशेष है। कर्मत्व भी उत्क्षेपणवृत्ति कर्मोंमें परस्पर आविष्ट होनेसे अनुवृत्ति हेतुके कारण सामान्य और द्रव्यगुणके व्यावृत्ति हेतुके कारण विशेष है। इस प्रकार पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्व प्राणीगत और अप्राणिगत गोत्वादि घटत्व पटत्व आदि अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति हेतुसे क्रमशः सामान्य और विशेष भाव हुआ करते हैं। चक्रपाणि इस सम्बन्ध में कहते हैं कि—"यत्तूच्यते कर्मसामान्यं नेह तन्त्रे वृद्धिकारणमस्ति। यतो न धावनेन वायुः समान इति। अतएवाचार्येण द्रव्यसामान्यमुक्तं 'मांसमाप्यायते मांसेन' इत्यादिना तथा "सामान्यगुणानामाहारविकाराणामुपयोगः" इत्यादिना गुणसामान्यमुक्तम्। नैवं कर्मसामान्यमुक्तम्।" अर्थात् यह जो कहा गया है कि इस (आयुर्वेद शास्त्र) में कर्मसामान्य वृद्धिका कारण नहीं है क्योंकि धावन (दौड़ लगाने) से वायुकी कोई समानता नहीं ; इसीलिये आचार्योंने 'मांससे मांसकी वृद्धि होती है' यह द्रव्य सामान्यका उदाहरण दिया है और 'सामान्य गुणोंके आहार विकारका उपयोग' इत्यादि गुण सामान्यको भी कहा है। परन्तु इस प्रकार कर्म सामान्यका जिक्र नहीं किया है। कहीं-कहीं "यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदा सेव्यम्" अर्थात् जो जिस धातुको बढ़ानेवाला हो उसका सेवन करना चाहिये इत्यादि जो कर्मके समर्थक वचन मिलते हैं, उनमें सामान्यका उपग्रह नहीं होता, क्योंकि वहाँपर भी द्रव्य प्रभावके कारण ही वृद्धि देखी जाती है और इसीसे कर्मोंके सामान्यका उपग्रह किया जाता है। इसमें कर्म सामान्य का अभाव वृद्धिका कारण नहीं है, क्योंकि देखा जाता है कि क्रियाशील वायुकी क्रियायुक्त शारीरिक व्यायामसे वृद्धि और निष्क्रिय अव्यायामसे ह्रास होता है। अतः कर्म सामान्य भी होता है। जहाँ इस प्रकारसे कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित न किया जा सके वहाँ प्रभाव मान लेना चाहिये। "मांसं मांसं वर्धयति सामान्यात् विशेषाच्च वातं क्षपयति" इस स्थानपर एक शङ्का उपस्थित करते हैं कि एक ही पदार्थ सामान्य तथा विशेष कैसे हो सकता है? क्योंकि एक ही मनुष्य एक समयमें दो काम नहीं कर सकता। इसका समाधान यों करते हैं कि जिस प्रकार शब्द एक समयमें ही अनेक शब्दोंको उत्पन्न करता है तथा अग्नि प्रकाश और दाह एक ही साथ उत्पन्न करती है उसी प्रकार मांस अपने समान गुणवाले मांसकी वृद्धि तथा विपरीत गुणवाले वातका शमन करता है। इसीलिये शास्त्रोंमें द्रव्यगुण वर्णनमें स्पष्टरूपसे कहा है कि—"तस्माद् भेषजं सम्यगवचार्यमाणं युगपत् ऊनातिरिक्तानां

धातूनां साम्यकरं भवति। अधिकमपकर्षति। न्यूनमाप्याययति इति"। अर्थात् ठीक-ठीक व्यवहार किया हुआ औषधि कमबेश हुए धातुओंको साम्यावस्थामें लाता है, अधिकको कम करता है और कमको बढ़ाता है। यह जो कहते हैं कि गरमीके दिनोंमें मधुर आदि रसोंके सेवनसे भी कफकी वृद्धि नहीं देखी जाती अतः क्षीयमाण धातुओंकी वृद्धिमें समान गुणवाला आहार आदि वृद्धिका कारण नहीं है। ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि ग्रीष्मकालकी गर्मी धातु (कफ) की वृद्धिमें प्रतिबन्धक होती है इसलिये धातुकी वृद्धि नहीं होती। इसीसे "असति च विरोधके सामान्यं वृद्धिकारणमिति सिद्धान्तः" विरोधकके न होनेपर सामान्य वृद्धिका कारण होता है ऐसा सिद्धान्त बना है।

"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि कारणम्" इसका अर्थ यह है कि द्रव्य सामान्य द्रव्य रूपको बढ़ानेवाला होता है, गुण सामान्य गुणरूपको बढ़ाता है। जैसे सेवन किया हुआ द्रव्य शरीरके धातुओंको बढ़ाता है और उस द्रव्यके मधुर आदि गुण धातुके मधुरादि गुणको बढ़ाते हैं। पार्थिवादि द्रव्य शरीरके पार्थिवादि धातुओंको बढ़ाते हैं और गुर्वादि (द्रव्यगत) गुण धातुके गुरुत्वादिको बढ़ाते हैं।

विशेषके लक्षण--

"ह्रासहेतुर्विशेषश्च" (च० सू० १)

"विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।" "विशेषस्तु विपर्ययः" (च० सू० १)

"व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुरनेकः प्रतिद्रव्यसमवेतो विशेषः
स ह्रासहेतुः, पृथक्त्वकृत् वैसादृश्यञ्च" (सप्तपदार्थी)

अर्थ—ह्रासका हेतु विशेष है। विशेष पृथक्त्व करनेवाला है। सामान्यका ठीक उलटा विशेष है। व्यावृत्ति प्रत्ययका हेतु, प्रति द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे स्थित, वह ह्रासका हेतु पृथक्त्व करने वाला तथा वैसादृश्य उत्पन्न करनेवाला है। तात्पर्य यह कि परमाणुओंमें (पृथ्वी आदिके) जो एक दूसरेसे भेदका कारण है उसे विशेष कहते हैं। यह नित्य द्रव्योंमें रहता है और स्वयं भी नित्य है। इसी विशेष प्रतिपादनके कारण कणाद दर्शनका नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा।

वक्तव्य—विशेषको कल्पना सामान्यको कल्पनासे ठीक विपरीत है। भिन्न २ व्यक्तियोंके एक श्रेणीबद्ध होनेका कारण यदि सामान्य है तो इसके उलटे एक श्रेणीके समान गुण धारण करनेवाले व्यक्तियोंके पारस्परिक विभेदकी सत्ता सिद्ध करनेवाला पदार्थ 'विशेष' है। पृथिवीका एक परमाणु दूसरे परमाणुसे भिन्न क्यों है? एक आत्मा दूसरे आत्मासे, एक मन दूसरे मनसे भिन्न किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? इस पार्थक्यकी कल्पनाके लिये

इन द्रव्योंमें 'विशेष' नामक पदार्थकी कल्पना की गई। विशेष नित्य द्रव्योंमें—जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके परमाणुमें तथा आकाश-काल-दिक्-मन और आत्मामें निवास करता है। विशेषकी सत्ता न माननेपर सब आत्मा एक ही समान, सब मन एक ही समान होनेसे पारस्परिक विशेषताका अभाव दृष्टिगोचर होता तथा समस्त मनुष्योंमें एक मनुष्यत्व सामान्यके होनेसे व्यक्तित्वकी स्थिति असिद्ध ही रहती है। इसीलिये सावयव द्रव्योंके लिये नहीं प्रत्युत् नित्य द्रव्योंके पृथक्ताके हेतु 'विशेष' पदार्थका अङ्गीकार करना न्यायसंगत है। नित्य द्रव्योंमें रहनेके कारण विशेष भी नित्य है और आश्रयभूत द्रव्योंकी अनन्तताके कारण विशेष भी अनन्त है। विशेष स्वतः व्यावर्तक होते हैं अर्थात् एक विशेषसे दूसरे विशेषका भेदक स्वयं विशेष ही है। ऐसा नहीं होनेसे अनवस्थादोष होनेका भय होता है।

"सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्ष्यम्" (वै० द० १।२।३)

सामान्य तथा (उसका अवानन्तरभेद) विशेष, इन दोनोंमें (अनुगत या अनुवृत्तिबुद्धि तथा व्यावृत्तिबुद्धि) बुद्धिकी अपेक्षा है, अर्थात् इनका अपेक्षाबुद्धिसे ज्ञान होता है।

वक्तव्य—जिस प्रकार अनुगत बुद्धिके बलसे सामान्य संज्ञकसत्ताकी सिद्धि होती है; उसी प्रकारकी व्यावृत्त बुद्धिसे द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वरूप विशेष की भी सिद्धि होती है, क्योंकि वह भी अनुगत बुद्धिकी भाँति किसी असाधारण विषयके बिना नहीं हो सकता। उसका असाधारण विषय द्रव्यादि तीन प्रत्यक्ष है। प्रशस्तपादने सामान्यका स्वरूप इस प्रकार निरूपण किया है कि—"स्वविषय सर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति एक द्वि बहुष्वात्मस्वरूपानुगम-प्रत्ययकारि स्वरूपाभेदनाधारेषु प्रबन्धेन वर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्" जिन व्यक्तियोंमें सामान्य रहता है उसका नाम स्वविषय है, उसमें समवाय संबन्धसे रहनेवाले तथा अनुगत प्रतीतके हेतुका नाम सामान्य है। जैसे—परस्पर अत्यन्त भिन्न चर्म, वस्त्र, कम्बल आदि द्रव्योंमें 'नीलं चर्म' तथा 'नीलं कम्बलं' इस प्रकारकी अनुगत प्रतीतका हेतु नील गुण है, वैसे ही अत्यन्त भिन्न द्रव्यादि तीनोंमें 'द्रव्यं सत्' इत्यादि अनुगत प्रतीतिका हेतु सत्ता लक्षण 'सामान्य' है।

उक्त सामन्य पदार्थ सत्ता तथा विशेष भेदसे दो प्रकारका है। द्रव्यादि तीनोंमें रहनेवाले सामान्यका नाम "सत्ता" है। सत्ता, भाव तथा परसामान्य ये पर्यायशब्द हैं। जिससे कई पदार्थोंमें अनुगत तथा व्यावृत्तबुद्धि पाई जाय उसको 'विशेष' कहते हैं। विशेष, अपर सामान्य तथा जाति ये पर्याय शब्द हैं। द्रव्य-गुण-कर्म इन तीनोंमें व्यापक होनेसे सत्ता, 'पर सामान्य' और सत्ताकी

अपेक्षा व्याप्य तथा प्रत्येक द्रव्यादिमें रहनेसे द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वको विशेष-अपर सामान्य कहा गया है। सत्ताकी अपेक्षासे व्याप्य तथा पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षा व्यापक होनेके कारण इसको 'परापर जाति' भी कहते हैं। इसी प्रकार पृथिवीत्वादिक भी घटत्वादिकी अपेक्षा व्यापक तथा द्रव्यादिकी अपेक्षा व्याप्य है, इसलिये परापर जातिके अन्तर्गत माने जाते हैं; परन्तु द्रव्यादि पदार्थोंके मध्य आकाश, काल, तथा दिक्‌में आकाशत्व कालत्व और दिक्त्व तथा सामान्य-विशेष-समवाय और अभावमें सामान्यत्व, विशेषत्व-समवायत्व और अभावत्व जाति नहीं, क्योंकि आकाशत्व, कालत्व तथा दिक्त्व ये तीनों अनेक व्यक्तिवृत्ति नहीं है और सामान्यत्वादिके जाति होनेमें बाधक सद्भाव पाया जाता है। जाति बाधकोंका संग्रह उदयनाचार्यने इस प्रकार किया है—

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संङ्करोथानवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥"

(किरणावली)

व्क्तिका अभेद, तुल्यत्व, संकर, अनवस्थिति, रूपहानि और असंबन्ध ये ६ जातिके बाधक हैं। स्वाश्रयभूत व्यक्ति (जो धर्म एक व्यक्तिमें रहता हो) की एकताका नाम 'व्यक्तिका अभेद' है। यह जाति नहीं हो सकता, जैसे कि आकाशत्व, कालत्व और दिक्त्व। एक अधिकरणमें रहनेवालेका नाम 'तुल्यत्व' है, जैसे घटत्व तथा कलसत्व, ये दोनों एक घटरूप व्यक्तिमें रहनेसे तुल्य हैं अतः दोनों जाति नहीं किन्तु इनमें घटत्व और कलसत्व एक ही जाति है। जिन दो धर्मोंका एक दूसरेके अत्यान्ताभावके साथ समानाधिकरण है, उनके एक व्यक्तिमें इकट्ठे रहनेका नाम 'संकर' है। जैसे—भूतत्व तथा मूर्तत्व ये दो धर्म हैं। पृथिवी आदि पांच द्रव्योंमें भूतत्व तथा पृथिवी, जल, तेज और वायु तथा मन इनमें मूर्तत्व रहता है। इन दोनों धर्मोंके मध्य भूतत्वात्यन्ताभावके साथ मूर्तत्वका मनमें और मूर्तत्वात्यान्ताभावके साथ भूतत्वका आकाशमें समानाधिकरण है, क्योंकि मनमें मूर्तत्व है भूतत्व नहीं, और आकाशमें भूतत्व है मूर्तत्व नहीं और दोनोंका पृथिवी, जल, तेज और वायुमें समावेश स्पष्ट है, क्योंकि ये चारों भूत तथा मूर्त हैं। इसलिये इनमें रहनेवाले उक्त दोनों जाति नहीं। अपने व्यावर्तक स्वरूपकी हानिका नाम 'रूपहानि' है। विशेष पदार्थ अपने स्वरूपसे व्यावर्तक अर्थात् अपने तथा अपने आश्रयको भिन्न करनेवाला है। यदि उनमें 'विशेषत्व' जाति मानी जाय तो उसको उक्त जातिके द्वारा ही व्यावर्तक मानना पड़ेगा, क्योंकि जातिका आश्रय पदार्थ जाति द्वारा ही व्यावर्तक होता है ऐसा नियम है और जो जाति द्वारा व्यावर्तक है उसको रूप द्वारा

व्यावर्तक नहीं मान सकते और न उसके माननेमें कोई लाभ है। परन्तु विशेष पदार्थको स्वरूपसे व्यावर्तक माना है, इसलिये सामान्यकी भाँति विशेष पदार्थमें जाति नहीं। समवायके अभावका नाम 'असम्बन्ध' है। जाति व्यक्तिमें समवाय संबन्धसे रहती है। यदि समवायमें समवायत्व जाति मानी जाय तो उसके समवायमें रहनेके लिये अन्य समवाय मानना पड़ता है, परन्तु समवायमें समवायका रहना असम्भव है, क्योंकि अपनेमें आप नहीं रह सकता। इसलिये जातिके नियामक समवाय सम्बन्धका अभाव होनेसे समवायमें समवायत्व जाति नहीं। इसी प्रकार अभावमें भी अभावत्व जाति नहीं ऐसा समझना चाहिये।

किसी गुणको हम सामान्य तभी कहते हैं जब उसे अनेक व्यक्तिमें समवेत पाते हैं और जब वही गुण विषयों तथा व्यक्तियोंका पार्थक्य करनेवाला होता है तो उसे विशेष कहते हैं। जैसे—घटत्व, जब अनेक विषयोंमें पाते हैं तो उसे सामान्य कहते हैं और वही घटत्व जब दूसरे पदार्थसे (पटत्वसे) पार्थक्य निर्देश करता है तो विशेष कहलाता है। वस्तुतः किसी गुणकी संज्ञा सामान्य तथा विशेष बुद्धि विश्लेषणसे होती है। जैसे—पृथिवी आदि पांच महाभूतोंका द्रव्यत्व सामान्यसे द्रव्यके वर्गमें गिनते हैं और इनके अन्दर भिन्न २ पृथिवीत्व आदि गुणोंके होनेसे उन्हें पृथक् कहते हैं।

समवाय विज्ञान

द्वितीय-अध्याय (चतुर्थपाद)

समवाय निरूपण—

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः ।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ॥

(च० सू० अ० १)

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥

(कारिकावली १-१२)

"अयुतसिद्धानामाधार्या-धारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः ।" (प्रशस्तपाद)

"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ।" (वै० द० ७।२।२४)

अर्थ—भूमि आदि आधारद्रव्योंके साथ गुर्वादि आधेय गुणोंका जो अपृथग्भाव (अलग न रहनेका) सम्बन्ध है, उसको समवाय कहते हैं। वह नित्य है और जहां भी द्रव्य है, वहां नियत रूपसे गुण वर्तमान है। (चरक) कपाल आदिमें घटादिका, द्रव्योंमें गुण और कर्मका, अवयव और अवयवीका, जाति और व्यक्तिका, गुण और गुणीका, क्रिया और क्रियावान्का, नित्य द्रव्य और विशेषका जो सम्बन्ध है, उसे 'समवाय' कहते हैं। (कारिकावली) अयुतसिद्धोंका आधाराधेय भूतोंका जो सम्बन्ध इह प्रत्ययका हेतु है, वह समवाय है। (प्रशस्तपाद)। 'इसमें यह है' इस प्रकारकी बुद्धि जिसके कारण अवयव अवयवीमें होती है, उसका नाम 'समवाय' है।

वक्तव्य—वस्तुओंके बीचके नित्य सम्बन्धको समवाय कहते हैं। द्रव्यके साथ उसके गुण, कर्म समवाय सम्बन्धसे स्थित हैं। पृथ्वीमें गन्ध, जलमें रस, समवाय सम्बन्धसे रहते हैं। सामान्य (गोत्व आदि) भी द्रव्य, गुण, कर्ममें समवाय (नित्य) सम्बन्धसे रहता है। समवाय भाव पदार्थोंका अन्तिम

पदार्थ है। कोई भी वस्तु किसी वस्तुके साथ बिना किसी सम्बन्धके नहीं रह सकता। वैशेषिकोंके मन्तव्यानुसार यह सम्बन्ध दो प्रकारका होता है—(१) संयोग और (२) समवाय। संयोग सम्बन्ध उन वस्तुओंमें होता है, जो संयोगके बिना भी अपनी पृथक् सत्ता धारण कर सकती है। यह सम्बन्ध अनित्य होता है। यह कतिपय क्षण ही अपनी सत्ता बनाये रख सकती है। अत: युतसिद्ध वस्तुओंके कतिपय क्षणस्थायी बाह्य सम्बन्धको संयोग कहते हैं। पर 'समवाय' सम्बन्ध इससे नितान्त भिन्न है। यह वस्तुद्वयमें रहनेवाला नित्य सम्बन्ध है। अंगी अंगमें, गुण गुणवान्‌में, क्रिया क्रियावान्‌में, जाति व्यक्तिमें तथा नित्य द्रव्य और विशेषमें यह निवास करता है। ऊपर वैशेषिक सूत्रमें आये पद कार्यकारणसे अवयवावयवी, जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया क्रियावान् तथा नित्य द्रव्य और विशेष अभिप्रेत हैं। अवयवावयवी आदिमें जिस सम्बन्धके कारण अवयवोंमें अवयवी, व्यक्तिमें जाति, गुणीमें गुण, क्रियावान्‌में क्रिया तथा नित्य द्रव्योंमें विशेष पदार्थ है, इस प्रकारकी बुद्धि होती है, उसका नाम 'समवाय सम्बन्ध' है, अर्थात् जैसे 'यह दोनों संयुक्त हैं' इस प्रकार संयुक्त व्यवहारके हेतु सम्बन्धका नाम 'संयोग है, वैसे ही 'इह इदं' इसमें यह है, इस प्रकारके व्यवहारका हेतु जो सम्बन्ध है, उसका नाम 'समवाय' है। 'इह इदं' इस प्रकारका जो ज्ञान होता है, उसे 'इह प्रत्यय' कहते हैं। अयुत सिद्धोंका अर्थात् अलग न रहनेवाले पदार्थोंका एवं आधाराधेयभूत द्रव्योंका जो सम्बन्ध होता है, वह इह प्रत्ययका हेतु होता है और इह प्रत्ययका हेतु 'समवाय' है, क्योंकि वह (समवाय सम्बन्ध) अवयव तथा अवयवी, जाति तथा व्यक्ति, गुण तथा गुणी, क्रिया तथा क्रियावान् और नित्य द्रव्य तथा विशेष पदार्थोंका होता है और इसका नियामक उक्त प्रकार (इह इदं) का प्रत्यय है।

√ कणाद—कारण और कार्यमें जो नित्य सम्बन्ध होता है, उसे 'समवाय' कहते हैं। प्रशस्तपाद—द्रव्योंके अन्दर अलग न हो सकनेवाले (inseparable) आधाराधेय भावसे स्थित जो सम्बन्ध इह प्रत्ययका हेतु होता है, उसे 'समवाय' कहते हैं।

"स च द्रव्यादिभ्यः पदार्थान्तरं भावलक्षणभेदात्"। (प्रशस्तपाद)

"द्रव्यत्व गुणत्व प्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः"। (वै० द० ७।२।२५)

वह (समवाय) द्रव्यादि (द्रव्य गुण-कर्म सामान्य-विशेष) से अतिरिक्त पदार्थ है, क्योंकि इसमें भाव (सत्ता) के समान ही भेदक लक्षण हैं, अर्थात् जिस प्रकार भाव (सत्ता) द्रव्यादि (द्रव्य-गुण-कर्म) में रहनेपर भी अपने आश्रयसे भिन्न होता है, उसी प्रकार 'समवाय' भी अपने आश्रयसे इह प्रत्ययका कारण बनकर भिन्न होता है। जैसे सत्तामें द्रव्यत्व तथा गुणत्वका अभाव है,

वैसे ही 'समवाय' में भी द्रव्यत्व और गुणत्वका अभाव है। अर्थात् जिस प्रकार सत्ता नामक परसामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म तीनों भिन्न पदार्थ हैं, वैसे ही 'समवाय' भी उक्त तीनोंसे भिन्न पदार्थ हैं, क्योंकि वह द्रव्यादिको अपेक्षा उक्त विलक्षण बुद्धिका हेतु है। "तत्वं च" (वै० द० ७।२।२६) और सत्तारूप परसामान्यकी भांति वह एक है। अर्थात् जैसे सत्ता नामक परसामान्य एक है, वैसे हो 'समवाय सम्बन्ध' भी एक है, क्योंकि सत्ताकी भांति समवायके साधक 'इह इदं' लिङ्गका सर्वत्र अभेद तथा भेदके साधक लिङ्गका अभाव पाया जाता है। यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यद्यपि समवाय सम्बन्ध एक है, तथापि प्रतियोगीके भेदसे उसका भेद हो जाता है, इसलिये वायुमें स्पर्श समवाय के होनेपर भी 'रूपवान् वायुः' अर्थात् वायु रूपवाला है, इस प्रकार रूप-बुद्धि नहीं होती, क्योंकि समवायके एक होनेपर उसके प्रतियोगी रूपादिका भेद है। इसीसे प्रशस्तपादने कहा है कि—"न च संयोगवन्नानात्वं भावलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च, तस्माद् भाववत्सर्वत्रैकः समवाय इति" अर्थात् संयोगके समान समवाय अनेक नहीं है क्योंकि वह भावके समान ही लक्षणोंवाला है और उसमें विशेषके लक्षण नहीं है, इसलिये भाव (सत्ता) के समान ही समवाय सर्वत्र एक है।

यह (समवाय) नित्य है। संयोगके समान अनित्य नहीं है। जिस प्रकार भाव (सत्ता) अपने आश्रयके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता। (जैसे मनुष्यके मरनेपर भी मनुष्यत्व) उसी प्रकार समवाय भी कभी नष्ट नहीं होता है। पृथिवी आदि द्रव्योंमें गन्धादि गुण समवाय सम्बन्धसे स्थित रहते हैं; अतः जहाँ भी पृथ्वी आदि द्रव्य होंगे ; वहाँ गन्धादि गुण भी नियतरूपसे होगा। गन्धादिके बिना पृथ्वी आदि और पृथ्वी आदिके बिना गन्धादि गुण पृथक् नहीं रह सकते ; अतः इन अयुत सिद्धोंका आधाराधेय रूपसे जो सम्बन्ध है वह नित्य सम्बन्ध है—अर्थात् जहाँ-जहाँ पृथ्वी आदि द्रव्य हैं ; वहाँ-वहाँ उनके नियत गन्धादि गुण भी हैं। दूसरा लक्षण इसके नित्य होनेका यह है कि वह सत्ताकी तरह ही अकारण है अर्थात् उसका कोई उत्पादक नहीं है। प्रशस्तपादने इसीसे कहा है कि—

"सम्बन्ध्यनित्यत्वेऽपि न संयोगवदनित्यत्वं भाववदकारणत्वात्"

अर्थात् सम्बन्धीके अनित्य होनेपर भी संयोगके समान अनित्य नहीं है, क्योंकि भाव (सत्ता) के समान ही यह अकारण अर्थात् इसका कोई उत्पादक नहीं है।

यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि समग्र वस्त्र अपने अवयवभूत तन्तुओंमें रहता है, लालिमा गुलाबके फूलमें, लेखनक्रिया लेखकमें, मनुष्य मनुष्य नामधारी

व्यक्तियोंमें तथा विशेष आत्मा और परमाणु आदि नित्य द्रव्योंमें निवास करता है। पर इन दोनोंका सम्बन्ध समवायके द्वारा ही सम्पन्न होता है। समवाय-की विशेषता है इसकी नित्यता। संयोग तो क्षणिक सम्बन्ध है पर समवायकी दशा ऐसी नहीं है। ऊपर जिन दो वस्तुओंका वर्णन किया गया है, उनकी पारस्परिक स्थितिके निर्वाह करनेके लिये समवाय सम्बन्धको मानना पड़ता है। अतः इन परस्पर नित्य सम्बद्ध (अयुतसिद्ध) वस्तुओंका सम्बन्ध 'समवाय' है। जब तक उक्त पदर्थोंकी सत्ता बनी हुई है तब तक इस सम्बन्धकी सत्ता मानी ही जावेगी। 'समवाय'की कल्पना इस न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तके लिये नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है, क्योंकि इसीके आधारपर इनके कार्य कारणके विषय-की विशिष्ट कल्पना अवलम्बित है।

तत्व-विज्ञान

तृतीय-अध्याय

अथ पदार्थविज्ञाने तत्व-विज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः।

तत्वनिरूपण——

"स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तृभावतः॥
तत्तत्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुं शिवादयः॥

(तन्त्रालोक)

भावार्थ—स्वकीय कार्यमें, धर्म समुदायमें या स्वसमान गुणवाले वस्तुमें सामान्यरूपसे व्यापक पदार्थको "तत्व" कहते हैं।

वक्तव्य—'तत्व' शब्द 'तनुविस्तारे' धातुसे बना हुआ है (तत्व नं० तन+ क्विप् ततो भावः तस्य भावो वा त्व वा तलोपः याथार्थ्ये स्वरूपे, परमात्मनि, ब्रह्मणि। तदिति सर्वनाम सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम सर्वनाम, तस्य भावः। ब्रह्मत्वे। सांख्योक्तेषु पञ्चविंशतौ पदार्थेषु। शब्दस्तोम महानिधि) अतः यह विस्तृत संसार जिसके विस्तारसे ढका हुआ है उसके यथार्थ रूपको 'तत्व' कहते हैं। इस तत्वके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न दर्शनोंने अपने दृष्टिकोणके अनुसार भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं। सांख्यदर्शनमें तत्वोंकी मीमांसा बड़े सुन्दर ढङ्गसे की गई है और यही तत्वमीमांसा इस पुस्तकका प्रतिपाद्य विषय है। अन्य दर्शनों के तत्व सम्बन्धी विचार भी अवलोकनार्थ संक्षेपमें दे दिया जाता है।

जैसे—मीमांसाकार जैमिनीके अनुसार बाह्यविश्व सत्य है, अर्थात्—वह जैसे दिखाई देता है वैसा ही है। आत्मा अनेक हैं। स्वर्गको भी वह मानता है किन्तु उसके भोगोंको विश्वके भोगोंसे इस बातमें समानता मानता है कि दोनों ही भौतिक हैं। जैमिनी वेदकी स्वतः प्रमाणता सिद्ध कर यज्ञ, कर्मकाण्ड प्रभृति का रास्ता साफ कर देता है। जैन दर्शनमें तत्वोंके दो, पांच, सात और नौ भेद बतलाये हैं; जोकि बौद्धोंके स्कन्ध, आयतन और धातुकी भांति एक ही विश्व का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणसे विभाजन है। जैसे—दो तत्व-जीव और अजीव।

पाँच तत्व—जीव, अजीव, आकाश, धर्म और पुद्गल। सात तत्व—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, शम्बर, निर्जर और मोक्ष। नौ तत्व—उक्त सातके अतिरिक्त पुण्य और अपुण्य। दो और पांच तत्ववाले विभाजनमें दार्शनिक पदार्थोंको ही रखा गया है, परन्तु पिछले दोमें धर्म और आचारकी बातोंका सम्मिश्रण किया गया है।

यूरोपीय दर्शनमें बर्गशंके अनुसार असली तत्व न भौतिक है न मन (विज्ञान) बल्कि इन दोनोंसे भिन्न अन्य उभयतत्व जिससे भौतिक तत्व तथा मन दोनों उत्पन्न होते हैं। यह मूलतत्व सदा परिवर्तनशील, घटनाप्रवाह, लहराता जीवन, सदा नये-नये की ओर बढ़ रहा जीवन है। लौकिकके अनुसार मानसिक तथा भौतिक तत्वके दो प्रकार हैं, इसे प्रत्यक्षसिद्ध तथा अप्रत्यक्षसिद्ध भी कहा गया है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा आत्मतत्व-ईश्वर है। इस्लाम दर्शनमें भी तत्वका विचार किया गया है। किन्दी जगत्को ईश्वरकी कृति मानता है। किन्दी कार्य-कारण नियम या हेतुवादका समर्थक है, वह ईश्वरको ही मूल-कारण या असली तत्व मानता है।

पंचविंशति तत्वज्ञो यत्रकुत्राश्र ये वसेत्।
जटीमुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥

(सं० सि० सं० ९।११)

सांख्यके अनुसार २५ तत्व होते हैं, जिसके जाननेसे किसी भी आश्रमका पुरुष—चाहे वह ब्रह्मचारी हो, सन्यासी हो; गृहस्थ हो—दुखोंसे अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इन २५ तत्वोंका वर्गीकरण निम्नलिखित चार प्रकारसे किया जाता है—

(१) कोई तत्व ऐसा है जो सबका कारण तो होता है पर स्वयं किसीका कार्य नहीं होता अर्थात् उसका कोई कारण नहीं होता, जैसे—'प्रकृति'। (२) कुछ तत्व कार्य ही होते हैं, अर्थात् किसीसे उत्पन्न होते हैं पर स्वयं किसीको उत्पन्न नहीं करते, जैसे—'विकृति'। (३) कुछ तत्व कार्य तथा कारण दोनों होते हैं अर्थात् किन्हीं तत्वोंको उत्पन्न करते हैं और किन्हीं तत्वोंसे उत्पन्न होते हैं, जैसे—'प्रकृति विकृति'। (४) कोई तत्व कार्य तथा कारण उभयविध सम्बन्धसे शून्य होता है, अर्थात् न वह किसीका कारण होता है और न कार्य। जैसे—'न प्रकृति न विकृति'। इसीको सांख्यकारिकामें निम्न पदोंमें कहा गया है—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृति विकृतयः सप्त।
षोड़शकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥"

(सां० का० ३)

सांख्य संमत तत्वोंका वर्गीकरण इस प्रकार है—

स्वरूप	संख्या	नाम
१—प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति
२—विकृति	१६	पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां मन और पंच महाभूत
३—प्रकृति विकृति	७	महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ
४—न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

आयुर्वेदमें ग्रहण किये हुए सांख्यानुमत चतुर्विंशति तत्व—

"सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्वरजस्तमो लक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः संभवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवोदकानां भावानाम्। तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लिङ्ग एवाहङ्कार उत्पद्यते। स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। तत्र वैकारिकादहङ्कारात् तैजससहायाच्च तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राण वाग्घस्तोपस्थ पायुपादमनांसि इति। तत्र पूर्वाणि पंच ज्ञानेन्द्रियाणि इतराणि पंच कर्मेन्द्रियाणि उभयात्मकं मनः। भूतादेरपि तैजस सहायात् तल्लक्षणान्येव पंचतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा शब्द तन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानल जलोर्व्यः। एवमेषा तत्व चतुर्विंशतिर्व्याख्याताः।" (सु० शा० १)

भावार्थ—सब भूतोंका कारण (स्वयं) अकारण सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण लक्षण वाला, अष्टरूप (अव्यक्त महान् अहंकार और पंचतन्मात्रा रूप) वाला जगत्के उत्पत्तिका हेतु (कारण) वह अव्यक्त नामक तत्व है। वह एक (अव्यक्त) अनेक क्षेत्रज्ञोंका, उदकभावों (जलजन्तुओंके तथा छोटे छोटे नदियों) के अधिष्ठानके समान अधिष्ठित है। उस अव्यक्तसे उसके अन्दर रहनेवाले लक्षणों (सत्व, रज और तम) वाला महत्तत्व (बुद्धितत्व) उत्पन्न होता है और उक्त लक्षणोंसे युक्त उस महत्तत्वसे उन लक्षणों वाला (सत्व रज तम लक्षणों वाला) ही अहंकार तत्वकी उत्पत्ति होती है। यह अहंकार तीन प्रकार

का होता है—वैकारिक, तैजस और भूतादि। पुनः वैकारिक अहंकारसे और तैजस अहंकारकी सहायतासे उन लक्षणोंवाली (सत्व रज तम) ११ इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। जैसे—श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा घ्राण-वाक्-हस्त-उपस्थ-पायु-पाद और मन। इनमें पहले पांच ज्ञानेन्द्रिय या बुद्धीन्द्रिय कहलाती हैं और पांच कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं। मन उभयात्मक (दोनोंमें) है। इसी प्रकार भूतादि अहंकारसे और तैजसकी सहायतासे भी उन लक्षणों वाले (सत्व रज तम) पांच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं, जैसे—शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा। इनका ही विशेष शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्ध होता है। इन तन्मात्राओंसे पंच महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, जैसे—आकाश-पवन-दहन-तोय और पृथिवी। इस प्रकार ये २४ तत्व कहे गये हैं।'

वक्तव्य—सर्वभूतानाम्—स्थावरजङ्गमात्मक अखिल भूत यानि सृष्ट पदार्थ (भू-सत्तायाम् भुवादि परस्मैपद अक० सेट्। भू+क्त) शब्द स्तोम। इस प्रकार भूत शब्द सभी सृष्ट सत्ताधारी पदार्थोंको कहते हैं। कारणम्-मूलकारण-उत्पत्ति में हेतु। अकारणम्—न कारणं विद्यते यस्य तदकारणम् अर्थात् जिसका कोई उत्पादक हेतु न हो। "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" (सांख्य सू० १।६७) तथा "मूलप्रकृतिरविकृतिः" (सां० का०) अर्थात् (मूले) मूल कारणमें (मूलाभावात्) कारणका अभाव होनेसे (मूलं) मूल कारण (अमूलं) कारणोंसे रहित होता है। कारणका कारण न होनेके कारण कारणको अमूल कारण रहित कहा गया है। महत्तत्वसे लेकर सब कार्योंका मूलकारण—उपादान कारण अव्यक्त (प्रकृति) है। उस (प्रकृति) का कोई कारण नहीं। यदि उसका भी कारण मानें तो अनवस्था दोष आ जायगा। इससे प्रकृतिको अमूल अर्थात् कारण रहित कहा गया है।

यहां पर यह शङ्का उठा सकते हैं कि लोकमें कारणका कारण देखा जाता है जैसे घटका कारण मिट्टी और मिट्टीका कारण परमाणु अतः प्रकृतिका भी कोई कारण होना चाहिये।

इसका समाधान सांख्यकारने निम्न सूत्रके द्वारा किया है "पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम्" (सांख्य सू० १।६८)। अर्थात्—परम्पराके माननेपर भी अन्तमें एकपर ठहरनेसे नाममात्रका भेद है। तात्पर्य यह है कि यदि प्रकृतिका कारण माना जाय तो उस कारणका भी कोई अन्य कारण मानना पड़ेगा और फिर उसका भी इस प्रकारकी परम्परासे अनवस्था दोष बने रहनेके कारण इष्ट सिद्धि नहीं होगी और इष्टसिद्धि न होनेसे किसी कारणमें अन्तःस्थिति माननी पड़ेगी। जहां आप अन्तः स्थिति मानेंगे वहीं हमारे मतसे प्रकृति है।

"सत्त्वरजस्तमोलक्षणं"—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणके लक्षणोंवाला

अर्थात् सत्व रजस् तमोमय। इस वाक्यसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये गुण सदा मिले रहते हैं। ये कभी पृथक् नहीं होते। इसीलिये प्रकृतिको भी इनकी साम्यावस्था कही गई है। देवी भागवतमें भी इसके समर्थनके वाक्य मिलते हैं। "अन्योन्याभिभवाच्चैते विरुध्यन्ति परस्परम्। तथा—अन्योन्याश्रयाः सर्वे न तिष्ठन्ति निराश्रयाः॥ सत्वं न केवलं क्वापि न रजो न तमस्तथा। मिलिताश्च सदा सर्वे तेनान्योन्याश्रयाः स्मृताः॥ अन्योन्यमिथुनाच्चैव" इसीसे सत्व रज तमो लक्षण कहा गया है अर्थात् समस्त सृष्ट पदार्थमें इनका सम्मिश्रण रहता है। इन गुणोंके न्यूनाधिकताके कारण सृष्ट पदार्थोंमें (स्थावर तथा जंगम) नानात्व उत्पन्न होता है, जिन्हें सात्विक, तामस् राजस् कहकर निर्देश करते हैं। इनमें तीनों गुणोंके रहने पर भी "व्यपदेशस्तु भूयसा" के अनुसार उक्त नाम देते हैं। इसीलिये भागवद्गीतामें भी कहा है कि—

"रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा॥"

(भगवद्गीता १४।१०)

अव्यक्तका त्रिगुणात्मकत्व—

सृष्ट सब पदार्थोंका जो कारण अव्यक्त है, उसमें भी ये गुण (सत्व, रज, तम) वर्तमान रहते हैं; क्योंकि सत्कार्यवादके अनुसार जो गुण कारणमें नहीं होते वे कार्यमें स्वतन्त्र रूपसे नहीं आ सकते। भेद इतना ही होता है कि सृष्ट पदार्थोंमें ये गुण विषमावस्थामें और कार्यकरस्थितिमें होते हैं; परन्तु अव्यक्तमें ये गुण साम्यावस्थामें और अकार्यकर स्थितिमें होते हैं। इसीसे कहा है—

"सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"। (सांख्य सू० १।६१)

"साम्यावस्था न्यूनाधिकभावेनासंहननम्, अकार्यावस्थत्वमित्यर्थः। एवं च कार्यभिन्नं गुणत्रयं प्रकृतिरिति पर्यवसितोऽर्थः"। (अनिरुद्ध टीका)

अष्टरूपम्—अष्टौ रूपाणि यस्य तदष्टरूपम्। अर्थात् महान् अहंकार और पंचतन्मात्राएँ ये प्रकृतिके सात रूप हैं। प्रकृति या अव्यक्त और उक्त सात मिलकर आठ होते हैं। सांख्यशास्त्र शिलापुत्रक न्यायसे अव्यक्तके लिये रूपित्व और रूपत्व दोनों ही मानते हैं, परन्तु सांख्यने इन्हें दो भागोंमें विभक्त किया है। जैसे—(१) "मूलप्रकृतिरविकृतिः" और (२) "प्रकृतिविकृतयः सप्त।" वेदान्तमें भी प्रकृतिका यह अष्टरूप माना है, परन्तु उसमें प्रकृतिके परब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण उसमें रूपित्व और रूपत्व दोनोंके आरोपकी आवश्यकता नहीं होती। जो शास्त्रकार पुत्रोंकी गणनामें पिताको भी समाविष्ट करना नहीं

चाहते वे प्रकृतिके अष्टरूप (अष्टविधत्व) को अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये प्रकृतिके स्थानमें मनका समावेश कर देते हैं। जैसे—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (भगवद्गीता ७।४) "बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानम्"—अनेक क्षेत्रज्ञोंका (प्रकृति) अधिष्ठान है। क्षेत्रज्ञ नाम है आत्माका और क्षेत्र शरीरको कहते हैं, इसका ज्ञाता आत्मा है अतः क्षेत्रज्ञका अर्थ आत्मा है। "आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः"—महाभारत। अधिष्ठान—का अर्थ है आश्रय—शरीरोत्पादनका विषय। "औदकानां भावानां-उदके भावः औदकः—मत्स्य पद्माद्यो जलजन्तुविशेषाः।" अव्यक्त एक अचेतन और अधिष्ठान होता है और क्षेत्रज्ञ अनेक चेतन और आश्रयी होता है। इस दृष्टिसे "उदकभवाः औदकाः" नदी नद सरस्तड़ागादिका ग्रहण होता है। जिस प्रकार समुद्र अनेक जल-जन्तुओं तथा नदी-नदका अधिष्ठान है, उसी प्रकार प्रकृति भी अनेक आत्माओंका अधिष्ठान है।

क्षेत्रज्ञ—क्षेत्रका वास्तविक अर्थ खेत है। दर्शनशास्त्रमें चतुर्विंशति तत्व समुदायको अर्थात् शरीरको क्षेत्र कहते हैं।

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते"।

(भ० गी० १३।१)

और भी—

"खादीनि बुद्धिरव्यक्त - महंकारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकराश्चैव षोड़शः॥
बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च।
स्वमनस्काश्च पंचार्था विकाराइति संज्ञिता॥
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टः सर्वमव्यक्त वर्जितम्।

(च० शा० १)

अर्थात्—इस शरीरका जो ज्ञाता है, उसे क्षेत्रज्ञ या साक्षी कहते हैं। क्षेत्रज्ञके लिये ज्ञ, आत्मा, पुरुष इत्यादि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

महत्तत्व—अव्यक्त या त्रिगुण साम्यावस्था या प्रकृतिका पुरुषसे सम्पर्क होते ही प्रकृति अव्यक्तावस्था तथा त्रिगुण साम्यावस्थाको छोड़कर व्यक्त तथा त्रिगुणवैषम्ययुक्त अनेक तत्वोंको उत्पन्न करने लगती है। इस तत्व परम्पराका प्रारम्भ तभी होता है जब प्रकृति पुरुष समधिष्ठित होते हैं। इस परम्परामें प्रथम तत्व महत् है। इसीको बुद्धितत्व भी कहते हैं। "यदेतद् विसृतं बीजं प्रधान पुरुषात्मकम्। महत्तत्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्वमिहोच्यते॥"

अहङ्कार—अहंभावनाको अहंकार कहते हैं। इससे अभिमान या पृथक्त्व का भान होता है। यथा—

"अभिमानोऽहङ्कारः" (सांख्य का० २४)

"अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमितिमन्यते"; (भगवद्गीता ३।४०)

"यत् खल्वालोचितं मतं च तत्राहमधिकृतः शक्तः खल्वहमत्र, मदर्था एवाऽमी विषयाः, मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति, अतोऽहमस्मि इति योऽभिमानः सोऽसाधारण व्यापारत्वादहंकारः। तदुपजीव्यहि बुद्धिरध्यवस्यति कर्तव्यमेतन्मया ॥" (वाचस्पति मिश्र)
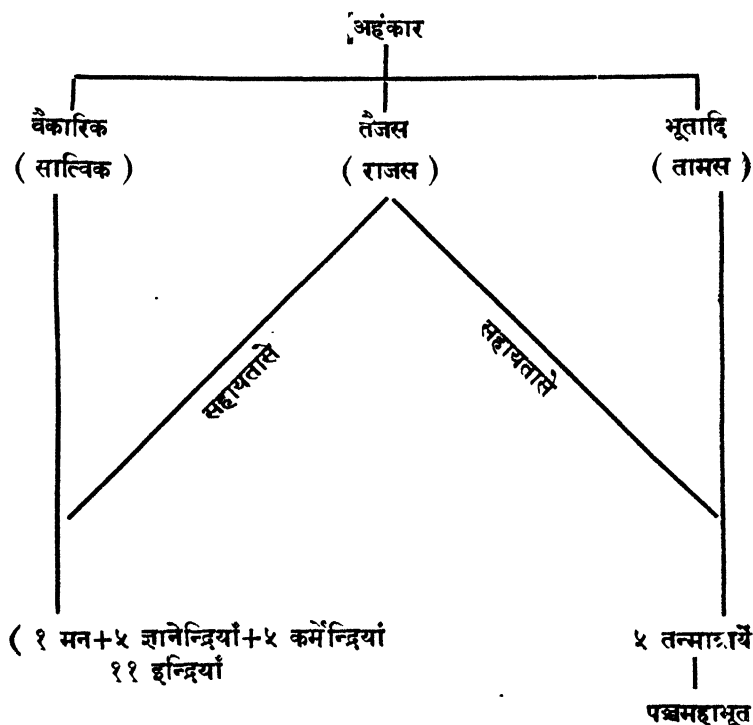
इस प्रकार उपर्युक्त आठ प्रकृतियाँ और षोडश विकार मिलकर २४ तत्व कहे गये हैं।

चरकके मतसे सर्ग, सृष्टि और प्रलयका निरूपण—

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्धयाहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहंकार उपादत्ते यथाक्रमम् ॥

ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते॥
अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्ट श्चक्रवत् परिवर्तते॥

(च० शा० १।६५-६७)

उपस्कार—सम्प्रति सर्गक्रममाह—जायते-इति। अव्यक्तात् मूल-प्रकृतेः पुरुषसंसृष्टायाः प्रकृतिपुरुषसंयोगस्य सर्गहेतुत्वात्। तदुक्तं—"पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्यतत्कृतः सर्गः। इति (सांख्य कारिका २१) बुद्धिः महत्तत्वं जायते। बुद्ध्या अहमिति मन्यते अभिमन्यते। बुद्धे-रभिमानलक्षण अहङ्कार जायते। ततः परं यथाक्रमं क्रमेण अहङ्कारः खादीनि उपादत्ते। खादीनि पञ्चसूक्ष्मभूतानि तन्मात्राख्यानि अहङ्कारा-दुत्पद्यन्ते। तदुक्तं—"प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्मात् गणश्च षोड़शस्कः। इति (सां० का० २२)। षोड़शस्को गणः पञ्चतन्मात्राणि एकादश इन्द्रियाणि च। आयुर्वेदे—इन्द्रियाणि भौतिकानीति वर्ण्यन्ते तेन इन्द्रियाणां अहङ्कारादुत्पत्तिर्नोक्ता। ततस्तेभ्यः पञ्चभ्यः भूतेभ्यः संपू-र्णानि सर्वाणि अङ्गानि यस्य तथाभूतः अभ्युदितः अभिव्यक्तः अव्यक्ता-वस्थायाः व्यक्ततां गतः। न तु अभूत्वा भूतः। जात इत्युच्यते स च पुरुषः प्रलये शरीरारम्भकभूतानां कारणे, लये तदा इष्टैर्भावै बुंद्ध्यादिभि र्वियुज्यते। तच्च मरणम्। अव्यक्तात् कारणादभिव्यक्तिः जन्म। व्यक्तस्य कारणलयात् पुनरव्यक्तिभावो मरणम्। अयं जन्म मरण प्रवाहः पुरुषस्य बन्धं यावत् वर्तते इत्याह अव्यक्तादिति। पुरुषः रजस्तमोभ्यां बंधहेतुभ्यां आविष्टः सन् अव्यक्तान् कारणात् व्यक्ततां याति कार्यरूपेण। इदं जन्म। व्यक्तात्—व्यक्तावस्थायाः पुनः अव्यक्तां याति—कारणे लयात्। एतच्च मरणम्। पुनः व्यक्ततां याति पुनरव्यक्तताम् एवं चक्रवत् परिवर्तते-घूर्णते आ अपवर्गात्।"

अर्थ—अब सर्ग या सृष्टिक्रमका वर्णन करते हैं। अव्यक्तसे अर्थात् सगुण पुरुष या पुरुष संसृष्ट मूलप्रकृतिसे बुद्धि या महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि

या महत्तत्वसे अहंकार (अभिमान लक्षणवाला अहम्) की उत्पत्ति होती है। इसके बाद यथाक्रमसे खादि अर्थात् आकाशादि पञ्चसूक्ष्मभूतोंकी उत्पत्ति अहंकारसे होती है। (आयुर्वेद इन्द्रियोंको भौतिक मानता है अतः इन्द्रिओंकी उत्पत्ति अहंकारसे नहीं मानता)। उसके बाद उन पञ्चमहाभूतोंसे सर्वाङ्ग सम्पूर्ण पुरुष अभिव्यक्त होता है ऐसा कहते हैं। अर्थात् अव्यक्तावस्था व्यक्तावस्थामें परिणत हो जाती है। इस प्रकार वह पुरुष (सगुण) पुनः प्रलयकालमें शरीरारम्भक भूतोंके कारणमें लय होनेपर अपने बुद्ध्यादि इष्ट भावोंसे वियुक्त होता है। यही मरण कहलाता है और अव्यक्त अर्थात् कारणसे अभिव्यक्तका नाम जन्म है। इस प्रकार कार्यसे कारणमें लय होना मरण और कारणसे कार्यकी ओर अभिव्यक्त होना जन्म कहलाता है। यह जन्म-मरण या व्यक्ताव्यक्त प्रवाह पुरुषके बन्धकाल तक चक्रवत् चलता रहता है, जब तक वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता।

वक्तव्य—आयुर्वेद (चरक) का सर्ग सृष्टि और प्रलयका वर्णन अन्य दर्शन (सांख्य) से भिन्न है। सांख्य पुरुष संसृष्टमूल प्रकृति (अव्यक्त) से महत्तत्व और महत्तत्वसे अहंकार एवं अहंकारसे इन्द्रियों तथा पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति का वर्णन करता है परन्तु आयुर्वेद इन्द्रियोंको भौतिक मानता है अतः इन्द्रियोंकी उत्पत्ति पञ्चमहाभूतोंसे मानता है न कि अहंकारसे। इस प्रकार आयुर्वेदका सर्ग या सृष्टि उस अव्यक्त अर्थात् सगुण आत्मासे प्रारम्भ होता है। तात्पर्य यह है कि सगुण आत्मासे बुद्धिकी उत्पत्ति होती है और बुद्धिसे अहंकार उत्पन्न होता है,अहंकारसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। यह सृष्टि अहंकार बुद्धिवाला आत्मा ही करता है। इसमें प्रमाण यह है कि आगे चलकर चरक शारीर ४ अध्यायमें स्पष्टरूपसे कहा गया है कि—"स (आत्मा) गुणोपादानकाले अन्तरिक्षं पूर्वतरं अन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते। यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुः भूतान्यक्षरभूतः सत्वोपादानमाकाशं सृजति ततः क्रमेण व्यक्ततर गुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुर इति।" अर्थात् आत्मा आदिकालमें सर्वप्रथम अपने गुणोंमेंसे सत्वगुण विशिष्ट अन्तरीक्ष (आकाश) को अभिव्यक्त (उत्पन्न) करता है। जिस प्रकार प्रलयके समाप्त हो जानेपर सर्ग या सृष्टिकी इच्छा करनेवाला अर्थात् भूतोंको उत्पन्न करनेकी इच्छा करता हुआ वह आत्मा (सगुण) सत्वोपादान आकाशका सृजन करता है, उसी प्रकार बादमें क्रमसे व्यक्ततर गुणोंवाले धातु वायु, आदिको उत्पन्न करता है। इसका समर्थन तैत्तिरीयोपनिषद्में भी मिलता है। जैसे—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः" इति।

और भी याज्ञवल्क्य स्मृतिमें इसका समर्थन मिलता है, जैसे—

"सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिं जलं महीम् ।
सृजत्येकोत्तरगुणां स्तथाधत्ते भवन्नपि ॥"

और भी—

"यथात्मानं सृजत्यात्मा तथावह कथितो मया ।
वियाकात् त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपिसन् ॥
सत्वं रजस्तमश्चैव गुणांस्तस्यैव कीर्तिताः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्ट श्चक्रवत् भ्राम्यते ह्यसौ ॥
अव्यक्तात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ।
बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात् ततोऽहंकारसंभवः ॥
तन्मात्रादीन्यहंकारात् एकोत्तर गुणानि च ।
शब्द स्पर्शश्च रूपंच रसोगन्धश्च तद्गुणाः ॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति ३-४)

इस प्रकार उन पंचमहाभूतोंसे सम्पूर्ण सर्वाङ्ग विषयेन्द्रियादि समन्वित पुरुषका आविर्भाव हुआ। जैसा कि याज्ञवल्क्यने भी कहा है कि— "निमित्तमक्षरः कर्ता बोद्धाब्रह्मगुणी वशी। अजः शरीरग्रहणात् स जात इति कीर्त्यते ॥ (३-४-६६)। यहांपर यह ध्यान रखना चाहिये कि—"एकैकाधिकयुक्तानि" चरकके इस वचनसे तथा "भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः, सुश्रुतके इस वचनसे इन्द्रियां तथा उनके विषय भौतिक हैं, यह स्पष्ट है। सांख्य (ईश्वर-कृष्ण) के अनुसार अहंकारसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति आयुर्वेद सम्मत नहीं है। इसीलिये भेलसंहितामें भी स्पष्ट रूपसे कहा है कि—

घ्राणं गन्धश्च भौमं हि रूपं चक्षुश्च तैजसम् ।
संस्पर्शः स्पर्शनं वायोः श्रोत्रं शब्दः खजं तथा ॥
रसनश्च रसाः ह्याप्यं तस्मादेतैरिहेन्द्रियैः ।
यथास्वं तुल्ययोनित्वात् विषयग्रहणं स्मृतम् ॥

(शा० २)

इन प्रमाणोंके रहते हुए भी टीकाकारोंने ईश्वर कृष्णके (सांख्य) सृष्टि क्रमसे मिलानेके लिये अनेक प्रकारकी खींचातानी अनावश्यक की है।

सृष्टिक्रम अर्थात् पुरुषोत्पत्ति क्रमको कहनेके बाद ध्वंसक्रम यानि प्रलयका वर्णन किया गया है। प्रलय कालमें अर्थात् मृत्यु कालमें (अपने कारणोंमें लय होनेके कालमें) अपने इष्ट भावोंसे अर्थात् स्थूल देहादिक पदार्थोंसे वह सगुण आत्मा वियुक्त होता है। इस प्रकार वह पूर्वोक्त रीतिसे रजोगुण तथा तमोगुणसे आविष्ट होकर अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थाको अर्थात् इन्द्रियग्राह्यता आदिको प्राप्त होता है। यह उसका आविर्भाव या जन्म है और पुनः प्रलयकालमें व्यक्तावस्थासे अर्थात् स्थूल देहसे अव्यक्तावस्था अर्थात् सूक्ष्म रूप अतीन्द्रियताको प्राप्त होता है, यह उसका मरण या लय है। इस प्रकार मोक्ष पर्यन्त वह चाकके समान भ्रमण करता रहता है अर्थात् अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थामें कारणसे कार्यमें तथा व्यक्तावस्थासे अव्यक्तावस्थामें कार्यसे कारणमें सदा परिवर्तित होता रहता है। इसीलिये अगले श्लोकमें स्पष्ट कर दिया है कि—

येषां द्वन्द्वे परासक्ति रहंकार पराश्रये।
उदयप्रलयौतेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा॥

(च० शा० १।६८)

अर्थात् जिसकी द्वन्द्वमें अर्थात् रजस्तमोरूप मिथुनवृत्तिमें परासक्ति है तथा जो अहंकार आदिमें लिप्त रहते हैं, उन्हींके लिये ये उदय और प्रलय हैं। उनके लिये नहीं जो इन द्वन्द्वोंसे परे हो जाते हैं अर्थात् जो रजोगुण तथा तमोगुणसे मुक्त एवं अहंकार रहित हैं, उनके लिये ये उदय और प्रलय नहीं हैं।

सृष्टि तथा संहार विधि—

"इहेदानी चतुर्णां महाभूतानां सृष्टि संहारविधिरुच्यते"।

(प्र० पा० भाष्य)

इस वाक्यके साथ वैशेषिक दर्शनके प्रशस्तपाद भाष्यमें सृष्टि और संहारका वर्णन किया गया है, जिसका आशय यह है कि—पृथिवी आदिके असंख्य परमाणु प्रलय कालमें द्व्यणुकादि कार्यको आरम्भ नहीं कर सकते, क्योंकि उस समय ईश्वरकी संहार करनेकी इच्छा प्रतिबन्धक होती है। जब सृष्टिके आदिकालमें सृष्टि उत्पन्न करनेके लिये परमात्माकी इच्छासे परमाणुओंमें क्रिया होनेके कारण दो-दो परमाणुओंका परस्पर संयोग होता है अर्थात् सजातीय दो परमाणुओंके संयोगसे 'द्व्यणुक' बनता है और वह द्व्यणुक भी असंख्य दो-दो परमाणुओंसे जन्य होनेके कारण असंख्य होते हैं। इस प्रकार उन 'द्व्यणुकों'में पुनः क्रिया होनेसे तीन द्व्यणुकोंके संयोग द्वारा 'त्र्यणुक' और चार-चार त्र्यणुकोंके संयोगसे 'चतुरणुक' तथा पांच चतुरणुकोंके संयोगसे 'पंचाणुक' रूप कार्यद्रव्य द्व्यणुकादिकी अपेक्षा स्थूलसे स्थूल उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पंचाणुकोंसे उत्तरोत्तर स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम आदि तारतम्यसे 'महाकाश',

'महावायु', 'महातेज', 'महाजल' तथा 'महापृथिवी' आदि कार्यद्रव्य उत्पन्न होते हैं। और जब परमात्मामें सृष्टि-संहार करनेकी इच्छा होती है, तब पृथिवी आदि द्रव्योंके परमाणुओंमें क्रियाद्वारा दो-दो परमाणुओंका परस्पर विभाग होता है। उस विभागसे दो परमाणुओंके संयोगका नाश, संयोगनाशसे द्वयणुक रूप कार्य द्रव्यका नाश, इसी तरह द्वयणुक नाशसे उत्तरोत्तर त्र्यणुक आदिके विनाशसे महापृथिवी आदि सब पदार्थोंका विनाश हो जाता है अर्थात् सबका अपने प्रकृतिरूप मूलकारणमें लय हो जाता है। इसीको सांख्यमें "नाशः कारणलयः" (सां० १।१२१)। इस सूत्रके द्वारा स्पष्ट किया गया है। कारणमें कार्यका लय होना ही नाश कहलाता है, अर्थात् निमित्त कारण द्वारा अतीतावस्था को प्राप्त हुए सब कार्यद्रव्य अपने कारणमें अभेद सम्बन्धसे लीन हो जाते हैं, इसीका नाम नाश है। सर्वथा स्वरूपसे नष्ट हो जानेका नाम नाश नहीं। इस प्रकार सृष्टि तथा संहार दोनों अवस्थाओंमें मूलकारण प्रकृतिके साथ नित्य सम्बन्ध होनेसे पृथिवी आदि कार्यद्रव्य उस (प्रकृति) की सिद्धिमें लिङ्ग हैं।

चरकके मतसे अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, आत्मा और व्यक्त, अष्टप्रकृति और षोडश विकारका निरूपण—

तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वान्न कुतश्चन।
भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्त-मचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा॥
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शास्वतो विभुरव्ययः।
तस्माद् यदन्यत् तद्व्यक्तं वक्ष्यतेचापरंद्वयम्॥
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद् यदिन्द्रियैः।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्॥
खादीनि बुद्धिरव्यक्त महंकारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोड़श॥
बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंचकर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिताः॥
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्त वर्जितम्।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञं ऋषयो विदुः॥

(च० शा० १।५८।६४)

उपस्कार—नित्यानित्ययोरव्यक्त व्यक्त संज्ञकमाह—तदेव इति। तत्-नित्यं। भावः उत्पत्तिः कारणादभिव्यक्तिः। तस्मात् अग्राह्यं उत्पत्तिधर्मेण न ग्राह्यं अकारणत्वात्। तस्मान्नित्यम्। भावा इति छेदः। यत् पुनः हेतुजं तस्य नित्यत्वं न कुतश्चन न कथमपि स्यात्। कुतः? भावादुत्पत्तेः। कारणवत्वात् तदनित्यं तस्मात् तन्नित्यं अव्यक्तं ज्ञेयं कारणादनभिव्यक्तेः। व्यक्त्या अग्रहणात् अव्यक्तम्। अचिन्त्यमिति अव्यक्तस्य विशेषणम्। अन्यथा अन्यत् यत् हेतुजं तत् व्यक्त्या ग्रहणात् व्यक्तं ज्ञेयम्। किं तत् अव्यक्तमिति? अत आह—अव्यक्तमिति। अव्यक्तं अव्यक्तशब्दवाच्यः आत्मा। ज्ञेत्रज्ञादि आत्मनो विशेषणम्। व्यक्तमाह—तस्मादिति। तस्मादात्मनः अन्यत् यत्-यत् आत्म—व्यतिरिक्तं सर्वं व्यक्तम्। कारणादभिव्यक्ताभिव्यक्ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ते अभिधाय इन्द्रियग्रहणाभ्यां पुनराह—वक्ष्यते इति। अपरं अन्यविधं द्वयं व्यक्तमव्यक्तं च वक्ष्यते। यदिन्द्रियैः गृह्यते-उपलभ्यते तदैन्द्रियकम्, तच्च व्यक्तम्। अतोऽन्यत् यत् इन्द्रियैः न गृह्यते तत् अतीन्द्रियम्, इन्द्रियमतिक्रान्तम्, तच्चाव्यक्तम्। लिङ्गग्राह्यं लिङ्गैरनुमेयम्। अप्रत्यक्षमपि तत् अनुमानेन उपलभ्यते।

प्रकृतिः का? विकाराः के? इत्यस्योत्तरमाह—खादीनि। खादीनि पंचसूक्ष्मभूतानि तन्मात्राख्यानि। बुद्धिर्व्यवसायलक्षणा महत्तत्वं चैतत्। अव्यक्तं मूलप्रकृतिः। इति सप्त। अष्टमः अष्टौ। विकाराः षोड़श। के ते विकारा इति? अत आह—बुद्धीन्द्रियाणीति। पंच बुद्धिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, पंचकर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि। मनसा सह वर्तमाना समनस्काः पंच अर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। पंच बुद्धीन्द्रियाणि पंच कर्मेन्द्रियाणि पंच अर्था मनश्चेति षोड़श विकारा इति संज्ञिताः। ××××

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ भेदेन विभजते—इति क्षेत्रमिति। अव्यक्त वर्जितं—अव्यक्तं वर्जयित्वा। अव्यक्तमिह मिलितौ प्रकृतिपुरुषौ—उभयोः अव्यक्तशब्द वाच्यत्वात्। अन्योन्यसंसृष्टयोस्तयोरग्नयः पिण्डवत् एकीभावात् तत् एकं तत्वं। शरीराधिकारे स हि क्षेत्रज्ञः तदादाय चतुर्विंशतिको राशिरिह पुरुष उच्यते। अव्यक्तवर्जितं अन्यत् सर्वं त्रयोविंशतिस्तत्वानि क्षेत्रं समुद्दिष्टं क्षेत्रमुच्यते। क्षेत्रं-शरीरं।

अर्थ—वह उत्पत्तिधर्मसे अग्राह्य होनेके कारण अथवा अकारण कारणरहित अर्थात् उसको उत्पन्न करनेवाला न होनेके कारण नित्य है और जो हेतुज अर्थात् कारणवाला है उसका नित्यत्व कभी नहीं होता अर्थात् वह अनित्य है। उस नित्यको अव्यक्त कहते हैं। वह अचिन्त्य है, इसके विपरीत अर्थात् जो हेतुज है वह व्यक्त है। अव्यक्त आत्मा, क्षेत्रज्ञ, शास्वत, विभु और अव्यय ये सब उस आत्माके विशेषण हैं। उस आत्मासे अन्य जो है अर्थात् आत्मवर्जित सब व्यक्त है। अन्य प्रकारसे इन (व्यक्त और अव्यक्त) दोनोंको इस प्रकार कहेंगे कि जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है अर्थात् जो ऐन्द्रियक है वह व्यक्त है और जो अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है वह अव्यक्त है। यह अतीन्द्रिय अव्यक्त लिङ्गों द्वारा अर्थात् लक्षणों द्वारा अनुमेय है। पञ्चतन्मात्राएँ, बुद्धितत्व अहंकार तथा आठवां अव्यक्त ये आठ भूतप्रकृति कहे गये हैं। ये आठ प्रकृतियाँ हैं। षोडश विकार हैं—पांच बुद्धीन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पांच अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ये षोडश विकार हैं। इन चतुर्विंशति तत्वोंमें अव्यक्तको छोड़कर शेष २३ को क्षेत्र (शरीर) कहते हैं और इस क्षेत्रके ज्ञाता अव्यक्त (पुरुषाधिष्ठित प्रकृति या सगुण आत्मा) को ऋषियोंने क्षेत्रज्ञ कहा है।

वक्तव्य—अव्यक्त—प्रकृति या प्रधान। व्यक्त और अव्यक्तके भेद निम्न प्रकारसे सांख्यकारिकामें वर्णन किये गये हैं। "हेतुमदनित्यमव्यापी सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गं। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम्॥ अर्थात्—अव्यक्त, अहेतुमत् नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, अनवयव और स्वतन्त्र होता है। सांख्य दर्शनके २४ तत्वोंमें केवल एक प्रकृति, गुण विशिष्ट होनेके कारण वह अव्यक्त कहलाती है। चरकसंहितामें अव्यक्त उसे कहा गया है जो उत्पत्तिधर्मसे रहित हो, नित्य हो और अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य न हो जिसका अनुभव लिङ्गोंसे किया जाता हो। इस प्रकार चरकका अव्यक्त पुरुषाधिष्ठित मूलप्रकृति या सगुण आत्मा है (इसके विशेष विवेचनके लिये सृष्टि प्रकरणके वक्तव्यको देखें)। इसके विपरीत अर्थात् सांख्यके अनुसार हेतुमत् अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेकाश्रित, लिङ्गवाला, सावयव और परतन्त्र जो है वह व्यक्त है। चरकके अनुसार जो उत्पत्तिधर्मवाला है जो कारणवान् है वह अनित्य है और वह अनित्य तथा इन्द्रिय ग्राह्य होनेसे व्यक्त है। अर्थात् अव्यक्त प्रकृति या सगुण आत्माको छोड़कर शेष २३ तत्व व्यक्त हैं। इसी व्यक्त तत्व को क्षेत्र कहते हैं और इस क्षेत्रका जो ज्ञाता होता है वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

अष्टप्रकृति—महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ ये प्रकृतिके सात रूप हैं। प्रकृति या अव्यक्त और उक्त सात उसके रूप मिलकर आठ होते हैं।

"अष्टौ रूपाणि यस्य तदष्टरूपम् ।" (इस सम्बन्धमें पहले भी कहा जा चुका है) ।

षोड़श विकार—पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) पञ्चज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र त्वक् , चक्षु, जिह्वा और घ्राण) । पञ्चकर्मेन्द्रियां (हस्त, पाद, पायु, उपस्थ और मुख) तथा मन ये षोड़श विकार हैं ।

प्रकृति—"प्रकरोतीति प्रकृतिः ।" "तत्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वम् ।" "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।" "मूलप्रकृतिरविकृतिः ।" अर्थात् जो किसी वस्तुको उत्पन्न करनेवाला है और उसका कोई उत्पादक नहीं है उसे प्रकृति या मूलप्रकृति कहते हैं । जो अन्य तत्वोंका उपादान कारण है अर्थात् जो तत्वान्तरोंको उत्पन्न करता है उन्हें प्रकृति कहते हैं, जैसे—मूलप्रकृति । जो तत्वान्तरको उत्पन्न करते हैं पर स्वयं भी उत्पन्न हैं वे प्रकृति विकृति हैं, जैसे—महत्तत्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएं ।

विकार—"तत्वान्तरा जनकत्वे सति जन्यत्वं विकारत्वम् ।" अर्थात् किसी तत्वको उत्पन्न न कर स्वयं उत्पन्न हो उसे विकार कहते हैं, जैसे—उक्त षोड़श विकार ।

चरकानुमत चतुर्विंशति तत्व—

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्ट धातुकी ॥

(च० शा० १—१६)

चिकित्साधिकृतपुरुषं दर्शयति—पुनश्चेति । धातुभेदेन प्रकृति-विकृतिभेदेन चतुर्विंशतिकः चतुर्विंशतिपदार्थ समवायः पुरुषः स्मृतः अस्माभिरिति शेषः । (दीपिका) । वक्ष्यमाण चतुर्विंशतिकः राशिपुरुषः स्मृतः । चतुर्विंशतिकं विभजते—मन इति । दश इन्द्रियाणि—पंच ज्ञानेन्द्रियाणि पंच कर्मेन्द्रियाणि । अर्थाः शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धाः पंच । एते षोड़शविकाराः । अष्टधातुकी प्रकृतिः । अव्यक्तं महत् अहंकार पंचमहाभूतानीति इत्यष्टौप्रकृतयः ××××× । अष्टौ प्रकृतयः षोड़शविकाराः मिलित्वा चतुर्विंशतिः । प्रकृतिवर्गे परिपठितत्वात् खादीनि पंचमहाभूतानि इह सूक्ष्माणि भूतानि तन्मात्राख्यानि । (उपस्कार) । एतच्च "खादीनि बुद्धिरव्यक्त महंकारस्तथाष्टमः । इत्यनेनानु-पदेनैव स्वयं विवरिष्यति । अत्राव्यक्त पदेन आत्मैव परिगृहीता तेन

पुरुषस्य चतुर्विंशतिकत्वम्। अव्यक्तशब्दश्च प्रकृत्यर्थकत्वे तु पंचविंशतिकत्वं आपद्येत। अयमायुर्वेद संमतः पदार्थविवेकः ईश्वरकृष्णादि संमतात् सांख्यनयात् भिद्यते इति ज्ञेयम्। (दीपिका)। अव्यक्तशब्देन इह उभयमुच्यते। तथा च अव्यक्तं मूलप्रकृतिः। विकारग्रहणात् सा इह पुरुषोपहिता बोधव्या। पुरुषसंसृष्टायाः एव तस्याः सर्गप्रवृत्तेः। तदुक्तं "पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।" (सां० का० २१) एवं च शरीर सर्गे चतुर्विंशतिस्तत्वानि भवन्ति। (उपस्कार)।

भावार्थ—धातुभेदसे अर्थात् प्रकृति विकृति भेदसे यह (चिकित्साधिकृत पुरुष या कर्मपुरुष) पुरुष २४ तत्वोंका समुदायरूप है। आगे कहे जाने वाला २४ तत्वों वाला "राशिपुरुष" कहा गया है। ये २४ तत्व इस प्रकार हैं—मन, दस इन्द्रियां, पांच अर्थ, ये षोड़श विकार और अष्ट धातुकी प्रकति अर्थात अव्यक्त, महान्, अहंकार और पञ्चमहाभूत ; इस प्रकार षोड़श विकार और आठ प्रकृतियां मिलकर २४ होते हैं। यहां पंचमहाभूतोंका प्रकृतिवर्गमें पाठ होनेसे सूक्ष्म महाभूतोंका अर्थात् पंचतन्मात्राओंका ग्रहण होता है। यहां अव्यक्त पदसे आत्माका ही ग्रहण किया गया है। इसीसे पुरुषका चतुर्विंशतिकत्व सिद्ध होता है। यदि अव्यक्तका अर्थ प्रकृति किया जाय तो पुरुषमें पंचविंशतिकत्व आ जायगा। यह आयुर्वेद सम्मत पदार्थविवेक ईश्वरकृष्णके सांख्यमतसे भिन्न है, अव्यक्त पद यहां दोनोंके लिये आया हुआ है। अव्यक्त पद मूलप्रकृतिके लिये आता है। इसके साथ विकारका भी ग्रहण किया गया है अतः यहां पुरुषोपहित प्रकृति समझना चाहिये क्यों कि पुरुषाधिष्ठित प्रकृतिसे ही सर्गकी उत्पत्ति होती है। सांख्यमें कहा है कि "पंगु और अन्धेके न्यायसे दोनों (प्रकृति पुरुष) का संयोग होकर सर्गकी उत्पत्ति होती है।"

वक्तव्य—सांख्य दर्शनमें २५ तत्वोंका वर्णन मिलता है, जो इस पुस्तकमें पहले दिखाया जा चुका है। इनमें प्रकृति आदि २४ तत्वोंको अचेतन कहा है और २५ वां तत्व पुरुषको चेतन कहा है यही पुरुष भोक्ता होता है। यदि इस पुरुषका ग्रहण न करें तो रोग अरोगकी प्रवृत्ति ही न हो। आयुर्वेद शास्त्रका मुख्य उद्देश्य आरोग्य संरक्षण और रोगापनयन है। यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब रोगारोग्यका कोई भोक्ता हो, अतः पुरुषका ग्रहण करना ही होगा। चरक संहितामें इस (चिकित्साधिकृत) पुरुषको चतुर्विंशतिक (२४ तत्वोंका समुदाय रूप) कहा गया है। अतः सांख्यके पुरुषसे (जो २५ वां है) आयुर्वेदका पुरुष भिन्न है। आयुर्वेदके इस चतुर्विंशतिक पुरुषका समर्थन अन्य शास्त्रोंमें भी पाया जाता है, जैसे—

"श्रूयतामवनिपाल यदेतदनु पृच्छसि ।
योगानां परं ज्ञानं सांख्यानां च विशेषतः ॥
\+ \+ \+
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोड़श ।
आसां तु सप्त व्यक्तानि प्राहुराध्यात्मचिन्तकाः ॥
अव्यक्तं च महांश्चैव तथाहंकार एव च ।
पृथिवी वायुराकाशं आपोज्योतिश्च पंचमम् ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपंच रसो गन्धस्तथैव च ।
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्ं तथैवच ॥
एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पंचषु ।
बुद्धीन्द्रियाणि अथैतानि सविशेषाणि मैथिल ॥
मनः षोड़शकं प्राहु राध्यात्मगतिचिन्तकाः ॥

(शान्ति पर्व १५ अ०)

बुद्धचरितं च—

अत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।
पंचभूतान्यहंकार बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥
विकार इति बुध्यस्व विषयानीन्द्रियाणि च ।
अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात् क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ॥
क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः ।
जायते जीर्यते चैव बाध्यते म्रियते च यत् ॥
तद्व्यक्तमिति विज्ञेयं-अव्यक्तं च विपर्ययात् ।

(सर्ग १२)

इन वर्णनोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्विंशतिवादियोंका भी कोई समुदाय मध्यकालमें हुआ है। ऐसी दशामें २४ तत्वोंकी गणनामें अव्यक्त शब्दसे आत्मा तथा आत्माधिष्ठित प्रकृतिका ग्रहण ही उपयुक्त होगा।

व्यक्त तथा अव्यक्तके लक्षण और भेद—

"हेतुमदनित्यमव्यापी सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥

त्रिगुण मविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

(सां० का० १०-११)

अर्थ—हेतु वाला, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेकोंमें आश्रित, लिङ्ग वाला, अवयवों वाला और परतन्त्र पदार्थको व्यक्त कहते हैं। इसके ठीक विपरीत जो अहेतु, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है वह अव्यक्त कहलाता है। इनमें व्यक्त तथा प्रधान (अव्यक्त), त्रिगुण (सत्व रज तम गुणों वाला), अविवेकि, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है। पुरुष इससे विपरीत अर्थात् निर्गुण, विवेकी, विषय रहित असामान्य, चेतन और मध्यस्थधर्मी है।

वक्तव्य—सांख्य दर्शनमें प्रतिपादित २५ तत्त्वोंके व्यक्त तथा अव्यक्त भेदके द्वारा वैधर्म्यको दिखलाते हैं। 'व्यक्त' शब्द 'वि-विशेषे या व्यक्तौ' धातुमें 'अनज्' (स्पष्ट करना) प्रत्यय लगानेसे बनता है। (व्यक्त-त्रि०, वि+अनज्+क्तः। स्फुटे, प्रकाशिते, दृश्ये, स्थूले। शब्दस्तोम) अंग्रेजीमें व्यक्तके लिये उपयुक्त प्रतिशब्द श्री 'कोलेब्रुक' ने 'Discrete' दिया है। 'डिस्क्रीट' शब्द अंग्रेजीमें उसके लिये व्यवहृत होता है जो कारणोंसे निकला हो और जिसकी पृथक् एवं विशिष्ट सत्ता हो। (Detached from its cause and having a separate & distinct existence)

ऊपरकी कारिकामें व्यक्तका प्रथम लक्षण 'हेतुमत्' अर्थात् जो कारणोंवाला याने जो कारणोंसे उत्पन्न हो (कार्य या विकृति हो) वह व्यक्त कहलाता है जैसे—सांख्यके २५ तत्वोंमें महत्तत्वसे लेकर भूतोंतक २३ तत्व कारण वाले हैं अर्थात् विकृति है, अतः ये व्यक्त हैं। व्यक्तके अन्य लक्षण निम्न हैं—अनित्य अर्थात् अस्थायी (Temporary), उत्पत्ति, विनाशशाली, सादि और सान्त, अव्यापि अर्थात् जो सर्वत्र व्याप्त न हो (Unpervading), सक्रिय—क्रियावाला (Mutable or Movable), अनेकाश्रित—अनेक व्यक्ति तथा विषयोंमें पाये जाने वाला (Multitudinious), लिङ्ग—लिङ्ग अर्थात् चिह्नों वाला (Supporting), सावयव—अवयवों वाला और परतन्त्र—दूसरेके अधीन (Governed)। उक्त महत्तत्वसे लेकर भूतों तक २३ तत्व अनित्य हैं क्योंकि ये उत्पन्न (कारणसे कार्यमें अभिव्यक्त होने वाले) तथा विनाश (कारणमें लय होने वाले) शील हैं। अतः सादि और सान्त भी हैं। ये अव्यापी हैं अर्थात् जिस प्रकार प्रधान और पुरुष सर्वगत एवं सर्वव्यापी है, वैसे उक्त २३ तत्व सर्वव्यापी नहीं हैं। ये २३ तत्व सक्रिय भी हैं; क्यों कि ये संसारके साथ सदा परिवर्त्तित होते रहते हैं। ये अनेक हैं जैसे बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रियां,

पञ्च तन्मात्रा और पञ्च महाभूत। ये लिङ्ग वाले हैं। लिङ्ग लययुक्त होता है। ये लय कालमें अपने अपने कारणोंमें लय हो जाते हैं अतः ये लययुक्त होनेसे लिङ्ग वाले कहलाते हैं। ये सावयव—अवयवों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) के साथ हैं। ये परतन्त्र भी हैं अर्थात् स्वयंभू नहीं हैं, दूसरेके अधीन रहते हैं। ठीक इनसे विपरीत लक्षण वाला 'अव्यक्त' (प्रधान या प्रकृति) होता है। अव्यक्त (प्रकृति) का कोई कारण अर्थात् उत्पन्न करने वाला नहीं होता किन्तु यह सबका कारण होता है। यह उत्पत्ति तथा विनाशसे रहित अनादि और अनन्त होता है, अतः नित्य है। सर्वगत तथा विभु होनेसे व्यापी है। यह निष्क्रिय एक, तथा लिङ्ग रहित एवं निरवयव और स्वतन्त्र है। परन्तु व्यक्त (उक्त २३ तत्व) तथा प्रधान (अव्यक्त या प्रकृति) दोनों ही त्रिगुण, (सत्व-रज-तम) तीन गुण वाला है। पुरुषका उपभोज्य होनेसे ये दोनों (व्यक्त तथा अव्यक्त) विषय हैं। सर्वसाधारणका सामान्य अधिकार होनेसे ये सामान्य कहे गये हैं। ये दोनों अचेतन (जड़) और प्रसवधर्मी (बुद्धि अहंकार आदिको उत्पन्न करनेके कारण) हैं। पुरुष ठीक इसके विपरीत अर्थात् निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन तथा मध्यस्थधर्मी हैं।

२५ तत्वोंका निम्न प्रकार विभाग किया गया है—
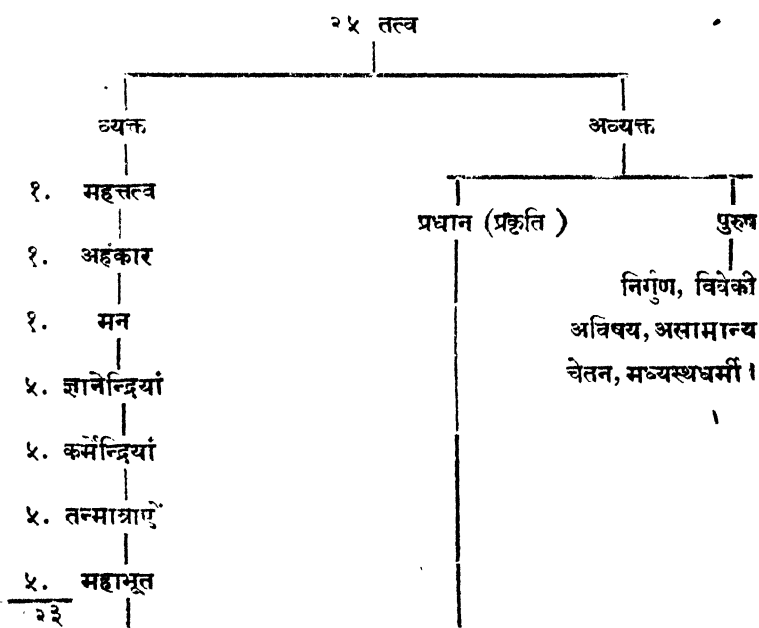
प्रकृति पुरुषका साधर्म्य-वैधर्म्य—

"अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा—उभावप्यनादी उभावप्यनन्तौ उभावप्यलिङ्गौ उभावपिनित्यौ उभावप्यपरौ उभौ च सर्वगतौ इति। एका तु प्रकृतिचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिणी अमध्यस्थधर्मिणी चेति। बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणाः अबीजधर्मिणः मध्यस्थधर्मिणश्चेति।" (सु० शा० १)

अथ इत्यादि। प्रकृतिरव्यक्तं, पुरुषः आत्मा, साधर्म्यं समानो धर्मः, वैधर्म्यं विसदृशो धर्मः, ते व्याख्यास्यामः-कथयिष्यामः। उभावप्यलिङ्गौ इति—न विद्यते लिङ्गं ययोस्तावलिङ्गौ, नित्याविति—उभावपि लयं क्वचिदपि न गच्छतः इत्यर्थः। न विद्यते अपरो याभ्यां तौ अपरौ, यतस्तावेव प्रकृतिपुरुषौ महदादिभ्यः परौ। सर्वगतौ सर्वं व्याप्य स्थितौ। साधर्म्यमुक्त्वा वैधर्म्यमाह एकेत्यादि। तयोर्मध्ये एका प्रकृतिरव्यक्तापर पर्याया,साचत्रिगुणा सत्वरजस्तमोगुणाः। तेषां गुणानां साम्यावस्थायां स्थिता सर्वेषां महदादि विकाराणां बीजभावेनावस्थिता बीजधर्मिणीत्युच्यते। गयी तु—संहारे भूतेन्द्रिय तन्मात्राहंकार महदादिनामाधारभूतेति बीज धर्मिणी। सैव सिसृक्षुणां विभूनां पुरुषेण सार्धं क्षोभमागम्य साम्यावस्थातः प्रच्युता महदहंकारादिक्रमेण चराचरस्य जगतः प्रसवित्रीत्वात् प्रसवधर्मिणीत्युच्यते। अमध्यस्थधर्मिणीति सत्वादि गुणराशितया सुखादिरूपत्वात्। सुखी हि सुखमभिलिप्सन् दुखी दुःखं विद्विषन् अमध्यस्थो भवति। प्रकृतिश्च सत्वादिरूपा ततो न मध्यस्था। बहव इति युगपन्मरणासंभवादनेक पुरुषाः; पुरुषशब्देन महदादिकृतं सूक्ष्मं लिङ्गशरीरमुच्यते, तच्च योगीनामेव दृश्यं, तत्र पुरी शेरते इति पुरुषाः। अगुणा इति अविद्यमान सत्वादि गुणाः। अबीजधर्माणो इति महदादीनां महाप्रलये प्रकृताविव तेषु अनवस्थानात्। मध्यस्थधर्माण इति प्रत्यप्रीतिविषादायोगेनेच्छा द्वेषशून्यत्वात। तदुक्तं सांख्ये—

"तस्मात्तु विपर्ययासात् सिद्धं साक्षित्वमस्यपुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टत्वमकर्तृभावश्च ॥

(डल्हण)

भावार्थ—प्रकृति पुरुषका साधर्म्य वैधर्म्य कहते हैं। समान धर्मको साधर्म्य और विसदृश (असमान) धर्मको वैधर्म्य कहते हैं। जैसे—दोनों ही (प्रकृति-पुरुष) अनादि (आदिरहित) और अनन्त (अन्तरहित) हैं। दोनों ही अलिङ्ग (लिङ्गरहित) और नित्य (लयको कभी भी नहीं प्राप्त होनेवाला) हैं। दोनों ही अपर (इन दोनोंके परे कोई पदार्थ नहीं है) हैं। दोनों ही सर्वगत (सर्वव्यापी या विभु) हैं। प्रकृति एक और अचेतन है। यह त्रिगुणा (सत्व, रज और तम गुणवाली), बीजधर्मिणी (महदादि विकारोंको बीजरूपमें धारण करनेवाली) और प्रसवधर्मिणी (महदादि विकारोंको उत्पन्न करनेवाली) है। यह अमध्यस्थ धर्म (सत्वादि गुणोंके प्रभावमें आनेवाली) है। पुरुष अनेक, चेतन तथा गुणोंसे रहित, अबीजधर्मी और मध्यस्थधर्मी है।

वक्तव्य—"उभावप्यनादी"—नास्ति आदिकारणं पूर्वकालो वा यस्य स अनादिस्तयोः—अर्थात् जिसकी आदि (कारण या पूर्वकाल) न हो, उसे अनादि कहते हैं। आदि शब्दका अर्थ यहाँ कारण है। प्रकृति तथा पुरुष दोनों अकारण अर्थात् कारणरहित हैं। इनका कोई उत्पादक नहीं है, इसीसे इन्हें सर्वत्र अकारण तथा अविकृति विशेषण दिया गया है। जैसे "मूलप्रकृतिरविकृतिः", "न विकृतिः पुरुषः" (सांख्यकारिका)। इस प्रकार इनका कोई कारण न होनेसे ये अनादि कहे गये हैं। यह अनादित्व प्रकृति तथा पुरुषमें समानरूपसे है, अतः यह इनका साधर्म्य कहा गया है। चरकमें प्रकृति और पुरुषके अनादित्वके सम्बन्धमें लिखा है कि आत्मा अनादि है, इसमें कोई सन्देह नहीं है और क्षेत्रपरम्परा भी अनादि है। अतः दोनों ही अनादि होनेके कारण इनके अनादित्वमें तरतम भेद नहीं किया जा सकता। "आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्। अतस्तयोरनादित्वात् किं पूर्वमिति नोच्यते।" (च० शा० १) इसी प्रकार ये दोनों अनन्त भी हैं। अनन्तौ-अन्तो नास्ति यस्य सोऽनन्तस्तौ। अर्थात् जिसका अन्त न हो।

भाष्यकारने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—अन्तः परिच्छेदः देशतः कालतः वस्तुतश्च यस्य नास्ति सोऽनन्तः अर्थात् देश काल तथा वस्तुसे जिसका परिच्छेद न हो उसे अनन्त कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो असीम हो उसे अनन्त कहते हैं। अन्त शब्द—सीमा तथा नाश दोनों अर्थमें प्रयुक्त होता है। यहाँ दोनों ही अर्थ उपयुक्त हैं क्योंकि इनका (प्रकृति और पुरुषका) न कोई सीमा है और न नाश ही होता है। इसप्रकार यह अनन्त तीन प्रकारका कहा गया है। जैसे—"न व्यापित्वात् देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः। न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानन्त्यंब्रह्मणित्रिधा ॥ अलिङ्गौ—न विद्यते लिङ्गं यस्य तदलिङ्गम्। लिङ्ग्यतेऽनेनेति लिङ्गम् आकाशे लक्षणं वा। लिङ्गग्राहिता व्यक्त

का लक्षण है इसलिये अलिङ्गसे अव्यक्तका बोध होता है। अथवा लिङ्गं लययुक्तं-लयकाले पंचमहाभूतानि तन्मात्रेषुलीयन्ते तानि एकादशेन्द्रियैः सह अहंकारे, स च बुद्धौ, सा च प्रधानेलयं यातीति। नैवं प्रधानं तस्मादलिङ्गं प्रधानम् (गौड़पादाचार्य) अर्थात् जिनका लय नहीं होता उस प्रकारका किं वा कारणानुमापकत्वात् लयगमनाद्वा लिङ्गं कार्यं जातम् (सा० प्र० भाष्य) इससे जो कार्य जात नहीं होता वह अलिङ्ग है। तीनों दृष्टिसे लिङ्गके वास्तविक अर्थमें अन्तर नहीं होता। अपरौ—न विद्यते परः श्रेष्ठः सूक्ष्मो वा यस्मात् तौ। अर्थात् जिससे कोई श्रेष्ठ या सूक्ष्म न हो किंवा "न हि प्रधानात् किंचिदस्ति परं यस्य प्रधान कार्यंस्यात्" (गौड़पदाचार्य) सर्वगतौ—सर्वव्यापी, सर्वमूर्त-संयोगी या विभु। इसके बाद प्रकृति और पुरुषका वैधर्म्य कहते है—"एकातु प्रकृतिः"। प्रकृति एक है। सर्वपुरुषसाधारणा अर्थात् पुरुषके असंख्यभेद होनेपर भी प्रकृति एक हो भिन्नरूपसे रहती है। त्रिगुणा—सत्वरजस्तमात्मका, ये तीनों गुण साम्यावस्थामें तथा अकार्यावस्थामें प्रकृतिमें सदा उपस्थित रहते हैं। सत्वं रजस्तम इति प्राकृतंतु गुणत्रयम्। एतन्मपि च प्रकृति अकार्यावस्थौ गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः। (सां० प्र० भाष्य)

'बीजधर्मिणी'—'बीजस्य धर्मो बीजधर्मः, सोऽस्या अस्ति इति बीजधर्मिणी' अर्थात् बीजमें जैसे वृक्षोत्पत्तिका धर्म होता है, वैसे सर्गोत्पत्तिका धर्म जिसमें उपस्थित हो, ऐसी। दृश्य सृष्टिको कई बार फलफूलसे लदे हुए वृक्षकी उपमा दी जाती है और इस सृष्टिरूप ब्रह्मवृक्षका वर्णन सांख्यतत्वोंके अनुसार करते हैं। तब प्रकृतिको बीज ही कहते हैं। जैसे—

"अव्यक्तबीज प्रभवो बुद्धिस्कन्धमयोमहान्।
महाहङ्कार विटपः इन्द्रियान्तर कोटरः॥
महाभूत विशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान्।
सदा पर्णः सदापुष्पः शुभाशुभ फलोदयः।
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्ष सनातनः।

(महाभारत)

'प्रसवधर्मिणी'—'प्रसवोऽन्याविर्भावहेतुत्वं परिणामो वा तद् रूपोधर्मो यः सोऽस्या अस्ति इति प्रसवधर्मिणी'। अर्थात् महदादि तत्वोंकी तथा समस्त चराचर सृष्टिको जन्म देनेका धर्म जिसमें उपस्थित हो, ऐसी। 'अमध्यस्थ-धर्मिणी'—'अमध्यस्थ धर्मो यः सोऽस्या अस्ति इति अमध्यस्थधर्मिणी' अर्थात् सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे विचलित होनेका धर्म जिसमें हो, ऐसी अर्थात् सुख-दुःख

भोगनेवाली, ये असमान धर्म अर्थात् पुरुषसे विरुद्ध धर्म (वैधर्म्य) प्रकृतिमें होते हैं। अब पुरुषके उन धर्मोंका वर्णन करते हैं, जो प्रकृतिमें नहीं है अथवा उसके विपरीत है। 'बहवः'—सांख्य शास्त्रानुसार पुरुष अनेक होते हैं और उनके बहुत्वमें निम्न प्रमाण दिये गये हैं। जैसे—(१) यदि पुरुष एक होता तो सबका जन्म एक समयमें होना चाहिये, सबकी मृत्यु एक समयमें होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः प्रत्येक शरीरमें पुरुष पृथक्-पृथक् होना चाहिये। (२) एक धर्ममें, एक अधर्ममें, एक ज्ञानमें, एक अज्ञानमें, एक वैराग्यमें, और एक विषयमें प्रवृत्त होता है। इस तरह प्रत्येकमें स्वतन्त्र प्रवृत्ति होती है। इसलिये प्रत्येक शरीरमें स्वतन्त्र पुरुष है। (३) कुछ सात्विक, कुछ राजस और कुछ तामस होते हैं तथा कुछ देवयोनिमें, कुछ मनुष्य योनिमें और कुछ तिर्यग्योनिमें जन्म लेते हैं। अतः प्रत्येक शरीरमें पुरुष स्वतंत्र है। सांख्यकारिका १८ में ये तीनों प्रमाण दिये गए हैं। 'अबीजधर्माणः अप्रसवधर्माणः'—समस्त संसार प्रकृतिका पर्य्यायसे त्रिगुणोंका खेल है। पुरुष त्रिगुणातीत या निर्गुण होते हैं अतः न वे प्रसवधर्मी, न बीजधर्मी हो सकते हैं। 'मध्यस्थधर्माणः'—सुखदुःखादि द्वन्द्वोंसे मध्यस्थके समान विचलित नहीं होनेवाला, इस प्रकारका धर्म जिसमें है उसे मध्यस्थ धर्मवाला कहते हैं। इसपर कोई विकार नहीं होता इसीलिये इसे निर्विकार भी कहते हैं। बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख आदि विकार प्रकृतिके हैं, पुरुष इनसे अलिप्त रहता है। इसीसे कहा है—"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः"। चरकने भी इसका समर्थन "निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः। चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः" ॥ (शा० १) इस पदके द्वारा किया है। इसकी टीकामें चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—द्रष्टा, साक्षी, तेन यतिर्यथा परमशान्तः साक्षी सन् जगतः क्रियाः सर्वाः पश्यन् न रागद्वेषादिना युज्यते, तथा आत्माऽपि सुखदुःखाद्युपलभ्यमानोऽपि न रागादिना युज्यते ; दृश्यमान रागादिविकारस्तु मनसि प्राकृतबुद्धौ वा सांख्यदर्शनपरिग्रहाद् भवतीति भावः"। इस तरह पुरुष अकर्ता होनेपर भी व्यवहारमें वही कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसका समाधान यह है कि जैसे रक्तपुष्पकी सन्निधिसे श्वेत आदर्शमें रक्तिमा आ जाती है, चुम्बक सन्निधिसे लोहेमें चुम्बकत्व आ जाता है, वैसे ही कर्तृ प्रकृतिकी सन्निधिसे पुरुषमेंभी कर्तृत्व और भोक्तृत्व आरोपित होता है।

"यथा हि महाराजः स्वयमव्याप्रियमाणेऽपि सैन्येन करणेन योद्धा भवति आज्ञामात्रेण प्रेरकत्वात्, तथा कूटस्थोऽपिपुरुषश्चक्षुराद्यखिलकरणै-र्द्रष्टा वक्ता संकल्पयिताचेत्येवमादिर्भवति। संयोगाख्य सान्निध्यमात्रेणैवतेषां प्रेरकत्वात् अयस्कान्त मणिवत् इति। अतः आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वञ्च

संस्थितम्। निरिच्छत्त्वादतोऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः यथाहि केवलो रक्तःस्फटिकः लक्ष्यते जनैः। रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत् परं पुरुषः॥

(सां. प्र. भाष्य)

तन्मात्राओंका निरूपण—

"स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य।" (सां. द. १।६२)

"तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्चपञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ताः घोराश्च मूढाश्च॥"

(सां. का. ३८)

शब्दादि तन्मात्राणि सूक्ष्माणि, न चैषां शान्तत्वादिरस्त्युपभोगयोग्यो विशेष इति मात्र शब्दार्थः। तन्मात्राणि त्वस्मदादिभिः परस्परव्यावृतानि नानुभूयन्ते इति "अविशेषा।" इति 'सूक्ष्मा' इति चोच्यन्ते। अविशेषान् उक्त्वा विशेषान् वक्तुमुत्पत्तिमेषामाह—तेभ्यः—तन्मात्रेभ्यो यथा संख्यं एकद्वित्रिचतुः पंचभ्यो भूतानि—आकाशानिलानलसलिलावनि रूपाणि पंच। पंचभ्यः—तन्मात्रेभ्योऽस्त्वेषांभूतानामुत्पत्तिः, विशेषत्वे किमायतम्? इत्यत आह—"एते स्मृताः विशेषाः" इति कुतः? "शान्ताः घोराश्च मूढाश्च"। चकार एको हेतौ; द्वितीयः समुच्चये। यस्मादाकाशादिषु स्थूलेषु सत्वप्रधानतया केचिच्छान्ताः—सुखाः-प्रसन्नाः-लघवः, केचिद्रजः प्रधानतया घोराः-दुखाः-अनवस्थिताः केचित्तमः प्रधानतया मूढाः-विषन्नाः-गुरवः। तेऽमी परस्परव्यावृताः अनुभूयमानाः 'विशेषा' इति 'स्थूलाः' इति चोच्यन्ते। (वाचस्पति मिश्र)

स्थूलसे (पञ्चमहाभूतोंसे) पञ्चतन्मात्राका (सूक्ष्मभूतोंका) अनुमान होता है। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थोंके गुणका बाह्येन्द्रिय द्वारा ज्ञान होता है वह स्थूल होता है। जैसे—पञ्चमहाभूतोंके (शब्दादि) गुणोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ज्ञान होनेसे उन्हें स्थूल कहते हैं। (सूक्ष्मभूतानां द्रव्यानां स्थूलभूतैरनुमानं भवति) किसी स्थूल (कार्य) द्रव्यको देखकर हम उसके सूक्ष्म (कारण) द्रव्य का अनुमान करते हैं यह नियम है। इसी प्रकार स्थूल पञ्चमहाभूतोंको देखकर उसके कारण सूक्ष्मभूतोंका अर्थात् पञ्चतन्मात्राओंका अनुमान करते हैं। ये तन्मात्राएँ भूतादि (तामसिक) अहंकारसे तैजसकी सहायतासे उत्पन्न होती हैं।

शब्दादिका अमिश्रित-पृथक्-पृथक् सूक्ष्ममूलरूप या बीज रूप तन्मात्रा कहलाती है। आपसमें इनका पार्थक्य (जैसे शब्दतन्मात्रासे रूपतन्मात्राका) बाह्य इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता। ये तन्मात्राएँ अविशेष कहे जाते हैं। (देखिये ऊपरकी कारिका) इस कारिकाकी टीकामें जो ऊपर उद्धृत किया गया है वाचस्पति मिश्रने कहा है कि ये शब्दादितन्मात्राएँ सूक्ष्म हैं, क्योंकि इनमें शान्तत्वादि उपभोग्य विशेष नहीं है। इसलिये ये अविशेष तन्मात्र शब्दसे कहे गये हैं। ये तन्मात्राएँ अलग-अलग (व्यावृत) अनुभव नहीं किये जा सकते, इसीसे इन्हें अविशेष या सूक्ष्म कहते हैं। गौड़पादने इसे और स्पष्ट किया है।

"यानि पञ्चतन्मात्राणि। अहंकारादुत्पद्यन्ते ते शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं एतानि अविशेषा उच्यन्ते। देवानामेते सुख लक्षण विषयाः दुःखमोहरहितास्तेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि पृथ्वप्तेजोवायवाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते। एते स्मृताः विशेषाः एते विषयाः मनुष्यणां विषयाः। शान्ताः सुखलक्षणाः घोराः दुःखलक्षणाः मूढ़ा मोहजनकाः, यथा आकाशं कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति। तदेव पन्थानं गच्छतो वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढ़ं भवति इत्यादि।"

अर्थात् ये पञ्चतन्मात्राएँ जो अहंकारसे उत्पन्न होती हैं वे ये हैं—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा। ये अविशेष कहे गये हैं। ये देवताओंके लिये सुख देनेवाले विषय हैं। इस प्रकार दुःख और मोहसे रहित उन पञ्चतन्मात्राओंसे पांच महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है जिन्हें विशेष कहते हैं। ये मनुष्योंके उपभोगके विषय हैं। ये सुखलक्षणवाले, दुखलक्षणवाले तथा मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। जैसे; आकाश—किसी ऐसे मनुष्यके लिये जो खुले मैदान न मिलनेके कारण घरमें बन्द हो, उसके लिये सुख देनेवाला होता है और वही आकाश शीत, वात, वर्षा तथा आतपसे पीड़ितके लिये दुखद होता है। इसी प्रकार जङ्गलमें जाते हुए मनुष्यके लिये दिग्भ्रम मोहको उत्पन्न कर देता है इत्यादि।

सांख्यानुमत तन्मात्रा और वैशेषिकानुमत परमाणुओंका अभेद—

सांख्य तथा वैशेषिक दोनोंके अनुसार यह जगत् भौतिक है अर्थात् पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ है। संसारके निर्माणमें ये पञ्चमहाभूत अपने सूक्ष्मरूपसे

ही परस्पर सम्मिलित होते हैं। और उन सूक्ष्मभूतोंके तरतमांशसे ही नाना प्रकारके द्रव्योंसे भरा यह संसार निर्मित होता है। यदि हम संसारके विविध द्रव्योंकी बनावटपर ध्यान दें और इनके रहस्यका पता लगावें तो अन्तमें एक ही तथ्य मालूम होगा कि इन द्रव्योंके उत्पादक कोई परम सूक्ष्म द्रव्य हैं। सांख्यके अनुसार इस भौतिक जगत्का कारण पञ्चमहाभूत है जो पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न होता है। पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चमहाभूतोंके ही सूक्ष्मरूप हैं जो दृष्टि-गोचर नहीं हो सकती अर्थात् अतीन्द्रिय है। किसी कार्यद्रव्यकी उत्पत्तिमें उक्त पञ्चमहाभूत अपनी सूक्ष्मरूप (तन्मात्रा) के तरतमांशसे ही मिलते हैं, जैसे—पार्थिव द्रव्यकी उत्पत्तिमें पृथ्वी सूक्ष्मभूत (गन्धतन्मात्रा) अन्य सूक्ष्मभूतोंकी अपेक्षा अधिक होती है। इसी प्रकार आप्य द्रव्योंमें अप् सूक्ष्मभूत (रसतन्मात्रा) तैजस द्रव्यमें तेज सूक्ष्मभूत (रूपतन्मात्रा), वायवीय द्रव्यमें वायु सूक्ष्मभूत (स्पर्शतन्मात्रा) और तामस द्रव्यमें आकाश सूक्ष्मभूत (शब्दतन्मात्रा) अन्यभूतोंकी अपेक्षा अधिक होगी। वैशेषिक सृष्टिकी उत्पत्तिमें नौ नित्य कारण द्रव्योंका उल्लेख करते हैं जिनमें इस भौतिक जड़ जगत्की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतोंसे मानते हैं। इन पञ्चमहाभूतोंमें पृथ्वी, अप्, तेज, और वायु अपने सूक्ष्मरूप अर्थात् परमाणुरूपसे संसारकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। ये परमाणु भी परम-सूक्ष्म अतीन्द्रिय, निरवयवद्रव्य हैं जो पहले परमाणु विवेचनमें स्पष्ट किया जा चुका है। इसी प्रकार सांख्यानुमत जगत्का कारण द्रव्य परमसूक्ष्म अतीन्द्रिय तन्मात्रा तथा वैशेषिकानुमत जगत्का कारण द्रव्य परमसूक्ष्म, अतीन्द्रिय, परमाणु ये दोनों एक ही पदार्थ हैं इनमें कोई भेद नहीं है। (विशेष विवेचनके लिये परमाणुवाद और प्रकृतिका वर्णन देखो)।

सत्कार्यवाद—

> "असदकरणादुपादान-ग्रहणात् सर्वसम्भवा भावात्।
> शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥"
>
> (सां. का. ९)

भावार्थ—"असदकारणात्"—अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि कारणमें कार्यकी सत्ता नहीं होती तो कर्ताके कितने ही प्रयत्न करनेपर वह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। वाचस्पति मिश्रका यह कथन कि नीलवस्तु सहस्रों शिल्पियोंके प्रयत्न करनेपर भी किसी प्रकार पीतरंगकी नहीं हो सकती, नितान्त युक्तियुक्त है। "उपादानग्रहणात्"—किसी वस्तुकी उत्पत्ति के लिये केवल विशिष्ट साधनोंका उपयोग किया जाता है। दही चाहनेवाला दूधको ही ग्रहण करता है। तन्तुओंसे ही कपड़ा बुना जाता है। इन व्यवहा-

रिक दृष्टान्तोंसे स्पष्ट है कि कार्य कारणका सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी कार्य किसी भी कारणसे उत्पन्न होता दिखाई देता, पर ऐसा नहीं होता। "सर्वसम्भवाभावात्"—सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति कभी भी नहीं देखी गई यह भी कार्यकारणके पूर्व स्थिति सम्बन्धका नियामक है। "शक्तस्य शक्यकारणात्"—शक्त अर्थात् (शक्तिमान) शक्तिसम्पन्न कारणसे शक्यवस्तुकी उत्पत्ति होते देख यही कहा जा सकता है कि कारणमें कार्यकी सत्ता अव्यक्तरूपसे अवश्य विद्यमान रहता है।

"कारणभावात्"—कार्य तथा कारणकी एकता वास्तविक है। वस्तुतः कार्य और कारण एक ही वस्तुकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं। व्यक्त दशाका नाम कार्य और अव्यक्त दशाका नाम कारण है।

वक्तव्य—सांख्यका सिद्धान्त इस विषयमें विलक्षण है। उसका कहना है कि उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य, कारणमें अवश्यमेव अव्यक्तरूपसे विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य तथा कारणमें वस्तुतः अभिन्नता है। कार्यकी अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है और कारणका अव्यक्तावस्थाको ही संज्ञा कार्य है। इस प्रकार कार्यकारणका भेद व्यवहारिक है किन्तु अभेद तात्विक है। इस सिद्धांत को 'सत्कार्यवाद' या 'परिणामवाद' कहते हैं। इसीको 'कार्यकारणवाद' भी कहते हैं। इसकी पुष्टिमें सांख्यदर्शनमें निम्न युक्तियाँ दी गई हैं। जैसे— नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत् (सां० द० ११४) अर्थात् असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती मनुष्यकी सींगकी भाँति। "उपादाननियमात्" (सां० द० ११५)— उपादान कारणके नियमसे असत् कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् सत् कारणसे सत्कार्यकी उत्पत्तिका नाम उपादान नियम है। जैसे—भावरूप तन्तुओंसे भावरूप पटकी उत्पत्ति, मिट्टीसे घरकी उत्पत्ति इत्यादि।

"सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्" (सां० द० ११११६) अर्थात् सब कालमें हर एक कारणसे प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होना असम्भव है। इसलिये कार्यको असत् कहना ठीक नहीं। 'शक्तस्य शक्य करणात्' तथा 'कारण भावाच्च'। इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। संसारके प्रति दिनका अनुभव इसी सिद्धांत को पुष्ट करता है। इन सब प्रमाणोंके आधारपर हम इसी सिद्धान्तपर पहुंचते हैं कि कारण व्यापारके पहले भी कारणमें कार्यकी सत्ता रहती है। इसी कारण सांख्यके मतसे न तो किसी वस्तुकी उत्पत्ति होती है और न विनाश। कर्तृव्यापारसे वस्तुका आविर्भाव मात्र होता है। अव्यक्त वस्तु व्यक्तरूपको धारण करती है। व्यापारके विराम होनेपर वस्तु अव्यक्तावस्थाको प्राप्त होकर स्थूलसे सूक्ष्ममें परिणत होती है। तात्पर्य यह कि सत्कार्यवादके सिद्धान्तानुसार (सांख्यमतानुसार) इस संसारमें सर्वथा नवीन द्रव्य न कोई उत्पन्न होता है

न उसका सर्वथा विनाश ही होता है। द्रव्यकी उत्पत्तिका अर्थ यह है कि जो द्रव्य पहले अव्यक्तावस्थामें या अनुद्भूत था, वह व्यक्तावस्थामें या उद्भूत हो गया है। विनाशका अर्थ आविर्भूत द्रव्यका तिरोभाव होता है। इसीलिये भगवद्गीतामें भी कहा है कि—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

तथा उपनिषद्में कहा है कि—

'नाऽवस्तुनोवस्तु सिद्धिः" इत्यादि।

ऋग्वेदमें भी इसका समर्थन मिलता है—

"नासदासीन्नोसदासीद् तदानीं, नासीद्रजो नो व्योमा परा यत् किमादीवः कुहकस्य शर्मन्नभः किमासीद् वहवं गम्भीरम्"

(१०।१०।१२९)

तथा छाँदोग्यमें कहा है कि—

सदेव सौम्य इदमय आसीदेकमेवा द्वितीयम्।"

निष्कर्ष यह निकला कि किसी भी वस्तुकी वस्तुतःमें उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता; उनके रूपके परिवर्तनको ही (व्यक्त रूप होनेको ही) उत्पत्ति और (अव्यक्तरूप होनेको ही) विनाश शब्दसे लोकमें प्रसिद्धि होती है, जैसे कि गीतामें कहा है—

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके॥"

(भ० गी० ८।१८)

सत्कार्यवादके समर्थनमें उक्त सांख्य कारिकाकी व्याख्या करते हुए श्रीवाचस्पति मिश्र लिखते है कि—

'स्वात्मनि क्रिया निरोध बुद्धिव्यपदेशाथ क्रियाव्यवस्थाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति, एकस्मिन्नपि तत्तद् विशेषाविर्भवति-रोभावाभ्यामेतेषामविरोधात्। यथा हि कूर्मस्यांगानि कूर्मशरीरे निवेश-मानानि तिरो भवन्ति, निस्सरन्ति चाविर्भवन्ति, नतु कूर्मस्तदंगान्युत्प-द्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा, एवमेकस्या मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निस्सरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते, निवेशमानाश्च तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते, न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोधः, यथाह—

भगवान् कृष्णद्वैपायनः—'नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यतेसतः' इति। यथा कूर्मः स्वावयेभ्यः संकोच विकाशिभ्यो न भिन्न एवं घट मुकुटादयोऽपि मृत्सुवर्णादिभ्यो न भिन्नाः।"

अर्थात् एक वस्तुमें उत्पत्ति तथा विनाश क्रियाकी बुद्धिके व्यपदेशका समर्थन होनेसे, जैसे यह तन्तु है यह पट है इस प्रकार तन्तुमें पट बुद्धिके व्यपदेशका सामर्थ्य होनेसे, एकान्तिक भेदकी सिद्धी नहीं हो सकती; क्योंकि एक द्रव्यमें उनकी विशेष अवस्थामें आविर्भाव तथा तिरोभाव होनेसे उनमें वास्तविक अभेद है। जैसे कछुएका अङ्ग कछुएके शरीरमें निवेश होनेसे छिप (तिरोभाव) जाता है और पुनः निकलनेसे वह (आविर्भाव) दिखने लगता है; न कि कछुआ उन अङ्गोंको उत्पन्न तथा विध्वंस करता है। इसी प्रकार मिट्टीका घड़ा तथा सुवर्ण का मुकुट आदिका आविर्भाव उसकी उत्पत्तिका बोधक होता है और उसका निवेश अर्थात् घड़ेका पुनः मिट्टीके रूपमें हो जाना तथा मुकुटका पुनः स्वर्णके रूपमें हो जाना उनका विनाश कहलाता है। इस व्यवस्थासे असत्की उत्पत्ति तथा सत्का विनाश नहीं सिद्ध होता; क्योंकि जिस प्रकार कछुएका अङ्ग कछुएसे भिन्न नहीं, उसी प्रकार घट तथा मुकुट आदि मिट्टी तथा सुवर्णसे भिन्न नहीं हैं।

सांख्यानुमत गुणनिरूपण— (सत्व-रज-तम निरूपण)

"प्रीत्यप्रीति विषादात्मकाः प्रकाश प्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभावाश्रय जनन मिथुन वृत्तयश्च गुणाः॥
सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

(सांख्य का. १२।१३)

अर्थ—गुण अर्थात् सत्व, रज और तम ये तीन गुण क्रमशः प्रीत्यात्मक, सुखात्मक, अप्रीत्यात्मक, दुःखात्मक और विषादात्मक, मोहात्मक हैं। ये क्रमशः प्रकाशके लिये प्रकृतिके लिये और नियमके लिये हैं। ये अन्योन्याभिभव अर्थात् परस्पर एक दूसरेके धर्मसे अभिभूत होते रहते हैं, अन्योन्याश्रय अर्थात् एक दूसरे पर आश्रित हैं, अन्योन्य जनन अर्थात् एक दूसरेको उत्पन्न करनेवाले हैं, अन्योन्य मिथुन अर्थात् एक दूसरेसे मिलकर रहनेवाले हैं और अन्योन्य वृत्ति अर्थात् एक दूसरेमें रहनेवाले हैं। 'सत्व' लघु अर्थात् (अङ्गोंमें) लघुत्वको उत्पन्न करनेवाला प्रकाशक अर्थात् (बुद्धिको) प्रकाशित करनेवाला है। 'रज' उपष्टंभक अर्थात् संघर्ष या उत्तेजना पैदा करनेवाला और चल अर्थात् गतिशील या गतिको उत्पन्न करनेवाला है। 'तम' गुरु अर्थात् गुरुत्व उत्पन्न करनेवाला

और वरणक अर्थात् आवरण करनेवाला है। प्रदीपके समान मिलकर ये अपने गुणको प्रकट करते हैं।

भाष्य—'प्रीत्यात्मकं'—सत्वं प्रीत्यात्मकं, प्रीतिः सुखं तदात्मकम् इति। अप्रीत्यात्मकं रजः। विषादात्मकं तमः। विषादो मोहः। प्रकाशार्थं सत्वं-प्रकाशसमर्थमित्यर्थः। प्रवृत्यर्थं रजो, नियमार्थं तमः स्थितौसमर्थ-मित्यर्थः। प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीला गुणा इति। (गौड़ पाद)

सत्वगुण सुखात्मक, रजोगुण दुःखात्मक तथा तमोगुण मोहात्मक होता है। 'सत्व'में प्रकाशका सामर्थ्य है; 'रज'में प्रवृत्तिका सामर्थ्य है और 'तम'में नियमका सामर्थ्य है। ये गुण क्रमशः प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील हैं।

अन्योन्याभिभव इति। अन्योन्यं परस्परमभिभवतीति प्रीत्यप्रीत्या-दिभिर्धर्मैरभि भवन्ति। यथा—यदा सत्वमुत्कटं भवति तदा रजस्तमसी अभिभूय स्वगुणैः प्रीतिप्रकाशात्मकेन अवतिष्ठते, यदा रजस्तदा सत्व-तमसी अप्रीतिप्रवृत्तिधर्मेण, यदा तमस्तदा सत्वरजसी विषादस्थित्यात्मकेन इति। तथा अन्योन्याश्रयाश्च द्वयणुकवद्गुणाः। अन्योन्यजननाः यथा—मृत्पिण्डो घटं जनयति। अन्योन्यमिथुनाश्च यथा—स्त्रीपुंसौ अन्योन्य-मिथुनौ तथा गुणाः। उक्तञ्च—

रजसो मिथुनं सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः।
उभयोः सत्वरजसो मिथुनं तम उच्यते॥

परस्परसहाया इत्यर्थः। अन्योन्यवृत्तयश्च परस्परं वर्तन्ते गुणाः गुणिषु वर्तन्त इति वचनात्। (गौड़पादः)

अर्थात् ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरेके धर्मसे पराजित होते रहते हैं, जैसे—जब सत्व उत्कट होता है तब रज और तम, सत्वके प्रीति और प्रकाश धर्मसे दब जाते हैं। इसी प्रकार जब रज उत्कट होता है तब सत्व और तम, रजके अप्रीति और प्रवृत्ति धर्मसे तथा जब तम उत्कट होता है तब सत्व और रज, तमके विषाद और स्थित्यात्मक धर्मसे दब जाते हैं। ये एक दूसरेपर द्वयणुक आदिकी तरह आश्रित रहते हैं। ये एक दूसरेके मृत्पिण्डसे घटके समान उत्पादक हैं। ये परस्पर स्त्री-पुरुषके समान मिले रहते हैं अर्थात् एक दूसरेके सहायक होते हैं। ये एक दूसरेमें रहनेवाले हैं क्योंकि गुण गुणीमें रहता है ऐसा वचन है। सत्व जब उत्कट होता है तब अङ्गोंमें लघुता उत्पन्न करता और बुद्धिको प्रकाशित

करता है। रज जब उत्कट होता है तो (संघर्ष) प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, जैसे वृषभको देखकर वृषभ उत्तेजित होता है। रज चल अर्थात् गतिको उत्पन्न करनेवाला है। तम गुरुत्व तथा रुकावट उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—जगत्के समग्र पदार्थ सुख, दुख और मोहात्मक है। सुन्दर रमणी पतिके हृदयमें आनन्दोल्लास प्रकट करती है, उसकी अप्राप्तिसे व्यथित कामीजनोंके हृदयको कभी दुखकी आगमें जलाती है और कभी मह्रोके अन्धकार में निमग्न कर देती है। आशय यह है कि एक ही वस्तु इन परस्पर विरुद्ध त्रिविध विशेषताओंको भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें उत्पन्न किया करती है। इन तीनोंको गुण कहते हैं। नाम सामान्य होनेपर भी सांख्याभिमत गुण (सत्व, रज, तम) वैशेषिक कल्पनाके अनुसार गुण नहीं हैं प्रत्युत् संयोग विभागशाली और लघुत्वादि धर्मयुक्त होनेसे द्रव्यरूप है। वाचस्पति मिश्रके मतसे इन्हें गुण कहनेका अभिप्राय यही है कि ये तीनों प्रकृतिके स्वरूप विधायक अङ्गरूप हैं और पुरुषके अर्थको सिद्ध करनेवाले हैं। (परार्थाः गुणाः, सां० कौ० १२)। गुणका अर्थ रस्सी भी है अतः विज्ञानभिक्षुके अनुसार पुरुषको बन्धनमें डालनेवाले त्रिगुणात्मक महत्तत्वादिके निर्माता होनेसे इन्हें गुण कहते हैं (सां० प्र० भाष्य) गुण तीन प्रकारके होते हैं सत्व, रज और तम। सत्वगुण प्रीतिरूप लघु और प्रकाशक होता है। रज दुखात्मक, चञ्चल और कार्यमें प्रवर्तक होता है। तमोगुण मोहरूप, भारी और रोकनेवाला होता है। इस प्रकार परस्पर भिन्न स्वभाव होनेपर भी पुरुषके लिये इनकी वृत्ति प्रदीपके समान अनुकूल (एकाकार) होती है। गुणोंका स्वभाव चलनात्मक हैं अतः व्यक्तावस्था या अव्यक्तावस्था उभय दशामें ये परिणामशील हैं। प्रकृति अवस्थामें इनमें पारस्परिक संयोग नहीं रहता क्योंकि उस समयमें वे अपने विशुद्धरूपमें अवस्थान करते हैं। इस दशामें भी परिणाम होता है जिसे 'सदृश परिणाम' कहते हैं। (सत्वं सत्वतया परिणमति, रजः रजस्तया, तमश्च तमस्तया) सृष्टि दशामें गुणपरिणामको नहीं प्रत्युत् विकारको उत्पन्न करते हैं। विकार परिणाम हो सकता है पर परिणाम विकार नहीं हो सकता। समान भावसे परिवर्तन परिणाम है परन्तु वैषम्य-रूपेण परिवर्तन विकार है। गुण इन्द्रियातीत हैं उनका रूप कभी अनुभवका विषय नहीं हो सकता, क्षित्यादि तद्विकार ही दृष्टिगोचर होते हैं जो वेदान्तानुसार मायिक और तुच्छ हैं।

"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥"

(षष्टितन्त्र)

इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम 'प्रकृति' है। बौद्धोंके समान सांख्य सिद्धान्त भी परिणाम नित्यताको स्वीकार करता है। प्रकृति नित्य परिणामशालिनी है। जगत्‌के समस्त पदार्थ प्रतिक्षणमें परिवर्तित होते रहते हैं। परन्तु यह परिणाम एकान्तिक नहीं है, क्योंकि अवस्था परिवर्तित होनेपर भी ये गुण अनुस्यूत रूपसे विद्यमान रहते हैं। प्रकृति जब गुण साम्यके कारण अव्यक्त रूपमें रहती है तब प्रलय होता है। गुण विषमताके कारण सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रलयावस्थामें भी प्रकृति परिणामशालिनी होती है; अन्तर इतना ही होता है कि उस समयका परिणाम भिन्न वस्तुओंको पैदा न कर अपनेको ही प्रकट किया करता है। इसीको सजातीय या 'स्वरूप परिणाम' कहते हैं। इस प्रकार भौतिक जगत्‌के विषयमें सांख्यका यह मान्य सिद्धान्त है कि 'चित्तिशक्ति' को छोड़कर समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। "प्रतिक्षणपरिणामितो हि सर्व एव भावाः ऋते चित्तिशक्तेः" (सां० कौ० ५)। भगवान कृष्णद्वैपायनने भी भगवद्गीतामें बहुत सुन्दर वर्णन उक्त तीनों गुणोंका किया है, जैसे—

"सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुख सङ्गेन बध्नाति ज्ञान सङ्गेन चानघ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवान्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म सङ्गेन देहिनाम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व देहिनाम्।
प्रमादालस्य निद्राभि स्तान्निबध्नाति भारत॥
सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥"

(भगवद्गीता १४)

सत्वादि गुणोंमें अविवेकित्व आदिकी सिद्धि और उसके लिये प्रधानकी सिद्धि—

"अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।
कारण गुणात्मकत्वात् कार्य्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥"

(सां. का. १४

अर्थ—सत्वादि गुण अविवेकत्व, विषयत्व और अचेतनत्व, धर्मवाले हैं; क्योंकि ये त्रिगुण हैं। जो-जो त्रिगुण वस्तु देखी जाती है वह सत्य अविवेकित्वादि धर्मयुक्त होती हैं। जहाँ आत्मा या पुरुषमें अविवेकत्वादि धर्म नहीं है वहाँ ये त्रिगुण भी नहीं हैं। कार्य कारण गुणात्मक अर्थात् कारणके गुणवाला होता है अतः अव्यक्तकी भी सिद्धि होती है। अर्थात् महदादि सब कार्य गुणवाले (त्रिगुण) हैं और कार्यमें गुणकी अनुवृत्ति (आगमन) कारणसे ही होती है। जैसे नील वस्त्रमें उसके कारण नील तन्तुओंसे ही नीलरंग (रूप) की अनुवृत्ति होती है; अतः महदादि कार्योंमें गुण (त्रिगुण) की अनुवृत्तिके लिये कोई कारण होना चाहिये। इस प्रकार उनका कारण अव्यक्त या प्रकृति जो उक्त तीनों गुणों की साम्यावस्था है; सिद्ध होता है।

अव्यक्त (मूल प्रकृति) से जगतकी उत्पत्ति---

"भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारण कार्य विभागा दविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥
कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्त्तते त्रिगुणतः समुदायाच्च ।
परिणामतः सलिलवत्, प्रतिप्रतिगुणाश्रय विशेषाद् ॥

(सां. का. २५।१६)

अर्थ—महसे लेकर पृथ्वी पर्यन्त व्यक्ततत्वोंका (भेदानां) कारण (उत्पन्न करनेवाला) 'अव्यक्त' है (कारणमव्यक्तमस्ति)। इसका कारण यह है कि ये (महदादि) परिमित हैं (परिमाणात्) और इनमें समान जातित्व है (समन्वयात्)। जिसमें जो शक्ति है वह उसी शक्य अर्थमें प्रवृत्त होता है (शक्तितः प्रवृत्तेश्च), कारण (उत्पन्न करनेवाला) और कार्य (उत्पन्न पदार्थ) का विभाग है (कारण कार्य विभागात्) और इनके विश्वरूपमें कोई विभाग नहीं है (अविभागद्वैश्वरूपस्य)। उपर्युक्त कारणोंसे महदादिका कारण अव्यक्त सिद्ध होता है। यह (अव्यक्त) अपने तीनों गुणोंसे (सत्व, रज, तम) उनके समुदायसे तथा जलके समान परिणामसे (अभिव्यक्तसे) एवं भिन्न-भिन्न विषयों के लिये भिन्न गुणोंसे कार्य करता है।

वक्तव्य—प्रकृतिकी सिद्धिके लिये अनेक युक्तियाँ प्रदर्शितकी गई हैं जैसे—(१) जगत्‌के समस्त पदार्थ परिमित (सीमित) तथा परतन्त्र हैं अतः इनका मूलकारण अवश्य ही अपरिमित तथा स्वतन्त्र होना चाहिये। (२) संसारके पदार्थोंमें त्रिविधगुणोंकी सत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक पदार्थ सुख-दुख तथा मोह उत्पन्न करनेवाला होता है। अतः एक ऐसा मूलकारण जिसमें इन गुणोंका सद्भाव हो, होना अत्यावश्यक है। (३) कारणशक्तिसे कार्यकी प्रवृत्ति अनुभवसिद्ध है और यह सब शक्ति कार्यकी अव्यक्तावस्थाको छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। अतः समस्त कार्योंके जनक किसी अव्यक्ततत्वकी कल्पना युक्तिविरहित नहीं मानी जा सकती। (४) आविर्भाव कालमें कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है तथा विनाश कालमें कार्यका उसी कारणमें विलय दीख पड़ता है। अतः निश्चित है कि सृष्टिकालमें पदार्थ जिस मूलकारणसे उत्पन्न होते हैं, प्रलयकालमें उसीमें विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार अपरिमित, स्वतन्त्र, सर्व-व्यापक मूलकारणको मानना पूर्वोक्त युक्तियोंके आधारपर नितान्त युक्तियुक्त है (सां० प्र० भाष्य)।

उपर्युक्त कारिकामें महत्तत्त्वसे लेकर पृथिवी पर्यन्त सभी व्यक्त तत्वोंका पूर्वोक्त युक्तियोंके आधारपर (परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेः, कारणकार्यविभागात्, अविभागाद्वैश्वरूपस्य) अव्यक्त (प्रकृति या प्रधान) कारण कहा गया है।

यह अव्यक्त अपने अन्दर स्थित तीनों गुणोंसे कार्य करता है। वाचस्पति-मिश्रने इन तीनों गुणोंको परिणाम स्वभाववाला कहा है। "परिणामस्वभावाः त्रिगुणाः नापरिणम्यक्षणमवतिष्ठते" अर्थात् ये तीनों गुण परिणाम स्वभाववाले हैं एक क्षण भी अपरिणतावस्थामें नहीं ठहरते। अतः ये अपने सतत परिणाम स्वभावके कारण अपने तरतमांशके समुदायसे (समुदायाच्च) परिवर्तित होता हुआ (परिणामतः) महदादिको उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार एकरस मेघका जल पृथ्वीपर गिरता हुआ नाना परिस्थितियोंके सम्पर्कमें आनेके कारण मधुरादि अनेक रूप धारण करता है, जैसे नारियल, विल्व, ताल आदि फलोंमें प्राप्त होकर उनके गुणको धारण कर तदनुकूल मधुरादि रसका रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार यह अव्यक्त (प्रकृति) एक होनेपर भी अपने गुणों (सत्व, रज, तम) के उत्कर्षापकर्षसे तथा आश्रय विशेषके भेदसे विभिन्न महत्तत्वसे लेकर पृथिवी पर्यन्त स्थूलभूतोंको उत्पन्न करते हैं जिससे यह जगत् बनता है। जगत् भौतिक है और जगत्‌का उपादान कारण पञ्चमहाभूत उक्त अव्यक्तसे उत्पन्न होता है।

आत्मविज्ञान

चतुर्थ अध्याय

—०—

अथ पदार्थ विज्ञाने आत्मविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो
यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः

आत्मनिरूपण--- (पुरुषकी सत्तामें प्रमाण)

"संहत परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

(सां० का० १७)

अर्थ—संगठित अर्थ दूसरेके लिये होनेके कारण, त्रिगुणीमय प्रकृतिसे भिन्न होनेके कारण, अधिष्ठाताकी सत्ता होनेके कारण तथा कैवल्यके लिये प्रवृत्त होनेके कारण पुरुषकी सत्ता माननी पड़ती है ।

वक्तव्य—सांख्यमें पुरुषकी कल्पना निम्नयुक्तियोंके दृढ़ आधारपर की गई है । (१) जगतके समस्त पदार्थ संघातमय हैं । घर, ईंट, पत्थर, चूना आदि वस्तुओंका समुदाय है । वस्त्र अनेक तन्तुओंका समूह है । संगठित वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वे किसी अन्यके उपभोग (संहत पदार्थत्वात्) के लिये हुआ करती है । अतः प्रकृतिसे उद्भूत यह संघातमय जगत् अवश्य ही प्रकृति से अन्यके (उपभोग) लिये ही स्थित है । वह अन्य, इस जगत्से नितान्त विलक्षण 'पुरुष' है । (२) त्रिगुणमय प्रकृतिसे भिन्न होनेके कारण (त्रिगुणादि-विपर्ययाद्) भी किसी एक असंहत (असंगठित) पदार्थकी कल्पना न्याययुक्त है । (३) 'अधिष्ठानात्'—जड़ पदार्थमें बिना 'चेतना'के अधिष्ठान हुए प्रकृति नहीं दीख पड़ती । रथ एक स्थानसे दूसरे स्थानको तभी जा सकता है जब उसका नियन्ता चेतन सारथि होता है । इसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् किसी चेतन पदार्थके द्वारा अधिष्ठित हो कर ही प्रवृत्त होता है । (४) 'भोक्तृ-भावात्'—संसारके समस्त विषय भोग्य हैं । इसीसे योग सूत्रमें कहा है—"भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" (यो० सू० २।१८) । अतः इनका भोक्ता अर्थात्

भोग करनेवाला भी आवश्य होना चाहिये। साथ ही जो कोई भी इसका भोक्ता होगा वह गुणोंमें इनसे नितान्त भिन्न तथा विलक्षण होगा। अतः इन भोग्य विषयों (जगत्) का भोक्ता ही 'पुरुष' है। (५) 'कैवल्यार्थ प्रवृत्ते:— इस जगत्में कुछ आदमी ऐसे भी हैं जो दुःखोंसे व्यथित होकर मुक्ति पानेके लिये वास्तवमें प्रयत्नशील हैं। भौतिक जगत्के किसी भी वस्तुके लिये इस प्रकार मुक्तिके लिये प्रयत्न करना सम्भव नहीं; क्योंकि सम्भवतः त्रिगुणमय होनेके कारण उनकी दुःख निवृत्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। मुक्तिके लिये प्रवृत्ति इस बातको साक्षी या सूचक है कि कोई ऐसी वस्तु अवश्य है जो त्रिगुणसे विलक्षण होनेके कारण क्लेशोंसे आत्यन्तिक निवृत्ति पानेके लिये प्रयत्नशील है और पा सकती है। वही वस्तु या पदार्थ 'पुरुष' है।

आत्मा या पुरुष अनेक हैं—

"जनन मरण कारणानां प्रतिनियमाद्युगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यं विपर्ययाच्चैव ॥"

(सां. का. १८)

अर्थ—जन्म, मरण, कारणों (इन्द्रियों) का नियम दृष्टिगोचर होनेके कारण, एक कालिक प्रवृत्तिका अभाव होनेके कारण, त्रैगुण्यका विपर्यय या अन्यथा भाव होनेके कारण पुरुषका अनेकत्व (बहुत्व) सिद्ध होता है।

वक्तव्य—सांख्यका यह मान्य सिद्धान्त है कि पुरुष अनेक हैं। लोकानुभव इसके सबसे उत्कृष्ट प्रमाण हैं। जन्म, मरण, हिन्दुओंका नियम दृष्टिगोचर होता है। यदि पुरुष एक ही होता तो एक व्यक्तिके जन्म होते ही सब पुरुषोंका जन्म हो जाता और एक व्यक्तिके मरते ही सभी व्यक्ति मर जाते, पर ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार एक व्यक्तिके नेत्र विहीन होते सभी पुरुष नेत्र विहीन हो जाते। अतः पुरुष अनेक हैं। एक कालिक प्रवृत्तिका अभाव भी पुरुषके बहुत्व का साधक है। इसी प्रकार त्रैगुण्यका विपर्यय या अन्यथा भाव भी पुरुषके बहुत्व होनेमें साधक प्रमाण हैं। कोई सत्व बहुल, कोई रजो बहुल और कोई तमोबहुल पुरुष देखे जाते हैं, इसलिये पुरुषका अनेकत्व सिद्ध है।

पुरुषके धर्म—

"तस्माच्च विपर्ययासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टात्वमकर्तृभावाच्च ॥"

(सां० का० १९)

अर्थ—उपर्युक्त त्रैगुण्य विपर्यय पुरुषमें होनेसे पुरुषका साक्षित्व, मध्यस्थता, द्रष्टत्व तथा अकर्त्तृत्व भाव सिद्ध होते हैं।

वक्तव्य—प्रकृतिके अनन्तर दूसरा मुख्य तत्त्व 'पुरुष' है। पुरुष, त्रिगुणातीत विवेकी, विषयी, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है। वह साक्षात् चैतन्याख्य है। चैतन्य उसका गुण नहीं है। जगतके पदार्थ त्रिगुण संज्ञक तथा चेतन होते हैं। इनमें त्रैगुण्य तो प्रकृतिका अंश होता है और चैतन्य भाव चेतन 'पुरुष'का होता है। पुरुषमें किसी प्रकारका सदृश या विसदृश परिणाम उत्पन्न नहीं होता। वह अपरिणामी है। अतः वह अविकारी; कूटस्थ, नित्य तथा सर्व व्यापक है। क्रियाशीलता प्रकृतिका धर्म है। पुरुष वास्तवमें निष्क्रिय और अकर्त्ता है। जगतका कर्त्तृत्व प्रकृति ही किया करती है। निरीह पुरुष तो केवल साक्षी या द्रष्टा है। त्रिगुण विलक्षण होनेसे ही वह नित्य मुक्त है। स्वभावतः वह कैवल्य सम्पन्न है। उसपर उक्त गुणोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये वह 'मध्यस्थ' भी है।

पुरुषके संयोगसे प्रकृतिमें चैतन्य---

"तस्मात्तत्संयोगा दचेतनं चेतनवदिव लिङ्गम्।
गुण कर्त्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥"

(सां० कां० २)

अर्थ—इसलिए उसके (पुरुषके) संयोगसे अचेतन (प्रकृति) में भी चैतन्य के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि गुणोंमें कर्त्तृत्व है तथापि उदासीन (पुरुष) उसमें कर्त्ताके समान (प्रयोजक) होता है।

वक्तव्य—इस कारिकामें यह स्पष्ट किया गया है कि पुरुषके संयोगसे ही प्रकृति, प्रकृतिके सभी विकारोंमें (महदादिमें) चेतना आती है। जैसे लोकमें शीतके संयोगसे घट शीतल और उष्णके संयोगसे उष्ण प्रतीत होता है। वैसे ही महदादिके लक्षण भी उक्त पुरुषके संयोगसे चेतनके समान प्रतीत होता है। इसी प्रकार यद्यपि गुणमें कर्त्तृत्व होता है तथापि जब तक पुरुषका सम्पर्क नहीं होता तब तक उसकी (कर्त्तृत्व) अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः अकर्त्ता होनेपर भी पुरुष उदासीन रहते हुए गुणोंके कर्त्तृत्वको सम्पन्न करनेमें प्रयोजक होनेसे कर्त्ताके ऐसा प्रतीत होता है।

सृष्टि-सर्ग निरूपण-- ✓

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥"
(सां० का० २१-२२)

अर्थ—पुरुष तथा प्रधान, दोनोंका संयोग लंगड़े और अन्धेके संयोगके समान, प्रकृतिके दर्शन तथा पुरुषके कैवल्यके लिये होता है और उसीसे सर्ग-सृष्टि की उत्पत्ति होती है। प्रकृतिसे महान्, महत्तत्वसे अहंकार और अहंकारसे षोडश गण (समुदाय) की उत्पत्ति होती है। इन षोडश समुदायोंमेंसे पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही विश्वकी सृष्टि होती है। दोनोंका संयोग ही सृष्टिका ऊत्पादक है। प्रकृतिके जड़ होनेसे यह संसार (जड़चेतनमय) केवल उसीसे उत्पन्न नहीं हो सकता, न स्वभावतः निष्क्रिय होनेसे पुरुषसे ही। इसलिये प्रकृति-पुरुष दोनोंका संयोग सृष्टिके लिये अपेक्षित है। चेतन (पुरुष) की अध्यक्षतामें ही जड़ (प्रकृति) सृष्टि कार्यका सम्पादन कर सकता है। परन्तु सांख्यमें सबसे विषम प्रश्न है कि विरुद्ध स्वभाववाले प्रकृति-पुरुषका संयोग किंनिमित्तक है? इसके उत्तारमें सांख्य अन्धे और लङ्गड़ेकी रोचक कहानी दृष्टान्त रूपमें पेश करता है। अन्धेमें चलनेकी शक्ति है परन्तु मार्गका उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। उधर लङ्गड़ा मार्ग दर्शक होते हुए भी चल नहीं सकता। परन्तु पारस्परिक संयोगसे अर्थात् लङ्गड़ेको अन्धेके कन्धेपर बिठा देनेसे, जिस प्रकार उक्त दोनों कार्य (मार्ग दर्शन तथा चलनेका) सम्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार जड़ात्मिका परन्तु सक्रिय प्रकृति तथा निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुषका संयोग परस्पर कार्य (सृष्टि कार्य) साधक है। प्रकृति भोक्ता है, अतः भोक्ताके अभावमें प्रकृति की स्वरूप सिद्धि नहीं हो सकती। भोक्ताके द्वारा दृष्टका अनुभूत होनेपर ही प्रकृतिका भोग्यत्व निष्पन्न होता है (दर्शनार्थम्)। पुरुष प्रकृतिके संयोगका इच्छुक इसलिये बना रहता है कि वह उससे विवेक ज्ञान प्राप्त कर मोक्षकी सिद्धि करता है (कैवल्यार्थम्)। प्राचीन सांख्यमें प्रकृति पुरुषके अतिरिक्त काल भी एक तृतीय पदार्थ माना जाता था। (श्री मद्भागवत् ३।६।२)। इसी कालके कारण पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होना बतलाया जाता था। प्राणियोंके कर्मादिकोंको फलोत्पत्तिका जब काल आता है तब सृष्टि होती है। प्राचीन सांख्य स्वभावको पुरुषके अतिरिक्त प्रकृतिकी प्रवृत्तिमें कारण मानता है। प्रथमतः रजोगुणकी प्रवलतासे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है ; गुणोंमें वैषम्यभाव उत्पन्न होनेपर सत्वकी प्रधानता पहले रहती है। अतः महत्तत्वमें सत्वाधिक्य है। प्रकृति-विकृतिमें रजोगुण तथा तमोगुणका मिश्रण रहता है; भूतसृष्टिमें तमोगुणकी ऐकान्तिक प्रधानता रहती है।

पुरुषके सान्निध्यसे जड़ात्मिका प्रकृतिमें विकार उत्पन्न होता है। प्रथम विकृतिका नाम 'महत्तत्व' है जो जगतकी उत्पत्तिमें महद् बीज रूप है। व्यष्टि में इस तत्वको बुद्धि (तत्व) कहते हैं। बुद्धिका अर्थ अध्यवसाय या कार्याकार्य के विषयमें निश्चय करना है। सात्विक बुद्धिके चार गुण होते हैं; जैसे—धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्य। तामस बुद्धिके गुण ठीक इससे विपरीत होते हैं। महत्तत्वसे 'अहंकार'की उत्पत्ति होती है। अहंकारकी सत्ताका अनुभव प्राणी-मात्रके लिये साधारण बात है। 'सब विषय मेरे लिये हैं' 'मैं ही इस कार्यके करनेका अधिकारी हूं तथा समर्थ हूं' आदि लोकानुभवमें जो अभिमानकी भावना दृष्टिगोचर होती है वह 'अहंकार' का स्वरूप है। गुण विषमताके कारण अहंकार तीन प्रकारका होता है; जैसे (१) वैकृत (सात्विक), (२) तैजस (राजसिक), और (३) भूतादि (तामसिक)। इनमें तैजस रजोगुणात्मक होनेसे चालक (प्रेरक) है। अतः उसकी सहायता अन्य दोनों प्रकारके विकाशके लिये नितान्त आवश्यक है। इस कार तैजस सहकृत सात्विक अहंकारसे एकादश इन्द्रियों (मन + ५ ज्ञानेन्द्रियां + ५ कर्मेन्द्रियां) को उत्पत्ति होती है तथा तैजस सहकृत तामस अहंकारसे पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। विज्ञानभिक्षुके अनुसार अहंकारके विकारों का क्रम इससे भिन्न है। इन्द्रियोंमें मन ही मुख्यतया सात्विक है अतः सात्विक अहंकारसे मनको, राजस अहंकारसे दस इन्द्रियोंकी और तामससे पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। (सां० प्र० भा० २-१८)।

तन्मात्रा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके अत्यन्त सूक्ष्म रूप हैं। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका प्रत्यक्ष योगीजनोंको ही होता है। इसीलिये ये अनुमानके विषय कहे गये हैं। शब्दतन्मात्रासे शब्दगुणक आकाशकी उत्पत्ति होती है। शब्दसहित स्पर्शतन्मात्रासे शब्दस्पर्शगुणवान् वायुकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार तेज, जल और पृथ्वीकी उत्पत्ति पूर्वतन्मात्राओंसे सहचरित स्वीय तन्मात्रासे होती है।

सांख्य सम्मत विकासक्रम इस प्रकार है---
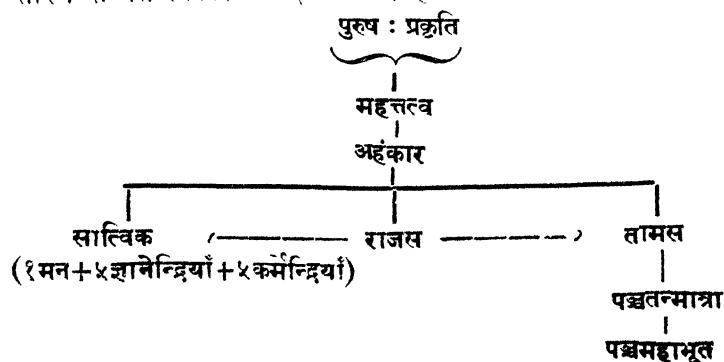
महत्तत्व—बुद्धिका लक्षण और कार्य---

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मोज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्विकमेतत् रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।

(सां० का० २३)

अर्थ—अध्यवसायको बुद्धि कहते हैं। धर्म ज्ञान वैराग्य और एश्वर्य ये चार सात्विक बुद्धिके रूप हैं। तामसिक बुद्धि ठीक इसके विपरीत होती है।

वक्तव्य—कर्तव्याकर्तव्यके भेदको जाननेके लिये सभी व्यवहारोंमें आलोचना जैसे—यह मेरे करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है, ऐसा निर्णय करके यह मुझे करना चाहिये, यह निश्चय करना अध्यवसाय कहलाता है। यह सात्विक और तामसिक भेदसे दो प्रकारका होता है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार सात्विक बुद्धिके रूप हैं। तामसिकके ठीक इसके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये चार रूप हैं। धर्म—अभ्युदय और निःश्रेयसका हेतु है। जैसे- -यज्ञ, दान, अनुष्ठान आदिसे उत्पन्न धर्म अभ्युदय का हेतु और अष्टांगयोगके अनुष्ठानसे उत्पन्न धर्म निःश्रेयसका हेतु होता है। इसीसे कणादने धर्मका लक्षण "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः" ऐसा किया है। "गुणपुरुषान्यता ख्यातिर्ज्ञानम्। विरागः वैराग्ये रागाभावः ऐश्वर्य अनिवार्य" ये आठ हैं : जैसे—अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति प्रकाम्यम्, वशीत्वं और इशित्वं। बुद्धिका कार्य, सार, असार, कार्यकारण सम्बन्ध, कार्याकार्य प्रकृतिका निश्चय करना है। इस प्रकारके कार्यको व्यवसाय या अध्यवसाय कहते हैं इसीलिये बुद्धिको व्यवसायात्मिका कहते हैं। भगवद्गीता में इस बुद्धिका सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद मिलता है। जैसे—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ।।
यया धर्ममधर्मं च कार्यंचाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।

(भगवद्गीता अ० १८, ३०-३१-३२)

बुद्धितत्वके विशालता तथा व्यापकताको देखकर ही उसकी महत् संज्ञा दी गई है।

अहंकार—काल ज्ञान और कार्य—

"अभिमानोऽहंकारस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥"

(सां० का० २४)

अर्थ—अभिमानको अहंकार कहते हैं। उस अहंकारसे दो प्रकारकी सृष्टि (सर्ग) की उत्पत्ति होती है। (१) ११ इन्द्रियोंका समुदाय और (२) पञ्च-तन्मात्राएँ।

वक्तव्य: 'अहंभाव'को अहंकार कहते हैं। इससे अभिमान या पृथक्त्वका भान होता है। अहंकार उत्पन्न होनेके पश्चात् आगेकी सृष्टिके दो मुख्य विभाग होते हैं—(१) सेन्द्रिय—चेतन (२) निरिन्द्रिय—अचेतन।

सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकारिकादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥

(सां० का० २५)

अर्थ—तैजस सहकृत वैकृत अहंकारसे सात्विक ११ इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है और तैजस सहकृत भूतादि अहंकारसे तामस पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है।

ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां तथा मन---

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥
उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान् नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥

(सांख्यकारिका २६-२७)

अर्थ—चक्षु (नेत्र), श्रोत्र (कान), घ्राण (नाक), रसना (जिह्वा) और त्वक् (त्वचा) ये पांच बुद्धीन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) हैं। वाक् (मुख) पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा), और उपस्थ (लिङ्ग) ये कर्मेन्द्रियां हैं। मन उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों है।

संकल्प इसका कर्म है और अन्य इन्द्रियोंके समान धर्म होनेसे इन्द्रियोंके अन्दर इसको गणना है। गुणके परिणाम विशेषसे उसमें नानात्व देखी जाती है। ये उसके बाह्य भेद हैं।

वक्तव्य—तैजस सहकृत सात्विक अहंकारसे ११ इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। इनमें उत्कृष्ट सत्व विशिष्ट अहंकारसे मन, मध्यसत्वविशिष्ट अहंकारसे ज्ञानेन्द्रियां तथा अधम सत्वविशिष्ट अहंकारसे कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। रूपग्रहण करनेवाली इन्द्रियको चक्षु, शब्द ग्रहण करनेवाली इन्द्रियको श्रोत्र, रस ग्रहण करनेवाली इन्द्रियको रसना और गन्ध ग्रहण करनेवाली इन्द्रियको घ्राण कहते हैं। त्वचा स्पर्श ग्राह्य करनेवाली इन्द्रिय है। वाणीके साधक इन्द्रियको वाक्, ग्रहण आदान कर्मके साधक इन्द्रियका हस्त, गमनागमन साधक इन्द्रियको पाद, विसर्ग अर्थात शरीरके मल विसर्जन करनेके कार्यके साधक इन्द्रियको पायु और आनन्द तथा प्रजनन कर्मके साधक इन्द्रियको उपस्थ कहते हैं। मनकी गणना दोनों इन्द्रियोंमें की गई है क्योंकि इन्द्रियां मनोधिष्ठित होकर ही अपने-अपने अर्थको ग्रहण करनेमें समर्थ होती हैं। मनका प्रधान कर्म संकल्प है। इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयोंके सम्बन्धमें "यह-यह है, यह-यह नहीं है" इत्यादि कल्पना तथा विशेषण विशेष्यभाव आदि विवेचन मनका कार्य है।

इन्द्रिय वृत्तियाँ---

"रूपादिषु पञ्चाना मालोचन मात्र मिष्यते।
वचनादान विहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्॥

(सां० का० २८)

अर्थ—रूपादि पांचो अर्थोको आलोचित करना मात्र ज्ञानेन्द्रियोंकी वृत्तियां हैं। वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द ये वृत्तियां कर्मेन्द्रियोंकी हैं।

वक्तव्य—पहले पदार्थोंका ज्ञानेन्द्रियोंके साथ सम्पर्क होता है जिससे ज्ञानेन्द्रियोंमें उन पदार्थोंके विषयमें परिचय मात्र (आलोचनमात्र) उत्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियां अपनी वृत्तिको (आलोचनवृत्ति) समाप्त कर उन्हें मन को समर्पण कर देती है। मन उन पदार्थोंके विषयमें सम्यक् कल्पना (संकल्पकं मनः) करता है कि 'ये ये हैं ये नहीं हैं'। इस सम्यक् कल्पनाके कारण ही मनको सांख्यशास्त्रमें संकल्पनात्मक कहा गया है। (सां० का० २७)। मन इस गृहीत अर्थोंके विषयमें निर्णय कर पुनः आवश्यकतानुसार कर्मेन्द्रियोंको वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द आदि वृत्तियोंमें नियुक्त करता है।

अन्तः करणोंकी वृत्तियाँ---

"स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्य करण वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥

(सां० का० २९)

अर्थ—महत्, अहंकार, और मन इन तीन अन्तःकरणोंके जो अपना २ असाधारण लक्षण है वे 'स्वालक्षण्य' कहलाते हैं। जैसे महतका अध्यवसाय, अहंकारका अभिमान, और मनका संकल्प, ये इनकी अपनी अपनी असाधारण वृत्तियां हैं। सामान्य करण वृत्तियां तो प्राण आदि पांच वायु हैं जो जीवनके लक्षण हैं। जिनके रहनेसे जीवन रहता है और जिनके न रहनेसे जीवनका अभाव हो जाता है।

वक्तव्य—उक्त सामान्य वृत्तियोंमें प्राण वायु--नासा, हृदय, नाभि, पादाङ्गुष्ठ वृत्ति है। अपान—कृकाटिका, पृष्ठपाद, पायु, उपस्थ, पार्श्व वृत्ति है। उदान—हृत्कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, भ्रूमध्य वृत्ति है और व्यान त्वग् वृत्ति है।

(वाचस्पति मिश्र)

बाह्य तथा आभ्यन्तर वृत्तियोंका एक साथ तथा क्रमसे होना--

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

(सांख्यकारिका)

अर्थ—दृष्टि विषयोंमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार इन चारोंकी वृत्ति एक साथ तथा क्रमशः कही गई है और इसी प्रकार अदृष्ट विषयमें भी बाह्य इन्द्रियोंके बिना तीनों अन्तःकरणोंकी वृत्तियां तत्पूर्विका अर्थात् दर्शन पूर्वक, एक साथ और क्रमशः होती है।

वक्तव्य—विषयके प्रति ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और त्वचा) तथा अन्तःकरणों (मन, बुद्धि, अहंकार) का व्यापार कभी युगपत् होता है और कभी क्रमशः होता है। जैसे—अंधेरी रातमें बिजलीकी चमकसे अपने सामने अकस्मात् व्याघ्रको देखकर जो मनुष्य भाग खड़ा होता है उसके कार्यमें सब करणोंका व्यापार नितान्त शीघ्रतासे एक साथ (युगपत्) होता है। चक्षुसे व्याघ्रका परिचय, मनके द्वारा संकल्प, अहंकारके द्वारा पृथक्करण, बुद्धिके द्वारा निश्चय कि यह पशु व्याघ्र ही है और उस भयानक पशुसे अपनी शरीर रक्षाके

लिये भाग जानेकी सलाह ये समग्र व्यापार एक साथ ही होते हैं। परन्तु अन्यत्र घनघोर रात्रिमें पेड़ोंके झुरमुटमें खड़े होनेवाले व्यक्ति विशेषको देखकर चोर समझकर भाग जानेके निश्चय करनेमें पूर्वोक्त कारणोंका व्यापार क्रमशः अर्थात् एकके बाद दूसरा होता है। मन, बुद्धि और अहंकार इन तीन अन्तः-करणोंका व्यापार युगपत् तथा क्रमशः दृष्ट विषयोंमें ही होता है अनुमान, आगमन तथा स्मृति आदि व्यापार तो परोक्ष अर्थमें बिना देखे ही होते हैं।

(वाचस्पति मिश्र)

इन्द्रियों तथा तीनों अन्तःकरणोंकी परिचालना :—

स्वान् स्वान् प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूत हेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्नकेचित्कार्यते कारणम्॥

(सां. का. ३१)

अर्थ—जिस प्रकार अनेक चार अपसमें संकेत करके चोरीके स्थानमें परस्पर संकेतवश अपनी २ क्रियाओंको यथाक्रम करते हैं, उसी प्रकार सब इन्द्रियां भी अपनी २ वृत्तियोंमें प्रवृत्त होती हैं। इनको प्रवृत्तियोंमें पुरुषार्थ हो कारण है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियां किसी चेतन अधिष्ठातासे परिचालित नहीं होती।

त्रयोदश विधकरण :—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारण प्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं प्रकाश्यं च॥
अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं कर्म॥

(सां. का. ३२-३३)

अर्थ—इन्द्रियाँ (११), बुद्धि और अहंकार ये तेरह करण हैं। उनमें कर्मेन्द्रियोंका (वाणी आदि का) आहरण, (लाना) कर्म है। अन्तःकरणों (बुद्धि, अहंकार और मन) का (प्राण आदिका अपनी वृत्तियोंमें) धारण करना कर्म है। ज्ञानेन्द्रियोंका प्रकाश करना कर्म है। कर्मेन्द्रियोंका आहार्य (आहरण करने योग्य) विषय १० प्रकारके हैं। जैसे—(१) दिव्य वचन बोलना, (२) अदिव्य वचन बोलना, (३) दिव्य आदान, (४) अदिव्य आदान, (५) दिव्य विहार, (६) अदिव्य विहार, (७) दिव्य उत्सर्ग, (८) अदिव्य उत्सर्ग (९) दिव्य आनन्द, (१०) अदिव्य आनन्द। इसी प्रकार तीनों अन्तःकरणों

का धार्य विषय भी दिव्य और अदिव्यके भेदसे १० प्रकारका है। जैसे दिव्या-दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। अन्तःकरण तीन प्रकारका होता है—बुद्धि, अहंकार और मन। बाह्येन्द्रियां १० प्रकारकी होती हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां ये दसों इन्द्रियां अन्तःकरणके ही विषयोंको प्रकट करती हैं। अर्थात् जब ये तीनों अन्तःकरण अपने विषयका संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय करना चाहते हैं तब ये दस इन्द्रियां द्वार रूप हो जाती हैं। ज्ञानेन्द्रियां आलोचनसे और कर्मेन्द्रियां अपने व्यापारसे द्वारभूत होती हैं। इन दोनों में विशेषता यह है कि बाह्येन्द्रियोंका सामर्थ्य केवल वर्तमान विषयमें रहता है परन्तु अन्तःकरणोंका सामर्थ्य भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें होता है।

इन्द्रियोंके विषय :—

"बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेष विषयाणि ।
वाग्भवात शब्द विषया शेषाणि तु पञ्च विषयाणि ॥
(सां. का. ३४)

अर्थ—उक्त दश बाह्येन्द्रियोंमें ५ ज्ञानेन्द्रियोंके विशेष (स्थूल-शब्द आदि और पृथिवी आदि जो शान्त-घोर तथा मूढ़ स्वभावके हैं) और अविशेष (तन्मात्र-सूक्ष्म शब्दादि) विषय है। इसमें भी यह विशेष है कि योगियोंका श्रोत्र (कान) सूक्ष्म शब्द और स्थूल शब्द दोनोंको सुन सकता है, किन्तु हमलोगोंका कान केवल मोटे (स्थूल) शब्दको ही सुन सकता है। इसी प्रकार उनके त्वगादि सभी इन्द्रियां सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकारके विषयोंका ग्रहण कर सकती हैं। पर कर्मेन्द्रियोंमें वाक् (वाणी) स्थूल शब्दका ही उच्चारण कर सकती है, सूक्ष्म शब्दका नहीं; चाहे वह हमारी हो या योगियोंका हो। कारण—वाक् इन्द्रिय और सूक्ष्म शब्द (शब्द तन्मात्रा) दोनों ही अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं अर्थात् एक ही कारणसे उत्पन्न हुए हैं और नियमानुसार एक साथ होने-वाला बराबरवालेका अनुभव नहीं कर सकता। शेष चार (हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ या योनि) इन्द्रियोंके रूप आदि पांच विषय हैं। क्योंकि हस्त आदि चार-चार इन्द्रियें जिन घटादि वस्तुओंसे सम्बन्ध करते हैं, वे सब शब्द आदि तन्मात्र रूप ही है या उन्हींसे प्रकट हुए हैं। गौड़पादाचार्यका इस विषयमें कहना है कि मनुष्यकी ज्ञानेन्द्रियां सुख दुःख और मोह रूप विषयोंसे युक्त शब्दादिको प्रकाशित करती है और देवताओंकी ज्ञानेन्द्रियां शब्द आदिको प्रत्यक्ष करती है, किन्तु उनमें सुख दुःख आदिकी प्रतीति नहीं होती। कर्मेन्द्रियों में वाणी दोनोंकी बराबरी है और शेष इन्द्रियां पांच विषयोंका ग्रहण करती हैं।

करणोंमें अन्तःकरणका प्राधान्य और बाह्येन्द्रियोंका गौणत्व:—

सान्तः करण बुद्धिः सर्वं विषययमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥
एते प्रदीपकल्पाः परस्पर विलक्षणाः गुण विशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥

(सां. का. ३५-३६-३७)

अर्थ—अन्य दो अन्तःकरणों (मन और अहंकार) सहित बुद्धि अर्थात् तीनों अन्तःकरण (जिससे कि भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें शब्दादि) सब विषयोंको अवगाहन (ग्रहण) करते हैं। इससे उक्त तीनों अन्तःकरण द्वारि (प्रधान) और शेष बाह्येन्द्रियां द्वार (अप्रधान-गौण) हैं। ये सब बुद्धिके अतिरिक्त जितने करण हैं (अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और अहंकार) सब दीपकके समान हैं। अपने २ विषयको प्रकाश करनेवाले हैं। आपसमें सब बिलक्षण हैं, भिन्न २ विषयवाले हैं। ये सब गुण विशेष हैं अर्थात् सत्व आदि गुणोंसे उत्पन्न हुये हैं। पुरुषको जो कुछ विषय अपनेमें भान हुआ प्रतीत होता है उन सबको ये इन्द्रियां अपने २ विषयके अनुसार प्रकाशित करके बुद्धिमें स्थापित करती हैं। इसका प्रयोजन यह है कि जो विषय बाहरी इन्द्रियोंमें भान होता है वही विशेष रूपसे मन पर पड़ता है, पुनः वही अहंकारमें पहुंचता है जिसका उसे अभिमान होता है, और वही विषय उसके द्वारा बुद्धिमें चमकता है जिसका उसे निश्चय होता है। बस इसके आगे वह विषय और कहीं नहीं जाता। अतः इनमें सर्वप्रधान बुद्धि है क्योंकि पुरुषके सब विषयोंके उपभोगको साधिका बुद्धि है और वही फिर प्रधान और पुरुषके सूक्ष्म (दुर्लक्ष्य) अन्तरको प्रकाशित करती है अतः वही प्रधान है।

वक्तव्य—सांख्यके मतमें इन्द्रिय आदि समूहका अध्यक्ष बुद्धि तत्व ही है, नैयायिकोंके समान आत्मा अध्यक्ष नहीं है। अर्थात् नैयायिकोंके मतमें सब पदार्थका ज्ञान साक्षात् सम्बन्धसे आत्मामें ही उत्पन्न होता है। इन्द्रियां उसके साधन हैं अतः वही अध्यक्ष (प्रधान) है। सांख्यके मतमें क्योंकि ज्ञान बुद्धि में ही रहता है, आत्मा या पुरुषमें उसकी छाया मात्र पड़ती है और साक्षात् सम्बन्धका ज्ञान भ्रान्तिरूप है, अतः बुद्धि ही प्रधान है। जिस प्रकार सर्वाध्यक्ष

या प्रधानमंत्री राजाके सभी कार्योंका संपादन करनेसे प्रधान होते हैं और ग्रामाध्यक्ष आदि उसके प्रति गौण रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि पुरुषके साक्षात् सम्बन्धसे या ठीक उसीके साथ संयुक्त होनेसे पुरुषकी छाया (छवि) को धारण कर लेती है; जो २ सुख दुःख आदि बुद्धिमें होता है वही पुरुषमें दिखाई देता है और सब पुरुषसे दूर रहते हैं। जैसे अहंकार और पुरुषके बीचमें बुद्धि पड़ जाती है तथा इन्द्रियोंके बीचमें अहंकार और बुद्धि पड़ जाती है इसीसे उनपर पुरुषकी और पुरुष पर उनकी छाया नहीं पड़ती, सुतरां उक्त प्रकारसे बुद्धि ही पुरुषके सब भोगोंका साक्षात् साधन बन जाता है और इसीसे वह प्रधान है।

विशेष और अविशेषोंका निरूपण :—

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंचपंचभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ताः घोराश्च मूढ़ाश्च ॥
सूक्ष्माः मातापितृजाः सहप्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता-मातापितृजा विवर्तन्ते ॥

(सांख्य का. ३८-३९)

अर्थ—शब्दादि पाँच तन्मात्राऐं 'अविशेष' कहलाते हैं और उन शब्दादि पांच तन्मात्राओंसे आकाशादि पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। ये पांचों महाभूत विशेष कहलाते हैं क्योंकि ये शान्त, घोर और मूढ़ हैं। अर्थात् सूक्ष्म शब्दादि पंचतन्मात्राऐं उपभोग योग्य नहीं होते, इसीसे उनके शान्तत्वादि धर्मोंका हमें अनुभव नहीं होता अतः उन्हें 'अविशेष' पदसे संज्ञित किया गया है और आकाशादि पंचमहाभूतके स्थूल होनेसे उनके शान्तत्वादि धर्मोंका हमें अनुभव होता है इसीसे उन्हें विशेष कहा है। प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले २४ तत्वोंमेंसे भिन्न २ तत्वोंके मेलसे तीन विशेष वस्तुऐं उत्पन्न होती हैं; जिनसे पुरुषका उपभोग सिद्ध होता है। जैसे—(१) सूक्ष्म या लिङ्गशरीर, जो १८ तत्वोंका समुदाय होता है। (२) माता पितासे उत्पन्न होनेवाला स्थूल शरीर। (३) विशेष महाभूत। इन्हीं तीन विभागोंमें बंटे हुये सब प्राकृत पदार्थोंका पुरुष उपभोग करता है। इनमें सूक्ष्म शरीरकी स्थिति तत्वज्ञानके उत्पन्न होने तक रहती है और मातापितासे उत्पन्न होनेवाले शरीर नष्ट हो जाते हैं तथा उसके तत्व अपने २ समान तत्वमें मरणके पश्चात् मिल जाते हैं। इस प्रकार महाभूत भी प्रलय कालमें अपने २ अव्यक्त कारणमें लीन हो जाते हैं।

लिङ्ग शरीरका निरूपण—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्म सूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥

(सां० का० ४०–४१)

अर्थ—लिङ्ग शरीर सृष्टिके आदिकालमें प्रधानसे (प्रतिपुरुष) अलग२ उत्पन्न किया गया है। वह असक्त है और नियत है। महत्तत्व, अहंकार, मन, १० इन्द्रियां, पञ्चतन्मात्रायें कुल मिलकर १८ तत्वोंका वह समूह रूप है। वह स्थूल शरीरके बिना अकेला भोगका स्थान नहीं बन सकता, अतः धर्म-अधर्म आदि ८ भावोंकी वासनासे युक्त होनेके कारण संसरण करता है। जिस प्रकार आश्रयके बिना चित्र और छाया वृक्षादिके बिना नहीं रह सकती, उसी प्रकार स्थूल शरीरके बिना लिङ्ग शरीर नहीं रह सकता।

वक्तव्य—उक्त कारिकामें लिङ्ग शरीरके आविर्भाव तथा 'लिङ्ग शरीर' किसे कहते हैं, यह दर्शाया गया है। सूक्ष्म शरीरको ही 'लिङ्ग शरीर' कहते हैं। यह लिङ्ग शरीर सृष्टिके आदिमें सर्व प्रथम महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियां, पञ्चतन्मात्राओं, इन १८ तत्वोंका समुदायरूप प्रति पुरुष अलग २ उत्पन्न होता है। कपिलने सांख्यसूत्रमें इस लिङ्ग-शरीरको "सप्तदशैकं लिङ्गम्" अर्थात् एकादश इन्द्रियां, पञ्चतन्मात्रा और बुद्धि इन १७ तत्वोंके समुदाय वाला माना है। यह लिङ्ग शरीर सभी योनियोंमें स्थावर, जंगम, अव्याहत (शिला आदिमें भी) प्रवेश कर सकता है। पर (असक्त) सूक्ष्म होनेसे बद्ध नहीं होता। यह नियत अर्थात् महाप्रलय तक ठहरनेवाला है। यह लिङ्ग शरीर अपने कर्मोंके अनुसार (शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार) निरुपभोग, धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्यानैश्वर्य इन आठ भावोंसे युक्त (भावैरधिवासितं) होता है। इन भावोंसे युक्त होनेके कारण यह सूक्ष्म शरीर (संसरति) घूमता रहता है। लय प्राप्त होनेके कारण इसका नाम 'लिङ्ग-शरीर' है।

गीता रहस्यमें लिङ्ग-शरीरके सम्बन्धमें बहुत सुन्दर विवेचन भगवान् तिलकने किया है; जो इस प्रकार है :—

"यह स्पष्ट है कि जो मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, उसकी आत्मा प्रकृतिके चक्रसे सदाके लिये छूट नहीं सकती। क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान अथवा पाप पुण्यका कुछ भी महत्त्व नहीं रह

जायगा; फिर चार्वाकके मतानुसार यह कहना पड़ेगा, कि मृत्युके बाद हर एक मनुष्य प्रकृतिके फंदेसे छूट जाता है, अर्थात् वह मोक्ष पा जाता है। अच्छा, यदि यह कहें कि मृत्युके बाद केवल 'आत्मा' अर्थात् 'पुरुष' बच जाता है और वही स्वयं नये-नये जन्म लिया करता है, तो यह मूलभूत सिद्धान्त कि 'पुरुष अकर्त्ता और उदासीन है और सब कर्तृत्व प्रकृतिका ही है। मिथ्या प्रतीत होने लगता है। इसके सिवा जब हम यह मानते हैं कि आत्मा स्वयं ही नये-नये जन्म लिया करता है, तब तो ऐसी अवस्थामें प्राप्त हो जाती है, कि जन्म मरणके आवागमनसे कभी छूट हो नहीं सकते। इस लिए यह सिद्ध होता है कि यदि बिना ज्ञान प्राप्त किये हुए कोई मनुष्य मर जायँ, तो भी आगे जन्म प्राप्त करा देनेके लिये उसकी आत्मासे प्रकृतिका सम्बन्ध अवश्य रहना ही चाहिये। मृत्युके बाद स्थूल देहका नाश हो जाया करता है, इसलिये यह प्रगट है अब उक्त सम्बन्ध स्थूल महाभूतात्मक प्रकृतिके साथ नहीं रह सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति केवल स्थूल पञ्चमहाभूतोंसे ही बनी है। प्रकृतिसे कुल २३ तत्व उत्पन्न होते हैं और स्थूल महाभूत उन तेइसोंमें सबसे अन्तिम पांच है। इन अन्तिम पांच तत्वों (पञ्चमहाभूतों) को तेइस तत्वोंमेंसे अलग करने पर १८ तत्व शेष रह जाते हैं। अतएव अब यह कहना चाहिये कि, जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है वह यद्यपि पञ्चमहाभूतात्मक स्थूल शरीरसे अर्थात् अन्तिम पांच तत्वोंसे छुट जाता है, तथापि इस प्रकारकी मृत्युसे प्रकृतिके अन्य १८ तत्वोंके साथ उसका सम्बन्ध कभी छुट नहीं सकता। ये १८ तत्व ये हैं—महान् (बुद्धि), अहङ्कार, मन, दश इन्द्रियां और पञ्च-तन्मात्रायें। ये सब तत्व सूक्ष्म हैं। अतएव इन तत्वोंके साथ पुरुषका संयोग स्थिर होकर जो शरीर बनता है उसे स्थूल शरीरके विरुद्ध 'सूक्ष्म शरीर' अथवा 'लिङ्ग शरीर' कहते हैं। जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है तब मृत्युके समय उसकी आत्माके साथ ही प्रकृतिके उक्त १८ तत्वोंसे बना हुआ लिङ्ग शरीर भी स्थूल शरीरसे बाहर हो जाता है, और जब तक उस पुरुष को ज्ञानकी प्राप्ति हो नहीं जाती तबतक उस लिङ्ग शरीर ही के कारण उसको नये-नये जन्म लेने पड़ते हैं।" (गीता रहस्य पेज १८८)

लिङ्ग शरीरके सम्बन्धमें चरक संहिता द्वितीयाध्याय (शरीरस्थान) में भी सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। यथा—

"भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु यस्य दृश्यं, दिव्यं बिना दर्शनमस्तिरूपम् ॥३०॥

भूतानिचत्वारि तु कर्मजानि, यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति यानि ॥३१॥

(च. शा. २.)

अर्थात्—अग्निवेशके "देहात् कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबद्धयते च" (च. शा. २) इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय कहते हैं कि (सः) वह आत्मा (कर्मात्मकत्वात्) पूर्वजन्मकृत कर्मोंके वस होकर (भूतैश्चतुर्भिः सहितः सूक्ष्मैः) आकाशको छोड़ कर सूक्ष्म वाय्वादि भूतों सहित अर्थात् तन्मात्राओंके साथ अर्थात् उपर्युक्त लिङ्ग शरीरके साथ (मनो जवः) मनके वेगसे क्रियावान् होता हुआ (देहात्) माता पिताके शरीरसे (देहम्) अन्य मातापितासे उत्पन्न होनेवाले शरीरमें प्रविष्ट होता है। आत्मा स्वयं निष्क्रिय होनेसे मनोवेगसे क्रियावान् होकर ही एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है। उसके इस क्रियाका ज्ञान हमें (दिव्यं दृश्यं विना) दिव्य दृष्टिके (बिना) न होनेसे नहीं होता अर्थात् हम उसे देख नहीं सकते। (यानि कर्मजानि आत्मलीनानि चत्वारि भूतानि) पूर्व जन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के कारण जो आत्मामें लीन हुए चार सूक्ष्म भूत होते हैं वे भी आत्माके साथ ही (गर्भेविशन्ति) गर्भमें प्रविष्ट होते हैं। और (सः) वह (बीजधर्मा) सूक्ष्म-भूत सन्तान बीजधर्मा, बीजसे अंकुर उत्पन्न होनेकी भाँति (आत्मनि) अपनेमें उन भूतोंको साथ लेते हुए (अपरावराणि) भिन्न २ शरीरोंमें जाता है, जैसा कि ऊपरकी कारिकामें ("संसरति निरूपभोग भावैरधिवासितं लिङ्गम्") कहा गया है।

॥ नमोस्तु ॥

श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन

कलकत्ता, पटना, झांसी और नागपुर

— का —

संक्षिप्त परिचय
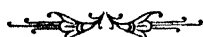
श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवनका जन्म आजसे करीब २६ साल पहले बिहार प्रान्तके एक छोटेसे किन्तु पवित्र और प्राकृतिक सौन्दर्यपूर्ण हिन्दुओंके प्रसिद्ध तीर्थस्थान श्रीबैद्यनाथ धाम (देवघर) में हुआ था। जब यह उद्योग बीज-रूपमें उस पवित्र देवस्थानमें उस छोटेसे रूपमें शुरू किया गया था, उसी समयसे इसके प्रवर्तक वैद्यराज पं० रामनारायण शर्माके हृदयमें बहुत ही ऊँची अभिलाषाएँ और आशाएँ अपनी उस प्राचीन संस्कृति, साहित्य और कलाके पुनरुद्धारके बारेमें थीं, जिनका कि यह देवस्थान एक गौरवमय प्रतीकके रूपमें सारे हिन्दुस्थानमें मशहूर है।

करीब-करीब यही वक्त था जब कि हमारे देशमें राष्ट्रीय चेतना और आजादीकी लहरका उठना शुरू हुआ था। हमारे समाजके प्रत्येक अङ्ग पर जो एक अन्धकारका आवरण था; विदेशी आचार-विचार और सत्ताका प्रभुत्व था, उसके खिलाफ एक सुरसुराहट-सी शुरू हो गई थी। महात्मा गान्धीजीके नेतृत्वमें धीरे-धीरे हमारे समाजके सोये हुए; अलसाये हुए क्लान्त शरीरमें प्राण-वायुका सञ्चार होना शुरू हुआ। हमारा राष्ट्रीय कारवाँ किन-किन बाधाओं, कठिनाइयों, बवण्डरों और तूफानोंका सामना करते हुए, बार-बार गिर-गिर कर उठा और अपने लक्ष्यकी ओर विकसित होता रहा, यह हमारे इतिहासका सबसे गौरवपूर्ण पृष्ठ होगा।

राष्ट्रीय ह्रास या समृद्धि केवल राजनैतिक नहीं होती, बल्कि व्यक्तिगत और समष्टिगत रूपमें वह समाजके अङ्ग संस्कृति, साहित्य, कला-उद्योग, व्यापार, कृषि आदि सभी अङ्गोंके सार्वभौमिक ह्रास या विकास पर निर्भर

करता है और चूंकि आयुर्वेद—हमारा राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान—हमारी संस्कृति, साहित्य और कलाका सर्वोच्च ज्ञान-भण्डार है, अतएव राष्ट्रके जीवन के साथ इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध कोई नयी और आश्चर्यजनक बात नहीं है।

इसीलिये जब हम श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवनके पिछले २६ सालके संघर्षमय जीवन और उसके फलस्वरूप प्राप्त उत्तरोत्तर उन्नतिकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें गर्व और प्रसन्नता होती है। गर्व इसलिये कि एक कर्तव्यपरायण सिपाहीकी हैसियतसे राष्ट्रीय पुनरुद्धारके एक जबर्दस्त मोर्चे—राष्ट्रीय चिकित्सा—आयुर्वेद के लिये अपने फर्जको हमने हरेक कठिनाई और बाधामें भी खूबीके साथ निभाया है और खुशी इसलिये कि हमारे राष्ट्रीय संग्रामके नेताओं और सेनानियोंने हमारे कामकी सराहना की है, सहयोगियोंने उसकी प्रशंसा की है और सम्मान किया है। वर्तमान नव-राष्ट्र-निर्माणके शुरूआतमें जब कि प्रकाशकी दो एक किरणें अन्तरिक्षपर दिखाई पड़ने लगी हैं; हमारे उत्साह और खुशीका सर्वोच्च कारण एकमात्र यही अनुभूति है कि राष्ट्रीय संघर्षके हर आघात और उसकी आगके प्रत्येक शोलेका हमारा हिस्सा हमें प्राप्त करनेका सौभाग्य मिला है।

बिहार, यू० पी०, सी० पी०, सी० आई०, राजपूताना और पंजाबके हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तोंमें आयुर्वेदके कामको उठानेवाली संस्थाओंमें श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन अग्रगामी है। हमारे पूर्वजोंके औषधि-ज्ञान, रासायनिक क्रियाओं और चिकित्सा-विज्ञानको उस हालतमें एकत्रित, संयोजित और नियन्त्रित करना जब कि वह पूरी तरहसे नष्ट हो चुका था और संघर्ष था उन विदेशी औषधि-निर्माताओं और उनकी चिकित्सा-पद्धतिसे जिसके पीछे ब्रिटिश साम्राज्यकी पूरी सत्ता और प्रभाव काम कर रहा था, कोई आसान काम नहीं था। यह भी उस हालतमें जब कि पहलेका किसीका अनुभव इस कामके लिये प्राप्य नहीं था। एक अज्ञात महासागरमें छोटी-सी किसी एक नावको खेकर किनारे लगानेवाला प्रयास था।

पिछले इन २६ वर्षोंके कार्यविवरणकी सफलताके बारेमें केवल इतना ही कह देना काफी होगा कि बैद्यनाथ दवाओंके निर्माण करनेमें इस वक्त ५ बृहत् निर्माणशालाएँ लगी हुई हैं, जिसमें विशेषज्ञोंके एक खासा बड़े दलकी देख-रेखमें आयुर्वेदिक दवाओंका इतने बड़े स्केलपर निर्माण हो रहा है जो केवल,

हिन्दुस्तानमें ही अद्वितीय नहीं है, बल्कि किसी भी विदेशी औषधि-निर्माताके लिये भी स्पर्धा और ईर्ष्याकी चीज है।

औषधि-निर्माण कामके लिये हमें प्रत्येक मुख्य कामके लिये एक-एक अलग विभाग कायम करना पड़ा है जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१—असिद्ध खनिज एवं वनौषधि विभाग

यह विभाग सारे हिन्दुस्तानके प्रत्येक हिस्सेसे अलग-अलग नामोंसे या एक ही नामसे प्रचलित औषधियों और वनस्पतियोंको एकत्रित करता है। इसमें हमारी शाखाओं, वेतनभोगी कर्मचारियों, कमीशन एजेण्टों और दवा-विक्रेताओं के अलावा स्वतन्त्र वैद्य व डाक्टर, सरकारी जंगलात विभाग व कृषि विभागसे भी सहायता मिलती है। यह सबसे बड़ा विभाग है।

२—परीक्षण विभाग

इसमें इकट्ठी की हुई जड़ी-बूटियाँ, असिद्ध खनिज एवं औषधि निर्माणके काममें आनेवाली अन्य वस्तुओंका परीक्षण स्वयं अपने प्रयोगशालामें अनुभवी वैद्यों और रसायन-शास्त्रियों द्वारा किया जाता है अन्यान्य सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओंको नियमित रिसर्च कार्यके लिये आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन भी इसी विभाग द्वारा दिया जाता है और समय-समयपर आवश्यकतानुसार उचित खर्च देकर अन्य रिसर्च लेबोरेटरियोंसे भी अपने परीक्षणके काममें सहायता ली जाती है।

३—औषधि-निर्माण-विभाग

इस विभागमें विशेषज्ञ आयुर्वेदाचार्यों और निर्माणकुशल वैद्यशास्त्रियोंकी एक सेना ही काम करती है; जिनकी देख-रेखमें औषधियोंका शुद्ध शास्त्रीय रीतिसे निर्माण होता है और निर्माणकी प्रत्येक अवस्थामें भवनके मालिक लोग जो स्वयं औषधि-विज्ञानके विशेष जानकार हैं, उसका परीक्षण करते हैं। साथ ही इस विभागको दूसरे विभागोंके विशेषज्ञोंकी सहकारिता भी प्राप्त है। इस प्रकार इस विभागके वैज्ञानिक सङ्गठन और सुव्यवस्थित संरक्षणका ही फल है कि आज श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवनकी बनी हुई औषधियाँ सबसे अच्छी और असली समझी जाती हैं।

आज हिन्दुस्तानके औषधि-निर्माणकर्त्ताओं एवं औषधियोंके व्यापार करनेवालोंमें श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवनका क्या स्थान है, इसे कितनी प्रतिष्ठा और कैसा सन्मान प्राप्त है, इसकी औषधियोंको लोग कितना प्रमाणित और असली समझते हैं, इसका बखान स्वयं करना 'आप मियाँ मिठ्ठू' बनना है। गान्धीजी, मालवीयजो, नेहरूजीके समान काम करनेवाले, आयुर्वेद जगतके यशस्वी महापुरुषोंने तथा देशके अन्य महानुभावों और नेताओंने इन दवाओंकी दिल खोलकर प्रशंसा की है।

हमारी दवाओंको व्यवहारमें लाकर असली और प्रमाणित कहकर प्रशंसा करनेवालोंमें हैं, अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामण्डल (हिन्दुस्तान भरके वैद्योंकी महासभा) के सभापति होनेवाले, राज्य और प्रजासे सम्मानित, अनेक चिकित्सा-ग्रन्थोंके लेखक, आयुर्वेदकी परीक्षा लेनेवाले भारत प्रसिद्ध वैद्यराज श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य (बम्बई), स्वर्गीय पं० श्रीगणनाथ सेन सरस्वती (कलकत्ता), श्रीगोवर्द्धन शर्मा छांगाणी (नागपुर), डाक्टर ए० लक्ष्मीपति (मद्रास), कविराज प्रतापसिंह (काशी), स्वर्गीय लक्ष्मीराम स्वामी (जयपुर), श्रीशिव शर्मा (लाहौर), आयुर्वेद महामहोपाध्याय श्रीभागीरथजो स्वामी (कलकत्ता) तथा आयुर्वेद पञ्चानन श्री पं० जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल (प्रयाग)। इसके अलावा देशके अनेक सार्वजनिक संस्थाओं (सेवासमिति, कांग्रेस कमेटी, रिलीफ कमेटियाँ, सरकारी ग्राम-सुधार विभाग, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसपैलिटियां आदि) ने हमारी दवाएँ काममें लाकर उनकी प्रशंसा की है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि वैद्यनाथ दवाओंकी लोकप्रियता और ख्यातिकी वजह है कि हमको औषधि-निर्माणके लिये पांच-पांच जगह बड़े-बड़े कारखाने खोलने पड़े हैं। ऐसा इन्तजाम हिन्दुस्तानमें तो क्या, औषधि-निर्माण जगतमें कहीं भी नहीं है। और सच पूछिए तो हिन्दुस्तान जैसे बड़े देशकी भौगोलिक सीमाओंमें असली शास्त्रोक्त दवा बनानेके लिये इस प्रकारका सङ्गठन की, जिससे सारे हिन्दुस्तानमें प्रचलित बनस्पतियों, कच्ची खनिज औषधियां और मूल द्रव्योंका सुलभताके साथ सर्वोत्तम सङ्कलन हो सके और दवा जिस आबहवा, प्राकृतिक वातावरण और अन्यान्य खास परिस्थितिमें तैयार होनी चाहिये, सम्पूर्ण हो सके, परम आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त एक और विशेष वजह थी जिसके

लिये एक ऐसा सङ्गठन बहुत ही आवश्यकता था। वह है हिन्दुस्तानके विभिन्न प्रदेशों और अलग-अलग भाषा-भाषियोंमें जो एक ही सिद्ध औषधिके विभिन्न पाठ और उसके निर्माणके लिये विभिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं और हैं, उनमें जो सर्वोत्तम और सबसे अधिक फलदायक हों उनको एकत्रित किया जा सके और सारे हिन्दुस्तानमें एक ही स्टैण्डर्डकी सर्वोच्च दवाएँ तैयार कर उन्हें विदेशी दवाओंसे टक्कर लेने लायक बनाया जा सके।

हमें प्रसन्नता है कि हम अपने इस उपरोक्त सिद्धान्तको बड़ी सफलताके साथ कार्यरूपमें परिणत कर सके हैं।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवनका उद्देश्य औषधियोंके कारबारसे सिर्फ अर्थोपार्जन करना ही नहीं है, बल्कि आयुर्वेदके स्टैण्डर्डको ऊँचा उठाना और उसे सर्वाङ्गपूर्ण करना है। हमारी उन्नति और सुधारका एकमात्र कारण दवाओंकी असलियत, व्यापारकी सचाई और जन-सेवा है।

४—पैकिङ्ग विभाग

इस विभागका काम दवाको तौल या नापकर शीशियोंमें भरना, लेबुल लगाना, चपड़ाकी सिल-मोहर करना, कार्ड-बोर्डके बक्सोंमें बंद करना, आयल-पेपर लगाना आदि औषधिका वाह्यस्वरूप बनाना है। यह विभाग जन-रुचिका पूर्ण ध्यान रखता है। हमारी दवाइयाँ जैसे गुणमें श्रेष्ठ हैं वैसे ही उनके बाह्य-दर्शन भी अनुपम हैं। शीशी, लेबुल, बक्स आदि सभी सामान ऊंचे दर्जेके होते हैं। कर्मचारियोंकी देखभाल करनेवाले सुपरवाइजर हैं, ताकि किसी कर्मचारीसे गलती न हो जाय।

५—आर्डर-सप्लाई विभाग

एजेन्सियोंसे आनेवाली दवाओंकी माँगको बिना गलती किये उत्तमताके साथ भेजना इस विभागका काम है। एजेन्सीके आर्डरका माल-स्टोरकीपर निकालता है। उसे एक कर्मचारी मिलाकर देखता है कि कोई दवा कम-बेशी तो नहीं है। उसके बाद एक विश्वासी कर्मचारियोंसे बक्सोंमें बन्द कराकर लोहेकी पत्ती लगवा देता है। प्रत्येक कर्मचारी अपना काम सावधानीपूर्वक समाप्त करके जिम्मेदारीके लिये अपना हस्ताक्षर करता है। तीन बार पेकिङ्ग होनेसे गलतीकी गुञ्जायश नहीं रहती एवं सावधानीसे पुआल लपेटकर पैक

होनेसे टूट-फूटका भय भी नहीं रहता। इस विभागके कर्मचारी बहुत योग्य और विश्वासी हैं।

६—प्रबन्ध विभाग

कारखानेके प्रबन्धके लिये एक उत्तम और योग्य कर्मचारीमण्डल (Staff) है जो सब कामोंको उत्तम रीतिसे सम्पादित करता है। इस विभागमें मैनेजर, सहायक मैनेजर तथा अन्य क्लर्क आदिके कामपर सभी अच्छे वेतनपर योग्य आदमी बहाल किये जाते हैं। इसलिये हम यह दावेके साथ कह सकते हैं कि हमारे जैसा उत्तम प्रबन्ध दवा विक्रेताओंमें किसीका नहीं है।

७—एकाउण्ट्स विभाग

कारखानेके लेखा-जोखा, हिसाब-किताबके लिये योग्य व्यक्ति एकाउण्टेण्ट तथा खजाञ्चीके पदपर काम करते हैं, जिन्हें बहुत ऊंची तनख्वाहें मिलती हैं; एजेन्सीसे लेकर रोजमर्रेके हिसाब-किताब तकका लेखा-जोखा यह विभाग बड़े सुन्दर ढङ्गपर रखता है।

८—प्रचार विभाग

हमारा यह विभाग बहुत ही बड़ा है, जिसमें प्रचार मैनेजरके अलावे अनेक व्यक्ति काम करते हैं। इस विभागका एकमात्र उद्देश्य यही है कि हम अपने प्रचार, अपनी दवाओंकी उपयोगिताके बारेमें घर-घर सन्देश पहुंचा दें; ताकि दवा बेचनेमें हमारे एजेण्टोंको सुविधा हो। इस विभागके द्वारा अखबारोंका विज्ञापन, सिनेमा स्लाइड, दीवाल लिखवाना, पंचाङ्ग, कैलेण्डर, डायरी, सूची-पत्र, पोस्टर तथा अन्य प्रचार-साहित्य छपवानेके अलावा सुन्दर और आकर्षक साइनबोर्ड एजेण्टोंके लिये तैयार कराये जाते हैं। इस विभागके अधीन दो-तीन मोटरवान भी हैं जिनके जरिए गांव-गांवमें तथा मेले-जलसोंमें घूम-घूम कर प्रचार किया जाता है।

९—प्रेस व प्रकाशन विभाग

[illegible] सेवनविधि तथा प्रचार विभागके साहित्यकी और आयुर्वेदीय ग्रंथोंकी छपाईका काम इतना अधिक हमारे यहां होता है कि उसके लिये एक बड़ा प्रेस [illegible] प्रबन्ध हमें करना पड़ा। उस प्रेसके कर्मचारी (Staff) भी बड़े ही योग्य और अनुभवशील हैं।